ॐ

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग-4

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए
पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(अधिकार ८ व ९)

ग्रन्थकार परिचय :
बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'
एम.ए., साहित्यरत्न
कोटा (राज.)

प्रस्तावना :
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न
एम.ए., पीएच.डी.,
जयपुर (राज.)

सम्पादन :
पण्डित अभयकुमार जैन
जैनदर्शनाचार्य
छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ
भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :
आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट
ए-304, पूनप अपार्टमेन्ट
वरली मुम्बई - 400018

प्रथम संस्करण : 3100 प्रतियां
दिनांक 2 फरवरी 2003

श्री महावीर दि. जिनबिम्ब पंचकल्याणाक महोत्सव, तीर्थधाम मङ्गलायतन अलीगढ़ के अवसर पर

न्यौछावर राशि : 30 रूपये मात्र

प्राप्ति स्थान : **आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट**
ए-304, पूनम अपार्टमेन्टस,
वरली, मुम्बई 400 018
फोन 24921969

श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मंड़ी, अजमेर
फोन 2429397

श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-4 बापूनगर, जयपुर 302 015
फोन 2705581

पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला
4635/38, डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली-6
फोन 23627825

टाईप सेटिंग : *अजय गुप्ता*
वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर, गोरधनपुरा, कोटा
दूरभाषः 0744-2364158

मुद्रक : मौसम प्रिन्टर्स, दिल्ली

प्रकाशकीय

प्राणीमात्र के लिये कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैनधर्म की मंगलमय प्रभावना एवम् उसके प्रचार प्रसार की आवश्यकता को गहराई से अनुभव करते हुए अजमेर निवासी मुम्बई प्रवासी अध्यात्म रसिक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया परिवार द्वारा 28 मई 1995 को श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, देवलाली (महाराष्ट्र) के पावन प्रसंग पर अध्यात्म जगत के मूर्धन्य मनीषी बाबू जुगलकिशोर जी 'युगल' -कोटा के संरक्षकत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के कुशल निर्देशन में, "आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट" की स्थापना की घोषणा की गई। उपस्थित विशाल जनसमूह ने अतिउत्साह से इस पवित्र कार्य का हार्दिक अनुमोदन किया। ट्रस्ट का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है एवं इसका रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है।

ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य के प्रति समर्पित कार्यशील उदीयमान विद्वानों को, उनकी आर्थिक कठिनाईयों से मुक्त रखते हुए उन्हें हर संभव दृढ़ता प्रदान करना है जिससे उनकी सेवा एवम् तत्त्व समर्पण की भावना का अधिक से अधिक लाभ समाज को मिल सके।

इसके अतिरिक्त शिक्षण एवं शोधकार्य में निरन्तर रत प्रतिभाशाली विद्वानों का समुचित सम्मान करना भी ट्रस्ट का उद्देश्य है। इस श्रृंखला में अब तक 'जैलश्रमण-स्वरूप और समीक्षा' पर डॉ. योगेश जैन शास्त्री अलीगंज-एटा को, 'जैन कर्म सिद्धांते बन्धमुक्ति प्रक्रिया' पर डॉ.श्रीयांसकुमार सिंघई जयपुर को, 'महाकवि भूधरदास- एक समालोचनात्क अध्ययन' पर डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री जयपुर को, 'आ. योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कृर्त्तत्व 'पर डॉ. सुदीपकुमार शास्त्री दिल्ली को, 'जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन -समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. विनोद 'चिन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'श्री कानजीस्वामी व्यक्तित्व और कृर्त्तत्व' पर डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'संस्कृत साहित्य में दिक्पाल की अवधारणा' पर डॉ. राजेशकुमार जैन शास्त्री ग्यारसपुर-विदिशा को, 'हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुखदासजी का योगदान' पर डॉ. श्रीमती मुन्नीदेवी जैन (ध.प.डॉ. फूलचंदजी जैन वाराणसी) को पी.एच.डी. करने के उपलक्ष्य में सम्मानित किया गया है।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों आदि की जैन धार्मिक परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाले छात्रों को सम्मानित करने का भी प्रावधान है।

अपने द्वारा नियुक्त विद्वानों के सौजन्य से ट्रस्ट समाज से शिक्षण-शिविर, व्याख्यान मालाएँ, पूजन-विधान, वेदीप्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणकादि में आमन्त्रण-पत्र प्राप्त होने पर सहयोग प्रदान करने हेतु सदैव तत्पर है।

अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाते हुए अब ट्रस्ट ने अप्रकाशित सत्साहित्य एवम् पूज्य गुरुदेवश्री के अप्रकाशित प्रवचनों के प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाये हैं और इस कड़ी में सर्वप्रथम आचार्यकल्प पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का प्रकाशन कार्य हाथ में लिया है, इस चौथे भाग के प्रकाशन के साथ पूर्ण हो रहा है। जिसमें आठवें-नौवें अधिकार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन संकलित है।

अन्य ग्रन्थों पर हुए प्रवचनों का प्रकाशन कार्य ट्रस्ट की भावी योजनाओं में है।

पूज्य गुरुदेवश्री के ये प्रवचन सन् 1953 में दिये गये थे, सोनगढ़ से निकलने वाले गुजराती दैनिक 'श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में प्रकाशित हुए है। उस समय इनका लेखन व सम्पादन श्री अमृलभाई नरशीलाल भाई तथा श्री खीमचंद जेठालाल सेठ करते थे।

प्रस्तुत ग्रंथ में पूज्य गुरुदेवश्री के सन् 1953 के दो बाद के प्रवचनों को संकलित किया है, जिनमें पहले प्रवचन सम्पूर्णतः एवं द्वितीय प्रवचनों के वे अंश जो उन प्रवचनों में नहीं थे और जिनमें कुछ विशेष स्पष्टीकरण थे, संकलित किये गये हैं।

इन प्रवचनों में गुरुदेवश्री ने चार अनुयोग और मोक्षमार्ग संबंधी जो विशद स्पष्टीकरण किया है वह कई भ्रान्तधारणाओं के प्रक्षालन हेतु पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। इस उपकार के लिये पूज्य पण्डित टोडरमलजी के साथ-साथ पूज्य गुरुदेवश्री का भी अनंत उपकार है।

सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज ने इस प्रवचनों को जिस उत्साह से अपनाया है -अपने पठन-पाठन की वस्तु बनाया है, उससे हमारे उत्साह में वृद्धि हुई है। हमें कहते हुए गर्व है कि इस प्रवचन ग्रन्थ के भाग-1 वे 2 समाप्त होकर पुनः प्रकाशन की तैयारी में है।

इन प्रवचनों का सम्पादन कार्य पण्डित अभयकुमार जी शास्त्री छिन्दवाड़ा ने तथा हिन्दी अनुवाद युवाविद्वान पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ राज. ने किया है। ट्रस्ट

उनका अभारी है। पण्डित देवेन्द्रकुमारजी द्वारा अनुवादित व सम्पादित अन्य प्रवचन भी विभिन्न ट्रस्टों से प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें अष्टपाहुड़ प्रवचन, अनुभवप्रकाश प्रवचन, द्रव्यसंग्रह प्रवचन तथा नाटक समयसार प्रवचन आदि विशेष उल्लेखनीय है।

हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अध्यात्म मनीषी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने लिखी है तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक चिन्तक बाबू जुगलकिशोर जी 'युगल' कोटा, का समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है– ट्रस्ट उक्त विद्वानों का हार्दिक अभारी है। साथ ही भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा रखता है।

इस प्रवचन ग्रन्थ में आदरणीय बाबूजी युगल जी द्वारा लिखित पण्डित टोडरमल जी का परिचय एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ का समीक्षात्मक अध्ययन 'मोक्षमार्ग प्रकाशक एक अध्ययन' दिया जा रहा है; जो चैतन्य विहार पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ की कीमत कम करने हेतु साधर्मीजनों के द्वारा प्रदत आर्थिक सहयोग हेतु ट्रस्ट आभारी है। सूची अलग से प्रकाशित है।

इस ग्रन्थ के लेजर सैटिंग का काम श्री अजय गुप्ता "वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर" गोरधनपुरा, कोटा द्वारा किया गया है एवं सुन्दर प्रकाशन का श्रेय इण्डिया बाईण्डिग हाऊस दिल्ली को जाता है।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचनों के मर्म को समझकर अपना आत्मकल्याण करें। ऐसी भावना के साथ-साथ यदि कहीं भाव सम्बन्धी अशुद्धि आपको दृष्टिगोचर होवे तो कृपया हमें सूचित करें जिससे उसकी पुनरावृति से बचा जा सके।

बसंतभाई, एम.दोशी

मेनेजिंग ट्रस्टी

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट,

मुम्बई-18

अनुवादक के दो शब्द

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी एवं उनकी अनुपम कृति मोक्षमार्गप्रकाशक से समस्त तत्त्वप्रेमी स्वाध्यायी समाज सुपरिचित है।

नौ अधिकारों में उपलब्ध इस ग्रन्थ में पूज्य पण्डितजी साहब ने वह सब प्रतिपादित कर दिया है, जो एक आत्मसाधक को आत्मकल्याण के लिये जानना आवश्यक होता है।

यही कारण है कि जब संवत् 1982 में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव कानजीस्वामी को यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ तो उन्होंने कुशल जौहरी की भांति इस ग्रन्थ की महानता को परख लिया। इस ग्रन्थ के सातवें अधिकार पर तो वे ऐसे रीझे कि पूरे अधिकार को ही अपने हाथ से लिख दिया।

तत्पश्चात् उन्होंने इस ग्रन्थ पर कई बार प्रवचन किये एवं अपने अन्य प्रवचनों में भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिये इस ग्रन्थ एवं पण्डित टोडरमलजी का वे अत्यन्त आदर के साथ स्मरण करते रहे।

उनके द्वारा दिये गये प्रवचन सोनगढ़ से निकलनेवाले दैनिक **'सदगुरु प्रवचन प्रसाद'** में नियमित प्रकाशित होते थे, जिन्हें श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई एवं खीमचंद भाई जे. सेठ लिखकर सम्पादित करते थे। उक्त दोनों महानुभावों के असीम प्रयास से गुरुदेव श्री द्वारा प्रदत्त यह धरोहर हमें सहज उपलब्ध हो गई है। अत: पूज्य गुरुदेवश्री का तो हम पर अनन्त-अनन्त उपकार है ही, उनकी इस धरोहर को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने हेतु इन दोनों विद्वानों का भी समाज पर बहुत उपकार है।

सम्पूर्ण प्रवचन ग्रन्थ को चार भागों में प्रकाशन की योजना के साथ पहले भाग का विमोचन अगस्त-2000 के जयपुर शिविर में किया गया था और अब इस चौथे भाग का विमोचन जनवरी 2003 में अलीगढ़ में मंगलायतन तीर्थधाम के आयोजित श्री महावीर जिनबिम्ब पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर मेरे श्रद्धेय गुरवर्य पूज्य पण्डित कैलाशचंदजी (बुलन्दशहर वाले-अलीगढ़) के सानिध्य में किया जा रहा है -इसका मुझे गर्व है।

तीन वर्ष के अत्यल्प समय में इस कार्य को पूर्णता प्रदान करने में पण्डित कैलाशचंदजी का मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद ही कारण रहा है। आपके द्वारा जैनतत्त्वज्ञान के संस्कार एवं पूज्य गुरुदेवश्री की महिमा प्राप्त करके ही मैं इस कार्य को सम्पन्न करने का साहस कर सका हूँ –तदर्थ इस कार्य को पूर्णता के अवसर पर आपश्री का अत्यन्त आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ में मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें तथा नौवें अधिकार के दो बार के प्रवचनों को संकलित किया गया है और ग्रन्थ में हेडिंग मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर संस्करण) के अनुसार ही रखे गये हैं। आठवें अधिकार में चार अनुयोगों की कथन पद्धति आदि का भाववाही विवेचन तथा प्रवचनों में उसका विशद स्पष्टीकरण चिरकालीन मिथ्यात्व के वज्र लेप को क्षणभर में विसर्जित कर सम्यक् दिशा व दृष्टि प्रदान करता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यदि इस अधिकार में वर्णित दृष्टि से जिनवाणी का अवगाहन किया जाये तो सातवें अधिकार में वर्णित भूलों का जीवन में होना संभव न हो।

इसी तरह नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन का भाववाही विवेचन मिथ्यात्व के अभाव की रामबाण औषधि है। हमारा दुर्भाग्य है कि पूज्य पण्डितजी का देहपरिवर्तन हो जाने से यह अधिकार पूरा नहीं लिखा जा सका है। फिर भी जितना विषय इसमें प्रतिपादित किया गया है उसका अवगाहन कर सम्यक्त्व प्राप्त करें तो आगे का मार्ग तो सहज ही है।

इन अधिकारों का अमूल्य लेखन करके पूज्य पण्डित टोडरमल जी ने और इनका भाववाही स्पष्टीकरण करके पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने जो उपकार किया है उसको अभिव्यक्त करने के लिये हमारे पास कोई शब्द नहीं हैं। हम दोनों महापुरुषों के चरणो में अपनी विनयांजली समर्पित करते हैं।

आदरणीय बाबूजी श्री पूनमचन्द जी लुहाड़िया ने इनके प्रकाशन का दायित्व स्वीकार कर मेरे उत्साह में अभिवृद्धि की है, तदर्थ अभारी हूँ।

आदरणीय बाबू जुगलकिशोर जी 'युगल' कोटा से मुझे इस विषय में समय-समय पर मार्गदर्शन मिला, साथ ही आदरणीय डॉ. हुकमचन्द जी भारिल्ल ने कई उपयोगी सुझावों के साथ-साथ प्रस्तावना लिखने की कृपा की, और साथ ही इस कार्य को अनवरत गतिशील रखने हेतु प्रोत्साहित किया तदर्थ विद्वतद्वय का विशेष अभारी हूँ।

अनुवादोपरांत अतिशय श्रमसाध्य सम्पादन कार्य में मार्गदर्शन करने के लिये एवं उपयोगी सुझावों के लिये आदरणीय पण्डित अभयकुमार जी जैनदर्शनाचार्य छिन्दवाड़ा का अभारी हूँ और भविष्य में भी ऐसे ही मार्गदर्शन की आशा करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण करें -इस भावना के साथ यह अनुरोध भी करना चाहूंगा कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल ज्ञात होवे तो अवश्य सूचित करें, जिससे आगामी संस्करण में सुधार के साथ-साथ अन्य प्रकाशनों में उसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

देवेन्द्रकुमार जैन
गुरु कहान मार्केट
बिजौलियां जिला-भीलवाड़ा (राज.)
दूरभाष: 01489-236061, 236347

एक महान व्यक्तित्व

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

पण्डित प्रवर टोडरमल हिन्दी जैन जगत के एक अद्वितीय विद्वान हैं। हिन्दी जैन जगत में उनकी समता का दूसरा विद्वान नहीं हुआ। उनके पूर्व एवं पश्चात् हिन्दी-जैन-जगत में अनेक गद्य-पद्यमय मौलिक रचनाओं की सृष्टि हुई है किन्तु वे सब मिलकर भी पण्डित टोडरमल के असाधारण महत्व को प्रभावित नहीं कर सकीं। अपने समय के विद्वद्वर्ग में पण्डित टोडरमल सर्वोच्च एवं बेजोड़ हैं। उनकी प्रसिद्ध मौलिक रचना श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अजस्त्रधारा प्रवाहित हुई है। मोक्षमार्ग के गूढ़ एवं शुष्क विषय को इतनी सुन्दरता से उठाया है कि हृदय उसमें डूबता ही चलता है। कहीं भी अस्वाभाविकता से हृदय ऊबता नहीं है। सम्पूर्ण ही मोक्षमार्गप्रकाशक में एक ऐसा औपन्यासिक प्रभाव है कि आरम्भ करने के उपरान्त छोड़ने को जी नहीं चाहता। दर्शन, साहित्य, तर्क, न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, संस्कृत, गणित तथा धर्म सम्बन्धी उनका ज्ञान असामान्य था। मोक्षमार्गप्रकाशक यद्यपि मुक्ति-मार्ग का प्रतिपादक एक धर्म ग्रन्थ है किन्तु उसमें भाव एवं भाषा का अद्भुत समन्वय हुआ है। ढुंढारी जैसी साधारण भाषा में विषय की गहनता तथा भावों के भार को ऐसी कुशलता से सम्भाला गया है कि आश्चर्य उत्पन्न होता है। भाव एवं भाषा इस तरह सटकर चले हैं कि उनका वियोग कहीं देखने को नहीं मिलता। दोनों में कहीं शैथिल्य भी नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक की एक सबसे बड़ी विशेषता उसकी सुघड़ एवं सुव्यवस्थित शैली ही है। ऐसी रचना शैली हिन्दी जैन जगत में अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस शैली के कारण पं0 टोडरमल का व्यक्तित्व हिन्दी जैन जगत के शत-शत विद्वानों से भी ऊँचा हो गया है। उनकी प्रतिभा के असंख्य चमत्कार उनकी शैली में ही साकार हुए हैं। साधारण से साधारण बात की सिद्धि के लिए उन्होंने हृदयग्राही तर्क एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पद-पद पर मस्तिष्क उनकी बुद्धि की पैनाई तथा अनुभूति की गहराई का लोहा मानता है।

समग्र मोक्षमार्गप्रकाशक में धार्मिक अन्धविश्वास के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। वह मुक्ति का बुद्धि-सम्मत स्वरूप प्रस्तुत करता है। एक धर्म-निरपेक्ष बौद्धिक व्यक्ति और

विशेष रूप से आज के भौतिकवाद तथा विज्ञान प्रभावित व्यक्तियों के लिये मोक्षमार्ग-प्रकाशक धर्म का जो त्रिकालाबाधित स्वरूप प्रस्तुत करता है, उससे जगत की कोई विद्वत्ता इंकार नहीं कर सकती। वास्तव में मोक्षमार्गप्रकाशक धर्म की एक साकार परिभाषा एवं मुक्ति का मूर्तमान् पथ है। उसका तर्क-पाटव उसके लेखक के प्रति स्पर्धा उत्पन्न करता है। ऐसा लगता है कि उसका प्रणेता कोई बड़ा भारी अभिभाषक अथवा बैरिस्टर होना चाहिये। विशुद्ध अंत:करण से सहकृत होने के कारण इस तर्क-पाटव में लोकरंजन नहीं वरन लोक-मांगल्य की पुनीत प्रेरणायें विद्यमान हैं।

पण्डित टोडरमल का अध्ययन बड़ा विशाल था। जैन धर्म के चारों अनुयोगों के साथ उन्हे षट् दर्शन का भी अच्छा ज्ञान था। न्याय, व्याकरण, तर्क आदि के अतिरिक्त बड़े भारी गणितज्ञ थे। गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थ की टीका में उसके अंक-संदृष्टि प्रकरण में उनकी प्रखर गणितज्ञता के दर्शन होते हैं। अंक संदृष्टि स्थल में बड़े भारी गणितज्ञ से लगते हैं। गोम्मटसार का अंक संदृष्टि प्रसंग जैनाचार्यों के विशद् विज्ञान की घोषणा करता है। आज के गणित के सूत्रों की अपेक्षा जैनाचार्यों के वे सूत्र गणित के कठिन से कठिन प्रश्नों के हल के लिये सरल तथा अल्प समय सापेक्ष हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक की तरह गोम्मटसार की टीका भी पण्डित टोडरमल के छोटे से जीवन का एक बड़ा भारी कार्य है। उनके उपरान्त यह महान कार्य अधूरा ही रहता। उनके अनन्त उपकारों से उपकृत आज का यह युग पण्डित टोडरमल जैसे महापुरुष को पाकर धन्य हो गया है। आधुनिक युग के समस्त ज्ञान-दीप उसी के आलोक से आलोकित हैं।

इन विशेषताओं के साथ स्वर्ण में सौरभ के योग की तरह उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता है विद्वत्ता के साथ उनकी अन्तर्दृष्टि तथा उनका सरल, सात्विक, विशुद्ध जीवन। अन्तर्दृष्टि से अनुशासित, विशुद्ध पारिमार्जित जीवन में साहित्य का जो सर्जन होता है उसी में लोक मांगल्य तथा लोककल्याण का अनुसन्धान होता है। पण्डित बनारसीदास जैसे महाविद्वान को अपने प्रारम्भिक जीवन में यह अन्तर्दृष्टि उपलब्ध नहीं थी। अत: इसके अभाव में उन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की उसे कालान्तर में प्रबुद्ध अवस्था में उन्हें स्वयं अपने ही हाथों यमुना की तरंग में तर्पण करना पड़ा। अत: पण्डित टोडरमल के पवित्र मानस से समुद्भूत मोक्षमार्गप्रकाशक विश्व का उत्कृष्ट लोककल्याणकारी साहित्य तथा अज्ञान-तिमिर में खोए हुए संसारी के लिये प्रशस्त का प्रकाश स्तम्भ (सर्चलाइट) है। उसका प्रत्येक वाक्य मुक्ति-पथ

का माइल स्टोन है जिसका अनुशीलन निश्चय ही मुक्ति- धाम पहुँचा देता है। शारदा का यह पुत्र साम्प्रदायिक चक्र-व्यूह में गृहस्थाश्रम के प्रारम्भिक वर्षों में ही अपने भौतिक प्राण विसर्जित कर चला गया और उसके अभाव में वैधव्यग्रस्त यह जगत मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी अनमोल निधि के अखण्ड स्वरूप का दर्शन नहीं कर सका। अपनी परिपूर्णता में इस ग्रन्थ का क्या स्वरूप होता यह केवल कल्पना और पश्चाताप का ही विषय रह गया है। फिर भी मोक्षमार्गप्रकाशक जिस अपूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध है, वह हमारे मुक्ति-पथ-प्रदर्शन में पूर्ण और पर्याप्त है।

जीवन के विकास के लिए मुक्ति की प्राथमिक भूमिका में अत्यन्त प्रयोजनभूत निश्चय एवं व्यवहार और आगम तथा अध्यात्म के अनवधि विवाद का मोक्षमार्गप्रकाशक जो हृदयग्राही समाधान उपस्थित करता है वह स्तुत्य है। निश्चय और व्यवहार, निमित्त तथा उपादान का विवाद कोई इसी युग अर्थात् युग-विशेष की वस्तु हो अथवा वह कोई द्वेष अथवा आश्चर्य का विषय हो यह एक भ्रम है। आत्मा का अज्ञान अनादि है अत: यह पक्ष भी अनादि है। आत्मा जब अज्ञान दशा से करवट लेकर ज्ञान संप्राप्ति के लिये कटिवद्ध होता है तब उसके भीतर अज्ञान तथा ज्ञान का अन्तर्द्वन्द्व जन्म लेता है और इसी को निश्चय और व्यवहार तथा निमित्त- उपादान का विवाद कहते हैं। निश्चय और व्यवहार अथवा निमित्त और उपादान का विवाद वस्तुत: कोई दो व्यक्तियों अथवा दो दलों का विवाद नहीं है वरन् आत्मा की अन्त: भूमिका में वह तो सत्य और असत्य का संघर्ष है जिसमें विजय अन्त में सत्य की होती है। कोई अज्ञानी ज्ञानी का विरोध करता है यह कोई नवीन घटना नहीं है। हमारे अन्तस्तल में अज्ञान अनादि से ज्ञान का विरोध करता रहा है- यही हमारे जीवन की एकमात्र समस्या हो और इसी का समाधान हमारी जीवनचर्या हो। पण्डित टोडरमलजी के समय मे भी यह विवाद चरम सीमा पर था और अन्त में यही उनके भौतिक अन्त का भी निमित्त बना, किन्तु इसमें उनकी क्या हानि हुई ? भीतर तो ज्ञान अज्ञान पर विजय पा चुका था अत: भौतिक पराजय में भी विजयश्री उनके चरण चूम रही थी। उदय की प्रतिकूलता में भले ही उनका यश अधिक प्रसार न पा सका हो किन्तु निश्चित ही पण्डित टोडरमल का व्यक्तित्व सागर से भी गहरा तथा मेरू से भी महान है और मोक्षमार्गप्रकाशक के रूप में लोक कल्याण का जो अमर साधन उन्होंने युग को दिया है उस ऋण से युग कभी उऋण नहीं हो सकेगा।

सर्वतोमुखी प्रतिभा, निष्पक्ष आलोचन, स्पष्टवादिता, अद्‌भुत साहस, विशद ज्ञान-कोष, अपराजित अंतर्बल और आगम तुला-सम्मत निर्भय नि:शंक वाणी-सब पण्डित टोडरमल के असाधारण व्यक्तित्व में एक ही साथ समन्वित हैं। विचित्र बुद्धि एवं मान्यता वाले लोग-यथा धार्मिक अन्धविश्वास से जिनकी विचार शक्ति स्तब्ध हो गई है, जो पंथ के मोह से आक्रांत हैं, जो कर्मकाण्ड के मिथ्याभिनिवेश में धर्म का भार ढोते हैं, वैराग्य के वियोग में जिनका ज्ञान शुष्क हो गया है, या जो एकदम धर्म निरपेक्ष एवं नास्तिक हैं- सभी के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक एक सजीव समाधान है। सभी को वहाँ अपने अपने योग्य प्रचुर सामग्री मिलेगी।

संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों की दुरूहता और हमारी मतिमंदता के कारण वीतरागी सन्त और उनकी पावन वाणी के प्रति जो हमारी आस्था उठ चली थी, मोक्षमार्गप्रकाशक ने उस आस्था का पुन: संस्कार किया है। आज के नास्तिक बुद्धिवादी युवक को अपनी बुभुक्षित बुद्धि के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रचुर खाद्य उपलब्ध होगा। मोक्षमार्गप्रकाशक के तर्क और उनका समाधान देखकर वह उसके प्रणेता के चरणों की धूलि में अपना माथा धूसरित करके गर्व का अनुभव करेगा। यदि हिन्दी भाषा में ऐसा सरल एवं सतर्क ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता तो नयचक्र से निष्पन्न आगम की गुत्थियों को हम सुलझा पाते यह कहना कठिन है। समस्त द्वादशांग के सार और हिन्दी साहित्य की गौरव निधि मोक्षमार्गप्रकाशक ने न केवल हिन्दी जैन साहित्य की काया पुष्ट एवं अभिवृद्ध की है वरन् उसका मस्तक भी ऊँचा उठाया है। अध्यात्मरसप्लावित पं0 टोडरमल के निश्छल मानस का योग पाकर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी हिन्दी पुस्तक आज मंगलमय मुक्ति देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई है। धर्म के निर्मल नीर से प्रक्षालित धवल-धवल मानस से प्रेरित पण्डित टोडरमल की लेखनी से जो कुछ प्रसूत हुआ है उसका प्रत्येक वर्ण मुक्ति का मंगलमय सूत्र है। विश्व-साहित्य की गरिमा मोक्षमार्गप्रकाशक के गर्भ में कितने अनमोल रत्न सिमटे पड़े हैं, यह गणनातीत है। निश्चित ही उसका प्रणेता लोक-मांगल्य का करुण अधिष्ठाता एक महापुरुष है और उसका मस्तक 'आचार्य कल्प' संज्ञा का गौरवमय मुकुट धारण करने योग्य है।

'युगल'

मोक्षमार्गप्रकाशक : एक अध्ययन

आचार्य-कल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी का मोक्षमार्गप्रकाशक हिन्दी जैन-गद्य-साहित्याकाश का दैदीप्यमानचन्द्र है। भाव, भाषा और शैली की अपनी निराली विशेषताओं से समन्वित यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है। मोक्षमार्ग के प्रकाशन जैसे जगत के सबसे भारी उत्तरदायित्व को लेकर इसका प्रणयन हुआ और इस उद्देश्य का इसमें जो सर्वांग निर्वाह हुआ है वह वास्तव में स्तुत्य है। अनवधि अज्ञान-तमावृत्त अंत:चक्षुओं के घन-आवरण को ध्वस्त कर ध्रुव ज्ञानालोक का अनायास उद्घाटन कर देने वाला मोक्षमार्गप्रकाशक निश्चय ही सत्-साहित्य का श्रृंगार है जो विश्व के एक सर्व महान् प्रयोजन और जगत की एक कठिनतम समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत करता है। जागतिक दु:ख और उनके कारणों की बुद्धिगम्य सम्यक्विवेचना देकर शाश्वत सुख का मार्ग खोल देने वाली यह अमर साहित्यिक कृति सभी दृष्टि से अतोल और अमोल है। मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रणेता नि:संदेह लोक-मांगल्य का पवित्र अधिष्ठाता है जो अज्ञान का रूप धर कर सम्पूर्ण विश्व में छाये हुए अमंगल का विघटन कर लोक में निराकुल शांति की पुनीत प्रतिष्ठा चाहता है और लोक में इससे महान् किसी इतर कार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अर्थ में पण्डित टोडरमल एक महान् लोकदृष्टा और एक महान् लोक-स्रष्टा भी है। भ्रांत लोकजीवन को शाश्वत सत्य की पुनीत दिशा देने का गुरुतर भार अपने शीश पर लेकर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी लघुसी कृति के माध्यम से इसे जिस कौशल से निभाया गया है वह आश्चर्योत्पादक है।

मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रणेता एक धार्मिक विद्वान ही हो ऐसी बात नहीं है, वरन् वह एक सुलझा हुआ सुधारक भी है। व्यक्ति तथा समाज की पतन-प्रणालियों, रुढ़ियों एवं मूढ़ताओं का वह कट्टर शत्रु है जिसके संकेत मोक्षमार्गप्रकाशक मे यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। धार्मिक अंधविश्वास उसे पसंद ही नही है। तत्व की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो जाता है वह उसे कभी मान्य नहीं है और वह किसी भी सत्य-गवेषी को मान्य नहीं हो सकता। सागर के तट से वह भीख नहीं मांगता वरन् उसकी गहराइयों में जाकर मोती निकालता है। और पण्डित टोडरमलजी की यही विशेषतायें अंत में उनके बलिदान का कारण भी बनी, जो इस बात का प्रतीक है कि तत्कालीन भारतीय समाज सांप्रदायिकता का हलाहल पीकर उन्मत्त हो चुका था और निश्चय

ही पण्डित टोडरमलजी जैसे महापुरुष का बलिदान समुज्ज्वल भारतीय संस्कृति के मस्तक पर एक ऐसा कलंक है जिसका विनाश सांप्रदायिकता के विनाश के साथ ही संभव है, अन्यथा नहीं।

मोक्षमार्गप्रकाशक की भाषा :- पण्डित टोडरमलजी प्राकृत और संस्कृत भाषा के भी बहुत बड़े विद्वान् थे और वे संस्कृत में काव्य रचना भी करते थे। इसके साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, छंद, अलंकार आदि का भी उनको अच्छा ज्ञान था। फिर भी मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना सरल हिन्दी (ढूँढारी) में करके उन्होने लोक की एक बड़ी भारी आवश्यकता का सम्मान किया है। यद्यपि ढूँढारी एक सीधी-सादी भाषा है किन्तु पं0 टोडरमलजी के सबल मस्तिष्क का सहचार पाकर वह चमत्कृत हो उठी है। और उसमें सतर्क अध्यात्म के गंभीर भावों के भार को संभालने की अनूठी क्षमता उत्पन्न हो गई है। भाषा सुबोध, सुकोमल तथा सुमधुर है और संसार के प्रचंड ताप से तप्त प्राणी को मुक्ति के शीतल-सलिल का सिंचन-सी देती प्रतीत होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक की वाक्य रचना भी ऐसी नपी-तुली है कि उसमें शब्दों की हानि-वृद्धि अथवा परिवर्तन संभव ही नहीं लगता। संस्कृत और प्राकृत के कठिन भाषा-विधानों में प्रतिबद्ध तथा आधुनिक मानव के लिये अगम्य-सा अध्यात्म लोकभाषा में उन्मुक्त होकर मोक्षमार्गप्रकाशक के बहाने सत्य के दर्शन हेतु मानों मानव मात्र का आह्वान कर रहा है।

शैली:- मोक्षमार्गप्रकाशक की विषय प्रतिपादन शैली अनूठी है और लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसमें उभर आया है। ढूंढारी जैसी सीधी-सादी भाषा जिसमें किसी गंभीर विषय के प्रतिपादन के लिये पूरा शब्द कोष भी उपलब्ध नहीं हो सकता और उसके साथ अध्यात्म जैसा सूक्ष्म और गंभीर विषय, भाषा और विषय के इस विरोध का पं0 टोडरमलजी की शैली में इस प्रकार समन्वय हुआ है कि समूचे ग्रन्थ में कहीं भी भाषा विषय से पीछे नहीं रही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक की वाक्य रचना तथा विषय प्रतिपादन शैली बड़े ही संक्षिप्त हैं और पण्डित टोडरमलजी की यह एक बडी भारी विशेषता है कि विषय प्रतिपादन और वाक्य रचना के संकोच में भी कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है और कोई विषय छूटा भी नही है। व्यर्थ का विस्तार तो उसमें है ही नहीं। लेखक विषय का यथोचित् विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ किसी विषय का विस्तार भी हुआ है वहाँ उत्तरोत्तर उसमें

नवीनता भी आती गई है और वह विस्तार विषय के सांगोपांग विवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होने छुआ है उसमें क्यों का प्रश्न-वाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्‌भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज ही हृदयंगम हो जाता है और कोई समाधान ही शेष नहीं रहता।

अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय का विवेचन होने पर भी समग्र मोक्षमार्गप्रकाशक की शैली में एक औपन्यासिक छटा है। पढ़ते-पढ़ते जी अघाता नहीं और आगे बढ़ने की उत्सुकता शांत होती ही नहीं है और मोक्षमार्गप्रकाशक के पाठक की उत्सुकता तो इस ग्रन्थ की अपूर्णता के कारण सदा के लिए अमर बन गई है।

मोक्षमार्गप्रकाशक की शैली की एक अन्य बड़ी विशेषता उसका तर्क-पाटव तथा उसका तर्क-बाहुल्य है। उसकी तर्क-वाटिका की बहुरंगी छटा दर्शनीय है। तर्क-स्थलों में पं0 टोडरमलजी की प्रतिभा किसी बड़े भारी तर्क शास्त्री को चुनौती सी देने लगती है। उनका मस्तिष्क तर्क ढूंढने में जितना निपुण है उसके हृदयग्राही समाधान में भी वह उतना ही कुशल है। साथ ही तर्क का आगमन कहीं भी लोक-रंजन अथवा अपनी विद्वत्ता या प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करके किसी पर अपना बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये बल पूर्वक नहीं हुआ है, किन्तु विषय के प्रतिपादन क्रम में सहज ही उसका उदय हुआ है और मोक्षमार्ग के गूढ़ विषय को सुगम बनाकर आत्मसात् कर देने की लोक हितकारी भावना उसमें सर्वत्र ही आविर्भूत रही है। उनके तर्को में आग्रह नहीं है। सिद्धान्त के उत्तुंग मेरू के समक्ष उनके तर्क सजल-मेघ के समान बरस पडते हैं। पं0 टोडरमलजी तर्क शास्त्र के विशेषज्ञ विद्वान नहीं किन्तु, उनके तर्क मानव मन की सहज संभावनाएं हैं। अपने तर्क की सिद्धि सर्वत्र ही पण्डित टोडरमलजी उदाहरणों के द्वारा करते हैं। उनकी प्रतिभा में से उदहारण इस प्रकार फूट निकलते हैं जैसे किसी सुमन कलिका के उद्‌घाटन पर पराग एवं सौरभ फूट निकलते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में सर्वत्र ही विषय को हृदयंगम करने में उदाहरणों का योग बड़ा ही अनमोल रहा है। लोक-कल्याण प्रेरित उनके तर्क और उदाहरणों की नैसर्गिकता पर मंत्र-मुग्ध सा-मन इनके प्रति बरबस ही श्रद्धावनत होकर उनके प्रतिपादित तत्व आत्मसात् करने के लिए आतुर हो उठता है।

मोक्षमार्ग के प्रकाशन तुल्य एक गुरुत्तर उत्तरदायित्व लेकर चलने वाली किसी मौलिक सैद्धान्तिक कृति की एक यह भी विशेषता होनी चाहिए कि उसका प्रत्येक तथ्य युक्ति तथा आगम-सम्मत हो अन्यथा उसके प्रणयन से लोक के भ्रांत होने जैसे भारी अनर्थों की संभावनाएं रहती हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने अपनी शैली में सर्वत्र ही इस नीति का अनुगमन किया है। और जहाँ अपने कथनों की सिद्धि में उन्होने युक्ति का अवलंबन लिया है वहाँ साथ ही आर्ष आचार्यों के मूल उद्धरणों को आगम-प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करके उस कथन की पुष्टि की है जिससे संदेह की सम्पूर्ण संभावना समूल निरस्त हो गई है।

भाव :- ग्रन्थ के नाम से ही जैसा स्पष्ट है मोक्षमार्गप्रकाशक आद्योपांत मोक्षमार्ग का ही विज्ञापन करता है। मुक्ति ही उसका विषय है अत: इस ग्रन्थ में पं0 टोडरमलजी की समस्त भावाभिव्यक्ति इसी विषय का अनुशीलन करती रही है। मुक्ति का प्रतिपक्षी संसार तथा उसके अंतरंग और बहिरंग कारण तथा संसार का प्रतिपक्षी मोक्ष एवं उसके अन्तरंग और बहिरंग साधनों की इतनी सुन्दर सांगोपांग विवेचना हुई है कि हृदय मुग्ध हो जाता है। पण्डित टोडरमलजी ने जिस विषय को उठाया है उसकी खाक छान डाली है। संसार और मुक्ति से सम्बन्धित कोई बात उन्होने उठा नहीं रक्खी है। मोक्षमार्गप्रकाशक के शंका-समाधान स्थलों को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कोई बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। किसी विषय के सम्बन्ध में मन में जितनी शंकाओं का उत्थान सम्भव हो सकता है, एक एक करके अपने सुन्दर क्रम में उन सभी का अवतरण मोक्षमार्गप्रकाशक में हुआ है। और फिर उनका समाधान तो यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि क्या इस युग में किसी ऐसे मेधावी पुरुष का अस्तित्व भी संभव हो सकता है? प्रज्ञा के कोष से इस पुरुष ने जिस विषय को छुआ है उसका वे कोना कोना झांक आये हैं। इन स्थलों में किसी जटिल मस्तिष्क का स्नायु मण्डल भी शिथिल हो जाता है और वह अपनी संचित शेमुषी को नम्रीभूत होकर लेखक के चरणों में विकीर्ण कर देता है।

समग्र ही मोक्षमार्गप्रकाशक में पं0 टोडरमलजी को सत्य का आग्रह रहा है। सत्य की स्वीकृति में जहाँ वे सुमन से कोमल हैं, असत्य के परिहार में वहाँ वे शैल से कठोर हैं। उनके सम्पूर्ण तत्वज्ञान का आधार वीतराग विज्ञान है क्योंकि मुक्ति सौख्य का एक मात्र वही साधन हो सकता है। अत: वीतरागता का विरोध उन्हें कभी सह्य नहीं रहा है। उनके सभी

कथन तर्क, आगम और अनुभव से प्रमाणित हैं अत: वहाँ असत्य के परिग्रह अथवा मनोकल्पना के लिये कोई अवकाश नहीं है। सत्य ही मानों उनका जीवन-दर्शन है अत: उसके प्रतिपादन में असत्य का परिहार स्वयमेव ही हो गया है। असत्य के समर्थक को सत्य कड़वा लगता ही है अत: सत्य से उसे स्वाभाविक ही द्वेष हो जाता है। किन्तु पण्डित टोडरमलजी का सत्याग्रही स्वाभिमान असत्य के समक्ष कभी झुकता ही नहीं है। उनमें न लोकैषणा है और न लोकरंजन, क्योंकि इनमें सत्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता, जीवन में इनकी अपेक्षा सदा ही असत्य की ओर अग्रसर करती है।

पण्डितं0 टोडरमलजी एक बड़े भारी अध्यात्म-दृष्टा हैं। अध्यात्म उनके जीवन में साकार हो चला था। अत: अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के विवेचन की उनमें महती क्षमता परिलक्षित होती है। मोक्षमार्गप्रकाशक में उनका अध्यात्म उनकी स्पर्द्धास्पद विद्वत्ता का सहचार पाकर चमत्कृत हो उठा है।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है किन्तु उसमें यत्र तत्र तत्कालीन समाज की अवस्था के भी अनेक संकेत बिखरे पड़े हैं। देश में सांप्रदायिकता निरंकुश हो चुकी थी। जिसका संकेत दूसरे अधिकार में क्रोध के वर्णन में इस प्रकार उपलब्ध होता है-वहाँ क्रोध का उदय होते पदार्थनिविषै अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै, कोऊ मन्दिरादि अचेतन पदार्थ बुरा लागै ताकूं फोरना तोरना इत्यादि करि वाका बुरा चाहै''। उस समय जैन समाज भट्टारकीय प्रवृत्तियों से प्रभावित हो चुका था, जैन साहित्य तथा जैनाचार में उनके कारण विकृति तथा शैथिल्य का समावेश हो चुका था जिसका वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है - (प्रथम अध्याय) "इस निकृष्ट काल विषै उत्कृष्ट जैनमत का घटना तो भया.....ऐसे तीव्र कषायी जैनाभास इहां इस निकृष्ट काल विषै हो हैं।'' (8 वां अधिकार) इस काल विषै कोई जैनमत विषै भी कषायी भये हैं सों तिनने कारण पाय अन्यथा कथन लिख्या है।''देश, समाज तथा धर्म विरोधी प्रवृत्तियों का पण्डित टोडरमलजी ने अपने जीवन में सदा ही विरोध किया है और इस कार्य में उन्होने कभी अपने पराये का भेद नहीं रखा है। इस प्रकार असत्य के समक्ष सदा ही सत्य का उद्घाटन करके वे लोक का मार्गदर्शन करते रहे हैं।

विषय:- मोक्षमार्गप्रकाशक का विषय महा मंगलमय है। यद्यपि वह अपूर्ण ही रह गया है क्योंकि उसका प्रणेता अल्पवय में ही चिर-प्रयाण कर गया। अल्पवय और महामेधा की संगति साधारण जनों को तो आश्चर्योत्पादक सी लगती है। यह जगत का दुर्भाग्य है कि मोक्षमार्गप्रकाशक अपने पूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थकर्त्ता 'इसका आगे वर्णन करेंगे के द्वारा इसके महाविस्तार की यत्र-तत्र सूचना देते ही रहे हैं। यदि वह पूर्ण हो सकता तो मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उसमें अवतरित होते और तब उसका क्या स्वरुप होता-यह कल्पना का विषय नहीं है। फिर भी यह ग्रन्थ अपने अपूर्ण रूप में भी इतना परिपूर्ण है कि जड़ता से ग्रसित आज के जगत के मार्ग दर्शन के लिये उसके पास प्रचुर सामग्री है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिन्दी जैन साहित्य के कोष में इसकी समता की अन्य कोई कृति नहीं है।

महामना पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में तो मोक्षमार्गप्रकाशक के न मालूम कितने अधिकार प्रच्छन्न थे किन्तु उसके नव अधिकार भी पूरे नहीं हो सके हैं। नवम् अधिकार भी अधूरा रह गया है। वास्तव में उसके आठ अधिकार तो ग्रंथ की उत्थानिका मात्र हैं। मोक्षमार्ग के प्रथम चरण सम्यग्दर्शन का वर्णन तो नौंवे अधिकार से ही प्रारम्भ हुआ है, और वह भी अधिकांश अपूर्ण ही रह गया है। आगे सम्यग्दर्शन के सांगोपांग वर्णन के लिये ही न मालूम कितने अधिकार अपेक्षित होते ?

मोक्षमार्गप्रकाशक के इस अपूर्ण गर्भ में भी न मालूम कितने रहस्य भरे पड़े हैं। उसके विषय के विकास-क्रम में धर्म और उसकी जीवन के उत्कर्ष में अनिवार्यता, धर्म की उपलब्धि के साधन, देव, गुरु और सत् साहित्य तथा परीक्षा पूर्वक उनका स्वीकार, धर्मविरोधी तत्व, आस्तिकता-नास्तिकता, पारंपरिक कुलाचार में धर्म की संभावना, पुण्य-पाप और उनके फल की सिद्धि, मुक्ति तथा उसका फल, स्थायी तथा स्वाधीन सुख आदि अनेक महत्वपूर्ण विषय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहज ही उसमें गर्भित हो गये हैं।

इस ग्रंथ के नव-अधिकारों का विषयानुरूप बड़ा ही स्वाभाविक विकास हुआ है। प्रथम अधिकार में उत्तम फल अर्थात् उत्तम सुख के लिये परमइष्ट अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। अनेक स्थलों पर पण्डित टोडरमलजी के अभिधा-परक वाक्यों से भी बड़े महत्त्वपूर्ण व्यंगार्थ फलित होते हैं। जैसे ग्रन्थ के प्रारम्भ

में ही अरहंतो के स्वरूप-वर्णन की प्रथम पंक्ति है 'तहां प्रथम अरहंतनि का स्वरूप विचारिये हैं' तथा सिद्धों के स्वरूप-वर्णन की प्रथम पंक्ति है 'अब सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये हैं' दोनों वाक्यों में अभिधा का प्रयोग है किन्तु अरहंतों के साथ 'विचारिये' और सिद्धों के साथ 'ध्याइये' शब्द बड़े महत्त्व के हैं। वास्तव में ध्यान का ध्येय सिद्धों का स्वरूप ही है क्योंकि आत्म-विकास की चरम अभिव्यक्ति उन्हीं में होती है। अरहन्तों का स्वरूप अपूर्ण होने से ध्येय नहीं है। अत: 'विचारिये' तथा 'ध्याइये' शब्दों का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है। इन परमेष्टियों के नमस्कार तथा इनकी उपासना का उद्देश्य निराकुल शान्ति तथा उसके साधन वीतरागता की उपलब्धि मात्र है। अन्य किसी भी लौकिक-प्रयोजन प्रेरित इनकी उपासना आत्महितकारिणी नहीं होती उसका विस्तृत वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने प्रथम अधिकार में किया है।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी को मोक्षमार्ग का विवेचन करना ही इष्ट रहता है किन्तु मोक्षप्रतिपक्षी बंध दशा और उसके कारणों के परिज्ञान के बिना मुक्ति संभव ही नहीं है; अत: सर्व प्रथम संसार दशा के वर्णन से उन्होंने अपने ग्रंथ का प्रारम्भ किया है। इसीलिये इस ग्रन्थ के दूसरे, तीसरे तथा चौथे अधिकार संसार तथा उसका निमित्त कर्म, तथा कर्मोदय से होने वाले आत्मा के विविध काषायिक परिणाम, सांसारिक प्राणियों के चतुर्गति सम्बन्धी दु:ख और उनके मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के मार्मिक वर्णन से अलंकृत हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार 'विविध मत समीक्षा' में जहाँ पण्डित टोडरमल के प्रकांड पांडित्य तथा उनके विशाल ज्ञान कोष का परिचय मिलता है वहाँ उससे यह भी एकदम स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिकार का उदय ही उस सत्यान्वेषी पुरुष की लोकरंजनकारी वृति के अभाव की सत् प्रेरणा से हुआ है। उसमें न अपने की ममता है और न पर की गर्हा।

छठा अधिकार सत्य-तत्त्व विरोधी असत्यायतनों के स्वरूप विस्तार में प्रतिबद्ध है। उसमें ये ही निर्देश किया गया है कि मुक्ति-विरोधी तत्त्वों से कभी सम्पर्क नहीं साधना चाहियें। अन्यथा वह पुरुष मुक्ति-पथ को खो देता है।

समूचे मोक्षमार्गप्रकाशक में उसका सातवाँ तथा नवाँ अधिकार सर्वाधिक महत्व के हैं। मुक्त तथा मुक्ति-पथिक पुरुष तथा इनकी तात्त्विक वाणी का दुर्लभ योग पाकर भी 'जैन' संज्ञक प्राणी किस प्रकार अज्ञान की उपासना करता रहता है और तत्त्व के सम्मुख होकर भी किस प्रकार तत्त्व का विरोध करता रहता है इसका मनोमुग्धकारी सांगोपांग विशद विवेचन सातवें अधिकार की विषय सामग्री है।

समग्र जैन वाङ्मय विषय भेद की दृष्टि से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के चार वर्गो में विभक्त है। अत: आठवें अधिकार में 'प्रत्येक अनुयोग का विषय उसकी वर्णन शैली, तथा प्रयोजन और शैली के कारण दिखाई देने वाला उनका पारस्परिक विरोध तथा स्याद्वाद पद्धति में इस विरोध का अद्भुत समन्वय और मुक्ति-पथ के पथिक के लिये जीवन में सत्साहित्य का महत्व' आदि विषय बड़ी रोचकता से संग्रहीत किये गये हैं।

नवां अधिकार इस ग्रन्थ का अन्तिम स्वरूप है और वह भी अपूर्ण है। मुक्ति के बाधक तत्त्वों का सविस्तार दिग्दर्शन कर चुकने के उपरांत मोक्षमार्ग के अविभाज्य अवयव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विस्तृत विवेचना पण्डित टोडरमलजी नवें अधिकार से ही करना चाहते थे। किन्तु उसमें मात्र सम्यग्दर्शन का ही थोड़ा सा वर्णन हो पाया है। सम्यग्दर्शन का अवशिष्ट तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो बिलकुल अछूते ही रह गये हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक का तत्त्वज्ञान:- मोक्षमार्गप्रकाशक में जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित प्राय: सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में समाविष्ट हो गये हैं। यद्यपि उसका मूल विषय तो मोक्षमार्ग का प्रकाशन ही है किन्तु प्रकारान्तर से उसमें जैन कर्म सिद्धान्त, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकांत, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव तथा पुरुषार्थ पर बड़ी तात्त्विक विवेचनायें उपलब्ध होती हैं।

कर्म सिद्धान्त:- कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का एक मौलिक अनुसंधान है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। आत्मा के राग-द्वेष रूप विकारी भावों को निमित्त पाकर पौद्गलिक (जड़) कार्माणवर्गणा में चुम्बक और लोह की भाँति जो स्वाभाविक स्पंदन तथा उनका आत्म-प्रदेशों के साथ जो बंधन होता है उसका परिचय विश्व को केवल जैन दर्शन ही देता है। आत्मा के साथ रहने की अवधि में भी जड़ कर्मो में आत्मा के परिणामों के निमित्त से विविध रासायनिक (अनुभाग सम्बन्धी) परिवर्तन होते हैं, उनका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन भी जैनागम में

उपलब्ध होता है। जैन दर्शन का यह अनुसंधान विश्व को उसकी एक अनूठी देन है। आत्मा के रागद्वेष भावों से कर्म बंध और कर्म के उदय से आत्मा के रागद्वेषभाव इस प्रकार की संगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामों को ही निष्पन्न करते हैं, परस्पर एक दूसरे के परिणामों को नहीं। अत: दोनों में विद्यमान इस अकर्तृत्व का रहस्योद्घाटन भी जैन दर्शन करता है। और इस प्रकार वह आत्मा की इस भ्रांति को कि 'कर्म उसके संसार, विकार, अथवा सुख-दु:ख को उत्पन्न करता है अथवा इनकी उत्पत्ति में योगदान करता है' निर्मूल करता है। पण्डित टोडरमलजी ने आत्मा और कर्म सम्बन्धी इस रहस्य का मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक स्थलों पर उद्घाटन किया है:-

(दूसरा अधिकार) " जीव भावको निमित्त करि पुद्गल परमाणुनिविषै ज्ञानावरणदि रूप शक्ति हो है। इहां विचार करि अपने उद्यमतें कार्य करे तो ज्ञान चाहिए अर तैसा निमित्त बने स्वयमेव तैसे परिणमन होये तो तहां ज्ञान का किछू प्रयोजन नाहीं।

"सो ऐसे होने विषै कोऊ कर्म-वर्गणा रूप पुद्गल पिंडके ज्ञान तो नाहीं है जो मैं ऐसे परिणमों अर और भी कोई परिणमावन हारा है नाहीं, ऐसा ही निमित नैमित्तिक भाव बनि रह्या है ताकरि वैसे ही परिणमन पाइये है।"

"बहुरि जब कर्म प्रकृतिनि का उदयकाल आवै तब स्वयमेव तिनि प्रकृतिनि के अनुभाग के अनुसारि कार्य बनै। कर्म तिनिका कार्यनिकौं निपजावता नाहीं। याका उदयकाल आय यह कार्य बनै है इतना ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जानना।"

निमित्त-उपादान:- किसी एक पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहाँ एक दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता, किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है, वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त सम्बन्ध कहते हैं। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान, उस कार्य को उपादेय अथवा नैमित्तिक, तथा संयोगी इतर पदार्थ को निमित्त कहते हैं। निमित्त-उपादान के सम्बन्ध में जगत की भ्रांति यह है कि व्यक्ति अपनी भूल से उत्पन्न अपने दोषों का कारण उस पदार्थ को घोषित कर बैठता है जो उस समय कार्य के साथ मात्र विद्यमान रहता है। और इस प्रकार स्वयं निर्दोष हो जाना चाहता है। किन्तु जैसे एक चोर अपने चौर्य कर्म का आरोप चांदनी को देकर दण्ड-मुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार अपने उपादान

से उत्पन्न दोष का भार निमित्त पर रखने की चेष्टा आत्मा में उत्तरोत्तर विकार तथा दु:ख का संचय करती है, क्योंकि इस प्रवृत्ति में स्वदोष दर्शन तथा आत्म निरीक्षण के लिए अवकाश ही नहीं है।

जैन दर्शन उपादान-निमित्त सम्बन्धी इस भ्रांति का बड़ा सुन्दर समाधान प्रस्तुत करता है। जैन दर्शन का यह मत है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्ति का समुदाय है और वे शक्तियां पदार्थ में सदा ही निरपेक्ष भाव से परिणमित होती रहती हैं। अपने परिणमन में उन्हें किसी इतर पदार्थ से कुछ भी आदान प्रदान नहीं करना पड़ता। यदि आदान-प्रदान को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया जाये तो चेतन जड़ को अपनी चेतना तथा जड़ चेतन को अपनी जड़ता भी प्रदान कर सकेगा, किन्तु यह असंभवता कभी साकार होती ही नहीं है। अत: यह निर्विवाद है कि लोक में आदान प्रदान की बात एकदम औपचारिक है, यथार्थ नहीं। वस्तु-स्वभाव-गत इस नियम के अनुसार निमित्त और उपादान दोनों की अपनी-अपनी स्वतंत्र मर्यादायें हैं। यद्यपि दोनों की स्वतंत्र स्थिति है तो भी इस तथ्य का उल्लंघन कभी नहीं होता कि जब उपादान अपनी शक्ति से परिणमनशील होकर किसी कार्य को निष्पन्न करता है तो वहाँ इतर पदार्थ निमित्त के रूप में विद्यमान होता ही है। ***निमित्त-उपादान की स्वतंत्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचार ये दोनों ऐसे तथ्य हैं जो निमित्त उपादान सम्बन्धी अगणित प्रश्नों के समाधान के लिये पर्याप्त हैं।*** मोक्षमार्गप्रकाशक में यथावसर अनेक स्थानों पर निमित्त-उपादान सम्बन्धी इसी तथ्य का बल पूर्वक समर्थन किया है, जैसे (दूसरा अधिकार) जो कर्म आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव को घातै, बाह्य सामग्री मिलावै तब कर्म के चेतनपनौं भी चाहिये अर बलवानपनों भी चाहिये, सो तो है नाहीं। सहज ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मनि का उदय काल होय तिस काल विषै आप ही आत्मा स्वभाव रूप न परिणमे, विभाव रूप परिणमे।"

"कोऊ कहैगा निमित्तमात्र तो है? ताका उत्तर-पर द्रव्य जोरावरी तो कोई बिगारता नाहीं अपने भाव बिगरै तब वह भी बाह्य निमित्त है।..... ऐसे पर द्रव्य का दोष देखना मिथ्या भाव है।"**(सातवां अधिकार)**

"जातै पर द्रव्य को ग्रहण-त्याग आत्मा के होय तौ आत्मा पर द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता होय सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य के आधीन है नाहीं।"**(सातवां अधिकार)**

अपने निमित्त-उपादान के प्रकारण में महापंडित बनारसीदासजी ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए अपने काव्य के मात्र दो चरणों में निमित्त-उपादान सम्बन्धी सम्पूर्ण विवाद को समाधिस्थ कर दिया है। वे लिखते हैं :

"उपादान निज गुण जहां तहां निमित्त पर होय,
भेद-ज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय।"

निश्चय व्यवहार:- मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहाररूप अनेकान्त का विशद विवेचन किया है। यह वर्णन पं0 टोडरमलजी की प्रज्ञा की पैनाई का ज्वलंत प्रमाण है। मोक्षमार्ग की बाधक सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं बच सकी है। निश्चय और व्यवहार की एकान्त मान्यताएं मोक्षमार्ग में बाधक बनकर कैसे खड़ी रहती हैं इसका ऐसा विस्तृत सांगोपांग तथा सरस वर्णन हिन्दी जैन साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

अनेकान्त जैन दर्शन का प्राण है। अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म, पदार्थ स्वयं अनेकान्त स्वरूप अर्थात् अनन्त धर्म या अनन्त स्वभाव स्वरूप होता है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि अनन्त स्वभाव होते हैं। ये स्वभाव वस्तु की रक्षा करते हैं। यथा अस्ति धर्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का नियमन करके पदार्थ को अपने स्वरूप से प्रतिष्ठित रखता है अर्थात् उसे पर रूप नहीं होने देता। इसी प्रकार नास्ति धर्म उसमें अन्य पदार्थ का प्रवेश निषिद्ध कर अन्य पदार्थ को उस रूप नहीं होने देता। इस प्रकार एक ही पदार्थ अस्ति स्वरूप भी है और नास्ति स्वरूप भी है ऐसा अनेकान्त है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अविनष्ट रहकर प्रति समय अपनी नवीन अवस्था का उत्पाद और पुरानी अवस्था का विनाश किया करता है अत: वह नित्यानित्यात्मक है और एक ही वस्तु अभेद और अखण्ड होने पर भी उसमें अनन्त गुण अथवा शक्तियां तथा उन शक्तियों की अनन्त अवस्थाएं प्रति समय होती हैं अत: वह एकानेकात्मक है। यह अनेकान्त का सैद्धान्तिक पक्ष है। जीवन में इस सिद्धान्त की महती उपयोगिता है। उसका संदेश है कि विश्व के अनन्त जड़ चेतन पदार्थ अपने-अपने अस्ति स्वभाव से प्रेरित होकर सदा ही अपने स्वरूप में रहते हैं। और वे कदाचित् आकाश के एक ही क्षेत्र में अत्यन्त निकट भी रहें तो भी इस प्रकार नितांत भिन्न रहते हैं जैसे हिमालय और विन्ध्याचल, और वे इस प्रकार कभी नहीं मिलते जैसे नदी

के दो किनारे। सबकी अपनी-अपनी सीमा है और अपना-अपना घर। सभी अपनी-अपनी सीमा में अपनी-अपनी शक्ति से अपने नियत कार्यों का सम्पादन करते ही रहते हैं। एक को दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है तो फिर परस्पर सीमोल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: उनके पारस्परिक सहयोग और प्रभाव की बात भी निर्मूल हो जाती है।

पदार्थ का कार्य पदार्थ में हो और उसका प्रभाव कहीं अन्यत्र हो यह तथ्य सदोष है। अपराध अथवा सुकृत कोई करे और फल किसी अन्य को मिले यह बात लोक को भी सम्मत नहीं है। अत: प्रत्येक पदार्थ अपने कार्य को अपनी शक्ति से अपने लिये अपने में से अपने में ही निष्पन्न करता है ऐसी षट्कारकीय निर्बाध व्यवस्था है। फलस्वरूप एक पदार्थ कभी अन्य का कर्त्ता, कर्म, कारण, सहयोगी तथा प्रभावक होता ही नहीं है। दो पदार्थों के एकत्व के बिना उसका पारस्परिक कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व अथवा अन्य भी कोई सम्बन्ध बनता ही नहीं है। यदि दो पदार्थों के एकत्व की बात सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करली जावे तो वह अनन्त द्रव्यात्मक लोक आज हमारे समक्ष एक महापिण्ड के रूप में विद्यमान होता। किन्तु यह एकत्व की बात नितांत असत्य है क्योंकि भिन्न पदार्थों के भिन्न परिणामों की भिन्न ही प्रतीति और अनुभूति होती है।

यह विश्व व्यवस्था है। इसके भीतर प्रत्येक पदार्थ सदा ही सुरक्षित है और अपने अगणित क्रिया कलापों का एक छत्र सम्राट है। पदार्थ के इस पर निरपेक्ष स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली पद्धति को निश्चयनय कहते है। पदार्थ की अंतरंग स्थिति पर निरपेक्ष तथा स्वयं स्वतंत्र होते हुए भी उसका एक बहिरंग पक्ष भी है, और वह यह कि वह एकाकी होकर भी लोक के अन्य पदार्थों के साथ रहता है। भिन्न पदार्थों में परस्पर कभी संयोग और कभी वियोग भी होता है। कभी-कभी वह संयोग और वियोग भी इतना व्यवस्थित होता है कि वह एक नियम अथवा सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है और फिर उन दो पदार्थों के संयोग वियोग अथवा संयोग-वियोग में होने वाले उनके परिणाम उस नियम से ही अनुशासित होते हैं। दो पदार्थों के संयोग वियोग में उनमें एक साथ अथवा पूर्वोत्तर काल में नियम से होने वाले परिणामों में लोक में कर्त्ता-कर्म अथवा कारण कार्य भाव का व्यपदेश भी होने लगता है। जैसे यह त्रिकालाबाधित नियम है कि आत्मा में जब चैतन्य-विकार अर्थात् राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं तो पौद्गलिक कार्माणवर्गणा आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ

क्षीर-नीर की भाँति बंध को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्वभाव के आश्रय से निर्विकार परिणमन करता है तो कार्माणवर्गणा का आत्मा के प्रदेशों से वियोग हो जाता है। अत: इस नियम के निरपवाद होने से ऐसा भी व्यपदेश आगम और लोक में किया जाता है कि आत्मा विकार से कर्म बांधता है और निर्विकार भावना से कर्मों का क्षय करता है। यद्यपि आत्मा और कर्म दो भिन्न पदार्थ होने के कारण परस्पर एक दूसरे के कर्त्ता, कर्म अथवा करण कभी भी नहीं होते किन्तु एक सुनिश्चित नियम के अंतर्गत उनका संयोग वियोग होने के कारण उनमें प्रयोजन अथवा निमित्तवश पारस्परिक कर्त्ता, कर्म, करण आदि का व्यपदेश एकदम अनुचित अथवा निराधार नहीं है। वस्तु के इस बाह्यपक्ष का विवेचन करने वाली पद्धति को व्यवहारनय कहते हैं। दोनों ही नय की उस विवेचन पद्धति का पण्डित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अधिकार में बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते है - "जिनमार्ग विषै कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताको तो, 'सत्यार्थ ऐसे ही है', ऐसा जानना, बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौं, 'ऐसे है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है', ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दौऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी है, ऐसे भी है, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन करै तौ दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।"

निश्चय और व्यवहारनय के सम्बन्ध में पण्डितप्रवर टोडरमलजी की इस व्याख्या के प्रकाश में यदि हम देखें तो लोक के अनन्त पदार्थों में घटने वाले अनन्त प्रकार के सम्बन्धों से हमारे भीतर उत्पन्न अनन्त भ्रम तुरन्त निरस्त हो जाता है। लोक की कैसी भी परिस्थिति और कैसा ही घटनाचक्र क्यों न हो और उनके कर्त्ता, कर्म, कारणों के सम्बन्ध में कैसी भी भ्राँति क्यों न हो, निश्चय और व्यवहार की तुला पर रखते ही अविलम्ब उनका संतुलन हो जाता है। सर्वज्ञोपदिष्ट आगम में विवक्षा और प्रयोजन भेद के कारण दिखाई देने वाले पारस्परिक विरोध में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित हो जाता है कि फिर जीवन में उसका कभी उदय नहीं होता। जीवन में अनेकान्त की यही सर्वोपरि उपयोगिता है कि उसका स्वीकार बुद्धि को निर्मल बनाता है, मस्तिष्क का सम्पूर्ण विकार धुल जाता है। मिथ्या कारण-कार्य के स्वीकार में अपनी भूल से अपने भीतर उत्पन्न दोषों का निरन्तर कर्मादिक पर आरोप करते रहने और फिर भी दोष का वारण न होने से जो क्षोभ, आकुलता, अशांति जीवन में चलती

रहती है अनेकान्त उसका एक मात्र समाधान है। अनेकान्त के आलोक में निश्चयनय के द्वारा अपनी भूल अपने को विदित हो जाने पर फिर भूल और उससे सम्बद्ध दोषों की संतति का अस्तित्व ही संभव नहीं होता।

लोक में आत्मा के सम्बन्ध से शरीर को जीव, शरीर के सम्बन्ध से आत्मा को मूर्तिक, इन्द्रियों की पौद्गलिक रचना को प्राण कहने की अनादि रूढ़ि है। इसी प्रकार आत्मा शरीर की व्यवस्था करता है, शरीर आत्मा का संचालन करता है, कर्म आत्मा को भयंकर कष्ट देते हैं, इत्यादि लोक तथा आगम के पारस्परिक कर्त्ता, कर्म भाव प्रेरित सभी कथन व्यवहारनयात्मक औपचारिक पद्धतियाँ ही हैं।

इस रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर लोक के अनन्त पदार्थों से आत्मा के हानि-लाभ की समस्त संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। आत्मा कर्म के भयंकर भय की गठरी अपने शीश से उतार कर फैंक देता है, और कर्तृत्व की कारा में घुटने वाली चैतन्य की श्वासों को स्वाधीनता का उन्मुक्त पवन नवजीवन देता है। यहीं सत्य मोक्षमार्ग है और शेष सब बन्धमार्ग है। जितने कुछ पर मुखापेक्षी परिणाम हैं, वे सब बन्धभाव अथवा बन्धमार्ग में ही गर्भित होते हैं। ये बन्धभाव जब प्रशस्त राग (पुण्य) का रूप धारण कर वीतराग मोक्षमार्ग के साथ उदित होकर उसका समर्थन करते हैं, अथवा आत्मा को उसके प्रति प्रेरणा प्रदान करते हैं तो इन्हें भी व्यवहारनय की उपचारित शैली में मोक्षमार्ग की संज्ञा दी जाती है, किन्तु निश्चयनय उन्हें सदा बन्धभाव की कोटि में ही रखता है। उसकी दृष्टि में सदा ही केवल एक वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग की कक्षा में प्रतिष्ठित रहता है।

निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में देव, गुरु और आगम का सानिध्य पाकर भी आर्हत् मतानुसारी पुरुषों में भी जो अगणित भ्रान्तियाँ पड़ी रहती हैं उनका मार्मिक विश्लेषण पण्डित टोडरमलजी ने सप्तम अधिकार में किया है। जो लोग निश्चय-व्यवहार दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानते है उनका परिहार पण्डित टोडरमलजी इन शब्दों में करते हैं - "मोक्षमार्ग दोय नाहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहां सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है अर जहां जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है या सहचारी है ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार इसलिये

निरूपण अपेक्षा दोय मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानै सो भी भ्रम है"।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में अज्ञान से अनुशासित होकर आत्मा जितनी प्रकार से भूल करता है, एक-एक करके उन सभी का चित्रण करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने जो तर्क, आगम और अनुभव सम्मत समाधान दिया है वह एक असाधारण वस्तु है।

पुण्य-पाप:- पुण्य और पाप दोनों आत्मा को विकारी अंतर्वृत्तियाँ हैं, और जैन दर्शन ने इनकी भी अपने साहित्य में विस्तृत मीमांसा की है।

देवपूजा, गुरूपासना, दान, अनुकंपा आदि प्रशस्त परिणाम पुण्य हैं और इनका फल स्वर्गादि होते हैं। तथा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अप्रशस्त आत्मपरिणाम पाप हैं और उनका फल नरकादि होते हैं।

अधिकांश भारतीय दर्शन पाप को आत्मा के लिये अहितकर और पुण्य को आत्मा के लिये हितकर प्रतिपादित करते हैं। किन्तु जैन दर्शन इन दोनों को निर्वाण का बाधक स्वीकार करता है। जैसे पाप आत्मा का विषम भाव है उसी प्रकार पुण्य भी। पुण्य और पाप दोनों में ही आत्मा अपनी स्वरूप स्थिति में न रह कर पराधीन रहता है। दोनों ही आत्मा की परमुखापेक्षी वृत्तियाँ हैं। जैसे पाप किसी इन्द्रिय विषय का आश्रय लेकर प्रवर्तित होता है उसी प्रकार दान, अनुकंपा आदि पुण्य परिणाम भी किसी प्राणी के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह कि इन दोनों भावों की प्रवृति के लिये आत्मेतर किसी अन्य पदार्थ का आश्रय अनिवार्य है और पराधीन भाव आत्मा को पराधीन करते हुए ही जन्म लेते हैं ; अत: वे आत्मा के स्वाभाविक समरसीभाव नहीं कहे जा सकते। फलत: वे निर्वाण के बाधक ही होते हैं।

पुण्य और पाप दोनों परिणामों में अर्थ क्रियाकारित्व भी नहीं होता। कोई प्राणी किसी का अहित करने की भावना तो करे किन्तु उसकी भावना से किसी का अहित होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार कोई प्राणी किसी की रक्षा के परिणाम तो करे किन्तु उसके परिणामों से किसी की रक्षा होना अनिवार्य नहीं हैं। अर्थ क्रियाकारित्व न होने के कारण सदा ही विवशता का अनुभव होने से इन भावों में आत्मा की विकलता अवश्यंभावी है। अत: जैन मनीषी आत्मा के ज्ञान-आनंद स्वरूप स्वभाव के समक्ष इन भावों की अत्यंत निरर्थकता घोषित करते हुए आत्मा के हित में इनकी उपादेयता का भी निषेध करते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने इसका अत्यंत स्पष्ट प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं "बहुरि इस शुभोपयोग को बंधका ही कारण जानना। जातैं बंध और मोक्ष के प्रतिपक्षीपना है। तातैं एक ही भाव पुण्य बंध को भी कारण होय अर मोक्ष को भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है।

.....बहुरि निचली दशा विषै केई जीवनि के शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचारतें शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंध का कारण होय सोई मोक्ष का घातक है। ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना।"

.."बहुरि कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसा कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै।"

दैव और पुरुषार्थ:- जैन दर्शन दैव और पुरुषार्थ की भी एक बुद्धिगम्य जीवनोपयोगी व्याख्या प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ प्राय: पुरुष के उन प्रयत्नों को समझा जाता है जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक उपलब्धियों के लिये करता है। इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का मत यह है कि लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्न सापेक्ष होती ही नहीं है। यदि वे पुरुष-प्रयत्न साध्य हो तो जो जितना श्रम करे उसे उतना ही अधिक मिलना ही चाहिये। किन्तु वस्तु स्थिति बहुलता से इसके विपरीत देखी जाती है। अत: शरीर से होकर मन, वाणी, सौंदर्य, आरोग्य आदि तथा धन, भाग्य, स्त्री, पुत्रादि सभी वस्तुएं दैवकृत हैं। आत्मा तो मात्र इनकी उपलब्धि के लिये रागद्वेष का विपरीत पुरुषार्थ मात्र कर सकता है। इसके आगे इनके सम्पादन में आत्मा का कोई अधिकार नहीं है। दैव पूर्व नियोजित होता है और पुरुषार्थ इहचेष्टित। लोक में दैव भाग्य को कहते हैं। वर्तमान जीवन में जो भी लौकिक उपलब्धियाँ होती हैं वे पूर्ण नियोजित दैव के अनुकूल होती हैं। और भावी भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान कर्म अर्थात् वर्तमान पुरुषार्थ होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप मे प्रवर्तित होता है तो उसके निमित्त से पाप कर्म का संचय होता है और यदि वह पुण्य में वर्तन करता है तो उससे पुण्य कर्म संचित होता है। यही पुण्य-पाप कर्म आत्मा का दैव अर्थात् भाग्य कहलाते हैं।

जड़ कर्मों के निमित्त से समस्त लौकिक सुख दुख की तो प्राप्ति संभव होती है किन्तु आत्मा के स्वाधीन शाश्वत आनन्द की प्राप्ति न तो पाप-पुण्य के पुरुषार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित कर्मों से। किन्तु उसकी उपलब्धि तो एक मात्र ज्ञानानन्द निकेतन आत्म-स्वरूप के प्रति सचेष्ट सम्यक् पुरुषार्थ से ही होती है। अत: पुण्य और पाप के भाव तथा उनके निमित्त से संचित मोहादि तथा वेदनीयादि कर्म तथा इन कर्मों के फल में प्राप्त बाह्य सन्निधि यह सब दैव का ही परिकर है। इनमें प्रवाहित पुरुषार्थ निरन्तर आत्मा के नश्वर भाग्य की रचना करता है कि जो सदा ही दु:खद होता है। आत्मा की शाश्वत मुक्ति स्वरूप महाभाग्य की रचना तो पुण्य-पाप से विलक्षण आत्मा का सम्यक् पुरुषार्थ ही करता है। पुण्य और पाप के फल में जिसे समानरूप से पराधीनता तथा आकुलता का अनुभव होता है ऐसा निकट भव्य प्राणी ही अपने जागृत अन्तर से यह निर्णय करता है कि "निश्चय ही पुण्य पाप का सम्पूर्ण परिकर पराया है। और मैं ज्ञान आनन्द स्वरूप शुद्ध चेतन तत्त्व हूँ।" तब इस निर्णय से ही दैव के प्रतिबन्धों को अस्वीकार करता हुआ आत्म-पुरुषार्थ जागृत होकर चिर अवरूद्ध मुक्ति के द्वार का उद्घाटन करता है। अत: यह कथन तथ्य शून्य है कि दैव (कर्म) के चक्र में उलझे हुए प्राणी को मुक्ति का अवकाश ही नहीं है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के नवें अधिकार में इस विषय का सतर्क ऊहापोह किया है। जो लोग द्रव्य कर्म भावकर्म की परम्परा में सम्यक् पुरुषार्थ का अभाव स्वीकार करते है, उसका उन्होंने इस प्रकार प्रतिषेध किया है- "तत्त्व निर्णय करने विषै उपयोग न लगावै सो तो या ही का दोष है। बहुरि पुरुषार्थ करि तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावे तब स्वयमेव ही मोह का अभाव भये सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बने है। सो मुख्यपनै तो तत्त्व निर्णय विषै उपयोग लगावने का पुरुषार्थ करना। बहुरि उपदेश भी दीजिये है जो इस ही पुरुषार्थ करावने के अर्थ दीजिये। अर तत्त्व निर्णय न करने विषै कोई कर्म का दोष नाहीं तेरा ही दोष है। अर तू आपतो महन्त रहा चाहै अर अपना दोष कर्मनि के लगावै सो जिन आज्ञा मानै तो ऐसी अनीति संभवै नाही।"

अन्त में इतने विवेचन के उपरांत यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षमार्गप्रकाशक महामना पं0 टोडरमलजी के अगणित गुण रत्नों का अनमोल निधान है। उस सागर की छाती में न मालूम कितने मुक्ता बिखरे पड़े हैं।

आज के बुद्धिवादी मानव के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक निश्चित ही एक भव्य प्रकाशस्तम्भ के समान दिशा निर्दिष्ट कर रहा है। जीवन के विकास के लिये सत्यासत्य के समुच्चय में से सत्य की शोध करने के लिये वह हमारे अन्तर्चक्षुओं को दिव्य आलोक देता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रतिपादित तत्त्व किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष से सम्बद्ध नहीं है वरन् वह तो निखिल ही विश्व के लिये है। उसका प्रणेता मोक्ष के अवरूद्ध द्वार का निखिल ही जगत के लिये उद्घाटन करने के महान उदात्त आशयवाला है। और इसी पुनीत प्रेरणा के परिणामस्वरूप मोक्षमार्गप्रकाशक का उदय भी हुआ है। अत: मोक्षमार्गप्रकाशक किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का उत्तराधिकार न होकर मानव मात्र के मनमन्दिर में उपास्यदेव के रूप से प्रतिष्ठित होने योग्य है।

निश्चित ही मोक्षमार्गप्रकाशक की भाषा, उसका भाव गांभीर्य उसकी अनूठी रचना शैली और उसमें गर्भित अगाध आगमज्ञान ने पण्डित टोडरमलजी की 'आचार्य कल्प' संज्ञा को चरितार्थ कर दिया है।

अपने प्राणों के मूल्य पर मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी अनुपम निधि को देकर नि:संदेह पं0 टोडरमलजी ने समग्र विश्व और विश्व साहित्य को उपकृत किया है। मताग्रह का अंजन लगाकर भले ही विश्व उसका मूल्यांकन न कर पावे किन्तु इससे इस रत्नाकर की गरिमा कम नहीं होती। वरन् उसे न पहिचान कर विश्व मुक्ति के सर्वोच्च वरदान से वंचित ही रहा है।

काश ! हम उनके जीवन में पं0 टोडरमलजी को पहिचान पाते तो मोक्षमार्गप्रकाशक आज अपने सम्पूर्ण स्वरूप में हमें उपलब्ध होता। फिर भी यदि हम उपलब्ध मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रकाश में अपनी चिर-विस्मृत स्वरूप निधि का अनुसंधान कर सके तो यही हमारे जीवन की सर्व महान उपलब्धि होगी और यही पण्डित टोडरमलजी और उनके मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रति हमारा सबसे बड़ा सम्मान होगा।

अन्त में मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धान्जलियाँ उन महापुरुष के चरण में समर्पित करता हूँ।

बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'
कोटा (राज.)

विषय-सूची

आठवाँ अधिकार (उपदेश का स्वरूप)

अनुयोगो का प्रयोजन

प्रथमानुयोग का प्रयोजन-4 करणानुयोग का प्रयोजन-7

चरणानुयोग का प्रयोजन-10 द्रव्यानुयोग का प्रयोजन-15

अनुयोगों के व्याख्यान का विधान

प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान-17 करणानुयाग के व्याख्यान का विधान-29

चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान-44 द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान-76

अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति-98

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों का प्रयोजन-102

अनुयोगों में दोष-कल्पनाओं का निराकरण

प्रथमानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण-105 करणानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण-109

चरणानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण-114 द्रव्यानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण-119

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों की उपयोगिता-129

अनुयोगों में दिखाई देने वाले परस्पर विरोध का निराकरण-130

अनुयोगों का अभ्यास क्रम-170

परिशिष्ट (1) - 172 परिशिष्ट (2) - 174

नौवाँ अधिकार

(मोक्षमार्ग का स्वरूप)

आत्मा का हित मोक्ष ही है - 177 पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्ति - 194

मोक्षमार्ग का स्वरूप - 219 सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण - 229

तत्त्वार्थ सात ही क्यों ? - 237

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भवदोष का परिहार - 249

सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय - 268

सम्यक्तव के भेद और उनका स्वरूप - 318

सम्यग्दर्शन के आठ अंग - 354 सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष - 358

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग - 4

आठवाँ अधिकार

उपदेश का स्वरूप

....अब मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधराधिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिये इस शास्त्र में भी उन्हीं के उपदेशानुसार उपदेश देते हैं।

वहाँ उपदेश का स्वरूप जानने के अर्थ कुछ व्याख्यान करते हैं; क्योंकि उपदेश को यथावत् न पहिचाने तो अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करे। इसलिये उपदेश का स्वरूप कहते हैं।

जिनमत में उपदेश चार अनुयोग के द्वारा दिया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग - यह चार अनुयोग हैं।

वहाँ तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महान पुरुषों के चरित्र का जिसमें निरूपण किया हो वह प्रथमानुयोग है। तथा गुणस्थान मार्गणादिरूप जीव का व कर्मों का व त्रिलोकादिक का जिसमें निरूपण हो वह करणानुयोग है। तथा गृहस्थ-मुनि के धर्म का आचरण करने का जिसमें निरूपण हो वह चरणानुयोग है। तथा षट्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिक का व स्व-पर भेद विज्ञानादिक का जिसमें निरूपण हो वह द्रव्यानुयोग है।....

मोक्षमार्गप्रकाशक के इस अधिकार में शास्त्र के उपदेश की पद्धति कैसी है यह बताते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना ही वास्तविक उपकार है। यह यथार्थ वीतरागी मोक्षमार्ग की बात है। ज्ञानी को ऐसा (उपदेशादि का) शुभराग आता है और तीर्थंकरों को वर्तमान में राग नहीं होने पर भी उन्हें पूर्व में यह विकल्प था कि जीव वीतरागी मोक्षमार्ग को प्राप्त करें। गणधरदेव को भी ऐसा विकल्प आता है। उपदेश तो उपदेश के कारण से निकलता है और सामनेवाला जीव उसकी अपनी योग्यता से समझता है। उपदेश की पद्धति में तो व्यवहार से कहा जाता है कि 'इस व्यक्ति ने इस व्यक्ति पर उपकार किया;' परन्तु वास्तव में पर को बंध-मोक्ष कराने का जीव का अध्यवसाय पर के लिये तो अकिंचित्कर है। जीव के अध्यवसान के कारण पर जीव बंधमुक्त नहीं होता है। अन्य जीव स्वयं के वीतरागभाव से ही मुक्ति प्राप्त करता है और अपने रागभाव से ही बंधता है। कोई किसी का उद्धार करता है- यह व्यवहार का कथन है।

जब कार्य होता है तब साथ की वस्तु को उपकारक कहा जाता है। 'अर्थप्रकाशिका' में, (तत्वार्थसूत्र की पण्डित सदासुखदासजी कृत टीका में) सूत्र, 19-20-21 में प्रयुक्त उपकार शब्द का अर्थ किया है कि "बहुरि इहां उपकार शब्द का अर्थ भला करना नहीं लेना कुछ कार्य का निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये हैं।"

आत्मा को शरीर, मन आदि का उपकार है। जीव को दु:ख में पुद्गल का उपकार है- ऐसा (शास्त्र में) कथन है। उसका आशय यह है कि जीव स्वयं दु:खरूप भाव करता है तो पुद्गल को निमित्त कहा जाता है। 'उपकार' अर्थात् 'भला करता है'- ऐसा अर्थ नहीं लेना। शरीर, मन, वाणी श्वांस तो जड़ है और आत्मा अरूपी (चैतन्य) है। जड़ का आत्मा पर क्या उपकार हो सकता है? परन्तु वह जीव को संसारदशा में निमित्त होता है, इसलिये पुद्गल का उपकार कहा है। जैसे घर में क्लेश होने से किसी महिला को आत्महत्या का विकल्प आया, अब वह गुप्तरीति से अफीम खाकर मृत्यु को प्राप्त होती है तो अफीम का उपकार कहा जाता है; क्योंकि उसकी मृत्यु में वह निमित्त है। इसीतरह पुद्गल आत्मा के जीवन-मरण, सुख-दु:ख में लाभ करता है- ऐसा नहीं; परन्तु कार्य होता है उसमें वह निमित्त है।

वस्तुत: गुरु ने शिष्य का उपकार नहीं किया है; परन्तु शिष्य की पात्रता में गुरु निमित्त हैं- इसकारण गुरु पर उपकारीपने का आरोप आता है।

अहो! गुरु ने महान उपकार किया, गुरु ने मोक्षमार्ग प्रदान करके मुझे अनंतभव से उबारा है, मैं गुरु के प्रताप से धर्म को प्राप्त हुआ हूँ- ऐसा ज्ञानी भी विनय से कहता है। वस्तुत: सामने वाले जीव के धर्म प्राप्ति कराने का विकल्प था और इस जीव को धर्म प्राप्ति की योग्यता थी- वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस जीव ने इस जीव को धर्म प्राप्त कराया।

वाणी जड़ है। वह तो भाषावर्गणा स्वयं पलटकर होती है। योग के कंपन के कारण भी भाषा नहीं है। योग का कम्पन तो सदा है, अत: वाणी भी सदा निकलना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। देखो! निमित्तरूप उपकार करने में भी वीतरागी मोक्षमार्ग की बात ली है। वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश देना ही परम उपकार है। ज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का परिज्ञान होने से उपदेश में परजीव के समझने पर उसका वजन नहीं है। धर्मी जानता है कि परजीव सत् है। वह सामान्य - विशेष स्वरूप है। उसका सामान्य सत् और विशेष सत्-दोनो स्वयं सिद्ध उसके अपने से है; इसलिये मैं उसको समझा दूँ- ऐसा ज्ञानी का अभिप्राय नहीं है। परन्तु स्वयं ने जैसा अपूर्व धर्म प्राप्त किया है वैसा अपूर्व धर्म जगत के पात्र जीव भी प्राप्त करें- ऐसा प्रभावना का भाव धर्मी को आये बिना नहीं रहता; परन्तु उसे अन्तर में भान है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है उसके उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों अंश स्वयं से ही सत् हैं। परजीव में समझ का उत्पाद, नासमझ का व्यय तथा द्रव्यरूप से ध्रुवता तथा उपदेश में परमाणु (वाणी-भाषावर्गणा) के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी स्वतन्त्र हैं। सिद्धोवर्णसमाम्नाय अर्थात् वर्णमाला अनादि से स्वयं सिद्ध है, उन शब्दों का निर्माता अन्य दूसरा कोई नहीं है।

नवतत्वों का ऐसा यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। शास्त्र में अनेक प्रकार के कथन आते हैं; परन्तु उनकी कथनपद्धति का आशय क्या है यह समझना चाहिये। शास्त्रों का आशय जीवों को मोक्षमार्ग बतलाने का ही है। श्री तीर्थंकर भगवान को पूर्व में ऐसा भाव था और श्री गणधरदेव आदि भी ऐसा ही आशय विचारकर शास्त्र में मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं और इस शास्त्र में भी उनके ही उपदेशानुसार कथन किया गया है।

वहाँ प्रथम उपदेश का स्वरूप जानना चाहिये। यहाँ उपदेश को जानने के लिये उसका वर्णन करते हैं; क्योंकि शास्त्र में अनेक प्रकार की कथन पद्धति है। उसे भलीभांति जाने बिना

अन्यथा विपरीत मानकर प्रवर्त्तने से उपदेश का प्रयोजन समझ में नहीं आ सकता और न हित हो सकता है। 'अहो! तीर्थंकर भगवान ने अनंत जीवों को तारा'- ऐसा कहा जाता है; परन्तु कहीं एक तीर्थंकर के काल में अनंत जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेते हैं। अत: यह तो भक्ति का कथन है। भगवान के निमित्त से बहुत जीव तिरे-ऐसा बताया है।

जैनमत में उपदेश चार अनुयोगों का आया है। चारों अनुयोगों के समस्त शास्त्रों का तात्पर्य तो जीव को मोक्षमार्ग बतलाने का है:-

* प्रथमानुयोग में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, आदि महापुरुषों के चरित्र का कथन करके उसमें भी जीवों को मोक्षमार्ग बतलाने का ही आशय है।

* चरणानुयोग में गृहस्थों तथा मुनियों के धर्माचरण का कथन है।

* करणानुयोग में गुणस्थान-मार्गणास्थान आदिरूप जीव का, कर्मों का तथा त्रिलोकादि का निरूपण है। पण्डित टोडरमलजी ने गुणस्थान और मार्गणास्थान को बारबार जीव के भाव कहे हैं; अत: वह भावमार्गणा है- ऐसा वे कहना चाहते हैं।

* द्रव्यानुयोग में जीवादि छह द्रव्यों का, सात तत्त्वों का तथा स्व-पर भेदज्ञानादि का वर्णन है। द्रव्य-गुण-पर्याय, निर्विकल्पदशा आदि का वर्णन द्रव्यानुयोग में होता है। चौथे गुणस्थान में भी निर्विकल्प अनुभवदशा होती है। द्रव्यानुयोग में मोक्षमार्ग का प्रधानरूप से उपदेश है।

आगे चारों अनुयोगों के अभ्यास की मुख्यता बतलायेंगे।

अब चारों अनुयोगो का क्या-क्या प्रयोजन है- यह बतलाते हैं। सामान्यरूप से तो चारों अनुयोगों का प्रयोजन मोक्षमार्ग का ही उपदेश करने का है; परन्तु उनकी कथन पद्धति की यहाँ पहिचान कराते हैं।

अनुयोगों का प्रयोजन

अब इनका प्रयोजन कहते है:-

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की

प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्म सन्मुख होते हैं; क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भांति समझ जाते हैं। तथा लोक में तो राजादिक की कथाओं में पाप का पोषण होता है। यहाँ महन्तपुरुष राजादिक की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं; इसलिये वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवंत होते हैं।

इसप्रकार तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिये यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसार की टीका में किया है।

प्रथमानुयोग अर्थात् आदि-पुराण आदि में तो संतो ने अनेक प्रकार से पुण्य-पाप का निरूपण किया है। प्रथमानुयोग में:-

* संसार की विचित्रता।
* पुण्य-पाप का फल तथा
* महंत पुरुषों की प्रवृत्ति

-इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। आराधक जीवों का विशिष्ट पुण्य कैसा होता है- उसका इसमें वर्णन है। तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का निरूपण है। ऐसा पुण्य सम्यग्दर्शन सहित जीव को ही बंधता है- यह बतलाकर जीवों को धर्म में लगाया है। व्यवहार धर्म वस्तुतः पुण्य है।

महापुरुषों का जीवन-चरित्र कैसा होता है, महापुरुषों पर भी कैसे-कैसे संकट आये और उससमय उन्होंने कैसी धैर्यता रखी- यह सब सुनकर जीव को शुभभाव होता है और कोई पात्रजीव धर्म सन्मुख हो जाता है। मंदबुद्धि वाले जीव सूक्ष्म तत्व की बात तो समझते नहीं, -इस कारण महापुरुषों के जीवन आदि द्वारा उन्हें उपदेश दिया है। इस जीव को जातिस्मरण हुआ- इस प्रकार जीवों के पूर्वभवों का तथा पुण्य-पाप आदि का फल बतलाकर जीव की

नित्यता आदि की पहिचान कराई है। मंदबुद्धि जीवों को तीर्थंकर-गणधर-राजा आदि की वार्ता द्वारा उपदेश देने से उनका उपयोग वहाँ लगता है, सूक्ष्मतत्व में उनका उपयोग नहीं लगता। मुख्यत: ऐसे जीवों के लिये प्रथमानुयोग में उपदेश है। तथा प्रथमानुयोग में जिनमन्दिर बनाने, भगवान की पूजा-भक्ति करने, तीर्थयात्रा करने इत्यादि का उपदेश देकर जीवों को पाप से छुड़ाकर पुण्य में लगाया है। तथा जीव के पुण्य-पाप का फल बताया है कि इस जीव ने ऐसा पुण्य किया इसलिये स्वर्ग गया और ऐसा पाप किया इसलिये नरक गया। पूर्वभव में ऐसा पुण्य करने से ऐसा फल प्राप्त किया और ऐसा पाप करने ऐसा फल प्राप्त किया -इस प्रकार बताकर जीवों को पाप से छुड़ाया है।

प्रथम अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि' जो धर्म को प्राप्त नहीं हुआ है- ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव के लिये जो अनुयोग (कथन) है वह प्रथम अनुयोग है। प्रथमानुयोग में मुख्यरूप से मिथ्यादृष्टि जीवों को समझाने के लिये स्थूल कथन होता है।

देखो! मोक्षमार्ग का मुख्य उपदेश तो द्रव्यानुयोग में ही है। इसलिये मुख्य तो उसका ही अभ्यास रखना। चार अनुयोगों में पहले इसका अभ्यास करना और फिर उसका अभ्यास करना ऐसा कोई नियम नहीं है; परन्तु अपने परिणाम देखकर जिसके अभ्यास से अपने को लाभ हो वैसा ही अभ्यास करना योग्य है।

....तथा जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़ें-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादि निधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था। तथा पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ शुद्धोपयोग को जानता था, व उसके फल को जानता था। पुराणों में उन उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल जीव के हुआ सो निरूपण किया है, वही उसे जानने का उदाहरण हुआ। इसीप्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिसप्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई -इसलिये यह उस जानने की साक्षी हुई।

तथा जैसे कोई सुभट है - वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा जिसमें हो ऐसी किन्हीं पुराण पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसीप्रकार धर्मात्मा है - वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा जिसमें हो ऐसे किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इसप्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।....

तथा सम्यग्दृष्टि जीवों को प्रथमानुयोग का अभ्यास उदाहरणरूप भासित होता है। धर्मीजीव को शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग के फल का ज्ञान है और उनके उदाहरणरूप शास्त्रों में (प्रथमानुयोग में) जीवों का वर्णन है, उसको वह उदाहरणरूप जानता है। तथा मोक्षमार्गी जीवों के पुरुषार्थ की बात सुनने से स्वयं भी मोक्षमार्ग में विशेष उत्साहवान होता है। प्रथमानुयोग में भी गौणरूप से तो द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग सब समाहित हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक अनुयोग में अन्य तीन अनुयोग भी गौणरूप से आ जाते हैं। स्वयं को जो निर्णय था उसका उदाहरण पुराण में मिलने से अपने को साक्षी मिली और महापुरुषों के जीवन प्रसंग जानने से अपने को भी वैसा उत्साह जागृत होता है। महापुरुषों के पराक्रम की बात सुनने पर जैसे योद्धा की शूरवीरता चढ़ जाती है; वैसे ही मोक्षमार्गी तीर्थंकर, मुनिवर आदि के पुरुषार्थ की बात सुनते ही धर्मीजीव को स्वयं को भी मोक्षमार्ग का शूरपना चढ़ता है- धर्म का उत्साह बढ़ता है।

करणानुयोग का प्रयोजन

....तथा करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवों के गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल किस किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में नरक-स्वर्गादि के ठिकाने पहिचान कर पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं। तथा ऐसे विचार में उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्यास से तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है। तथा ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमत का श्रद्धानी होता है।....

अब करणानुयोग का प्रयोजन क्या है वह कहते हैं। करणानुयोग में सूक्ष्म गणितादि का वर्णन होता है। इसमें जीव और कर्म की सूक्ष्म अवस्थाओं का वर्णन होता है। करणानुयोग में जीवों की और कर्मों की विशेषता तथा त्रिलोकादि की रचना का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहता है वह जीवों के गुणस्थान-मार्गणादि भेद तथा कर्मों के कारण, अवस्था, फल किस-किसको किस-किसप्रकार के होते हैं इत्यादि भेद तथा तीनलोक में नरक-स्वर्गादिक के स्थानों की पहिचान करके पाप से विमुख होकर धर्म में लगता है। तथा यदि ऐसे विचारों में उपयोग रम जाये तो पाप प्रवृत्ति छूटकर स्वयं तत्काल धर्म उत्पन्न होता है तथा इसके अभ्यास से तत्वज्ञान की भी प्राप्ति होती है। अनेक जगह मार्गणास्थानों को जीव के ही विशेष कहा गया है इससे यह भावमार्गणा ही है -ऐसा निर्णीत होता है। कहाँ-कहाँ जीव हैं, किस गति में कहाँ-कहाँ जीव हैं- इसप्रकार जीव को शोधने का नाम मार्गणा है और वस्तुत: तो अन्तर में आत्मा के स्वभाव को शोधना -उसका ज्ञान करना मोक्षमार्ग है।

ज्ञान का चोर हो -ज्ञान का द्वेष करे -इसके कारण तीव्र ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं। इस प्रकार किस कारण से कौनसा कर्म बंधता है इसका वर्णन करणानुयोग में है।

देखो! करणानुयोग आदि के अभ्यास में शुभराग सहज हो जाता है; परन्तु मुख्य प्रयोजन तो सम्यक् श्रद्धा का है, शुभराग मुख्य प्रयोजन नहीं है।

करणानुयोग का विचार करने से सर्वज्ञ की प्रतीति हो जाती है; क्योंकि सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य ऐसा सूक्ष्म कथन नहीं कर सकते।

....तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है। जो जीवादिक तत्त्वों को आप जानता है, उन्हीं के विशेष करणानुयोग में किये हैं; वहाँ कितने ही विशेषण तो यथावत् निश्चयरूप हैं, कितने ही उपचार सहित व्यवहाररूप हैं, कितने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल भावादिक के स्वरूप प्रमाणादिरूप हैं, कितने ही निमित्त आश्रयादि अपेक्षा सहित हैं, - इत्यादि अनेक प्रकार के विशेषण निरूपित किये हैं, उन्हें ज्यों का त्यों मानता हुआ उस करणानुयोग का अभ्यास करता है।

इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे - कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है, परन्तु उस रत्न के बहुत से विशेष जानने पर निर्मल रत्न का पारखी होता है; उसीप्रकार तत्त्वों को जानता था कि यह जीवादिक हैं, परन्तु उन तत्त्वों के बहुत विशेष जाने तो निर्मल तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होने पर आप ही विशेष धर्मात्मा होता है।

तथा अन्य ठिकाने उपयोग को लगाये तो रागादिक की वृद्धि होती है, और छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता; इसलिये ज्ञानी इस करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है, उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थों का जानपना इसके होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ही का भेद है, भासित होने में विरुद्धता नहीं है।

इसप्रकार यह करणानुयोग का प्रयोजन जानना।

'करण' अर्थात् गणित कार्य के कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें 'अनुयोग'- अधिकार हो वह करणानुयोग है। इसमें गणित वर्णन की मुख्यता है - ऐसा जानना।....

तत्वज्ञान से जो जीवादि तत्व जाने हो उनके ही विशेष प्रकारों का निरूपण करणानुयोग में है। करणानुयोग में कोई कथन तो जीवादि के सूक्ष्म परिणामों का है और कोई कथन उपचार का भी है। जैसे कि- ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञान को रोका। तथा भगवान ने सर्वज्ञता से जितना देखा उतना वाणी में पूरा नहीं आता, यह तो सत्य है। (परन्तु आशय पूरा आ जाता है।) तथा कोई कथन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रमाण का (माप का) है। तथा किसी समय निमित्त के आश्रय से कथन करके ऐसा कहते हैं कि अमुक आहार से अमुक प्रकार का दोष होता है। इसप्रकार अनेक प्रकार के कथन हैं।

ज्ञान रुके वहाँ अन्दर में ज्ञानावरणी कर्म निमित्त है और बाहर में परदा, दीवार आदि नोकर्म निमित्त है; परन्तु वहाँ ज्ञान रुकने की अपनी पर्याय की योग्यता है उसका ज्ञान कराया है। करणानुयोग के सूक्ष्म अभ्यास से धर्मी जीव के ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है। जैसे हीरे के अनेक प्रकारों को जाननेवाला हीरे की विशेष परीक्षा कर सकता है; इसीप्रकार जो जीव-अजीव आदि तत्वों को बहुत प्रकार से जानता है वह तत्त्वों की विशेष परीक्षा कर सकता

है और उसके तत्वज्ञान की निर्मलता विशेष होती है।

प्रश्नः- बाहर में तो चमत्कार बतलाते हैं, तो यहाँ भी कोई चमत्कार है?

उत्तरः- हाँ, आत्मा स्वयं ऐसा चैतन्य चमत्कार है कि उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्रता होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। देखो, यह चैतन्य का चमत्कार! सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं ऐसा चमत्कार हो तो बताओ? तथा प्रत्येक आत्मा असंख्यात प्रदेशी है यह बात भी अन्य कहीं हो तो बताओ?

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र, प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण, प्रत्येक गुण की अनंत पर्यायें और एक समय की ज्ञानपर्याय में तीनकाल-तीनलोक को जानने की सामर्थ्य- ऐसा चैतन्य का चमत्कार है। एक-एक शक्ति में अपने छह कारक स्वतन्त्र हैं, आत्मा में कर्तृत्व-स्वच्छत्व-प्रभुत्व-विभुत्व आदि अनंत शक्तियाँ हैं। जगत में चैतन्य का चमत्कार उत्कृष्ट में उत्कृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) है। अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वे ऐसा चैतन्य चमत्कार बतला रहे हैं।

भगवान ने केवलज्ञान से जो पदार्थ देखे हैं उनका कथन करणानुयोग में है। इस करणानुयोग के अभ्यास से सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान होता है और ज्ञान की निर्मलता बढ़कर राग घटता है। ज्ञानी भी अंतर में अधिक समय तक निर्विकल्प स्थिर नहीं रह सकते- इसकारण वे अपना उपयोग करणानुयोग आदि के अभ्यास में लगाते हैं। केवली ने जो प्रत्यक्ष देखा है उसको समकिती परोक्षज्ञान की प्रतीति में लेता है। धर्मी जीव स्याद्वाद से सब परोक्ष जानता है।

केवली के ज्ञान में और सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है; परन्तु कोई विपरीतता नहीं है।

गणित कार्य के कारणरूप जो सूत्र है उसमें जो अधिकार हो उसे करणानुयोग कहते हैं। षटखण्डागम आदि में उनका बहुत वर्णन है।

चरणानुयोग का प्रयोजन

....अब चरणानुयोग का प्रयोजन कहते हैं। चरणानुयोग में नानाप्रकार धर्म के साधन निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव हित-अहित को नहीं

जानते, हिंसादिक पाप कार्यों में तत्पर हो रहते हैं; उन्हें जिसप्रकार पापकार्यों को छोड़कर धर्मकार्यों में लगें, उसप्रकार उपदेश दिया है; उसे जानकर जो धर्म आचरण करने को सन्मुख हुए, वे जीव गृहस्थधर्म व मुनिधर्म का विधान सुनकर आप से जैसा सधे वैसे धर्म-साधन में लगते हैं।

ऐसे साधन से कषाय मन्द होती है और उसके फल में इतना तो होता है कि कुगति में दुःख नहीं पाते, किन्तु सुगति में सुख प्राप्त करते हैं; तथा ऐसे साधन से जिनमत का निमित्त बना रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना हो तो हो जाती है।....

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के और छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते निर्ग्रन्थ मुनियों के आचरण का विधान जिस अनुयोग में हो उसको चरणानुयोग कहते हैं। चरणानुयोग में नानाप्रकार के धर्म साधन का निरूपण करके जीवों को धर्म में अर्थात् शुभराग में लगाया जाता है।

पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार तत्त्वज्ञान हो और फिर रागादि घटने पर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि आचरण होता है।

जो जीव हित-अहित को नहीं जानता और हिंसादि पाप कार्यों में ही तत्पर हो रहा है उसे वह जैसे पाप कार्य छोड़कर धर्म-शुभराग के कार्य में लगे वैसे वहाँ (चरणानुयोग में) उपदेश है; उसे जानकर जिनधर्माचरण करने के सन्मुख होने पर वह जीव गृहस्थ- मुनिधर्म का विधान सुनकर अपने से जैसा आचरण हो उसमें लगता है।

सामान्य जनता पाप से छुटकर पुण्य में लगे ऐसे प्रयोजन से भी उसको यहाँ उपदेश दिया जाता है; परन्तु यथार्थ दृष्टि बिना व्रतादि पालने से कहीं उसके जन्म-मरणादि का अभाव नहीं हो जाता। द्रव्यलिंग धारी जीव महा कठोर आचरण व उत्कृष्ठ शुभलेश्या से नौवें ग्रैवेयक तक गया; परन्तु वह भी धर्म का कारण नहीं हुआ। इसलिये चरणानुयोग का प्रयोजन और कथन यथार्थरूप से समझना चाहिये।

चरणानुयोग में समागत देव पूजादि षटकर्म समकिती की बात है। वह तत्त्वदृष्टि होने के बाद के शुभराग का कथन है। जिसको यथार्थ श्रुतज्ञान प्रगटा है- नयज्ञान हुआ है उसको नय के विषयभूत नाम, स्थापनादि निक्षेपों का यथार्थ ज्ञान होता है। जिसको नयज्ञान प्रगटा है उसको अरिहन्त देव के स्थापना निक्षेप और पूजा का यथार्थ ज्ञान होता है। अज्ञानी भले ही

उन षटकर्मादि को करे; परन्तु तत्त्वदृष्टि रहित होने से उसको इनसे पुण्यबंध होता है, तथापि धर्म नहीं होता।

द्रव्यलिंगी मुनिव्रत पालन करता है, ग्यारह अंग का ज्ञान करता है; परन्तु उसको अन्तरंग में सूक्ष्म व्यवहार का पक्ष - शुभराग से मोक्षमार्ग में कुछ तो लाभ है ऐसा पक्ष रह जाता है- इसकारण उसका मिथ्यात्व नहीं जाता। उसको ऐसा पक्ष रह जाता है कि अन्तरंग के लिये बाह्य शुभरागरूप साधन कुछ तो मददरूप है। परन्तु वास्तव में अखण्ड ध्रुव द्रव्य ही एक दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्ष का साधन है- यह बात उसे अन्तरंग में नही बैठती। कोई मॉस त्याग करता है तो व्यवहार से उसको कहते हैं कि तूने ठीक किया; परन्तु इससे धर्म हो जायेगा ऐसा पूछे तो कहते हैं कि नहीं भाई! यह तो पुण्यबंध है, धर्म तो अन्तरंग तत्त्व की पहिचान से होता है। कोई अज्ञानी जीव अन्य कुदेव-देवी-भवानी-कालिका आदि को मानता हो, तो उसे उपदेश देते हैं कि भाई! वहाँ तो बकरे इत्यादि की हिंसा होती है, उन्हें माननें से तेरा महान अहित होगा, इसलिये उनकी मान्यता छोड़ और वीतरागी- निर्दोष जिनदेव को मान; इससे तुझको पुण्य होगा। हाँ, वहाँ धर्म मान बैठे तो कहे कि भाई! धर्म तो चिदानन्द आत्मा के ज्ञान श्रद्धान से ही होता है। इस प्रकार चरणानुयोग का आशय समझना चाहिये।

यहाँ चरणानुयोग के प्रयोजन की बात चल रही है। जिसमें मुनिपने का और गृहस्थपने का निरूपण हो उसको चरणानुयोग कहते हैं। चरणानुयोग में अनेक प्रकार के साधन निरूपण करके जीवों को व्यवहार धर्म में लगाते हैं। जिसको आत्मा का भान हुआ है, उस ज्ञानी की वाणी में किस प्रकार का उपदेश आता है यह बात चल रही है। मिथ्यादृष्टि को आत्मा का भान नहीं है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का भी भान नहीं है। -इसकारण उसको उपदेश देने का अधिकार नहीं है। यहाँ कहते हैं कि जो हित-अहित को नहीं जानता और हिंसा-झूठ आदि में तत्पर है उसको ज्ञानी यह उपदेश देते हैं कि जितना शुभराग में लगे उतना पुण्य है, परन्तु वह धर्म नहीं है।

सम्यग्ज्ञानी कैसा उपदेश करते हैं यह समझाते हैं। चरणानुयोग में दया, दानादि करने को कहते हैं गृहस्थों को पूजा करना, दान करना इत्यादि कथन करते हैं। अज्ञानी जीव अपने से जैसा व्यवहार धर्म हो वैसा साधन करे तो पुण्य होता है; परन्तु वह धर्म नहीं है। जिसको सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु मिले हैं उसकी बात चलती है।

चरणानुयोग अनुसार आचरण करे तो उसके फल में भविष्य में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिलते जाते हैं। वहाँ उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना हो तो हो जाती है। वस्तुत: निमित्त से तत्त्वज्ञान नहीं होता। अनंतबार निमित्त मिलने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। वर्तमान संयोग से तो नहीं, पर वर्तमान ज्ञान का उघाड़ भी सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन ग्यारह अंग, नौ पूर्व के क्षयोपशम के आश्रय से भी नहीं होता, तो फिर पर के राग से सम्यग्दर्शन हो वैसा तो कभी होता ही नहीं।

यहाँ कहते हैं कि जो शुभराग करता है उसको उसके फल में सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त मिला रहता है; परन्तु वहाँ स्वयं अपने पुरुषार्थ से सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तो उनको निमित्त कहा जाता है।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव छोड़कर अहिंसादि के परिणाम करना पुण्यभाव है। जो हिताहित का विचार नहीं करता ऐसे स्थूल दृष्टिवाले जीव को पुण्य परिणाम करने का भी उपदेश देते हैं। वस्तुत: उपदेश तो उपदेश के कारण निकलता है। ज्ञानी भाषा के कर्ता नहीं है। भाषा भाषा के कारण निकलती है तो इच्छा को निमित्त कहा जाता है।

इसप्रकार अज्ञानी की बात हो गई, अब ज्ञानी की बात करते हैं।

....तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होता है। एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं; जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं।

ऐसा चरणानुयोग का प्रयोजन है।....

जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है उसको सभी आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानपूर्वक आचरण पालन करता है। श्रावक को बारह व्रतों का तथा मुनि को अट्ठाईस मूलगुण पालन का विकल्प आता

है। मुनि को वस्त्र-पात्र रखने का भाव नहीं होता। मुनि की भूमिका मे मात्र संज्वलन कषाय शेष रहती है, उनको उपदेश देने का, आहार व विहार का राग आता है।

पंचम गुणस्थान में एकदेश वीतरागता है और मुनिदशा में सर्वदेश वीतरागता है। मुनि का चिह्न वीतरागता है। उनकी बाह्य दशा नग्न दिगम्बर होती है। मुनि समझते हैं कि अन्तर में वीतरागता नैमित्तिक दशा है और अट्ठाईस मूलगुण पालन व शरीर उसमें निमित्त है। श्रावक समझता है कि अन्तर में दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागता हुई है उसमें दान, पूजादि का विकल्प निमित्त है- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझता है।

मुनिराज शूरवीर होते हैं। लोगों ने तो सच्चे मुनि का स्वरूप भी नहीं सुना है। सर्वज्ञभगवान की दिव्यध्वनि में आया मार्ग (मुनि का स्वरूप आदि) सनातन मार्ग है। मुनि समझते हैं कि चरणानुयोग में कथित विधि यथार्थ है। श्रावक समझता है कि (चरणानुयोग कथित) दान, पूजा आदि विधान निमित्त है और अन्तर वीतरागता नैमित्तिक है। श्रावक को अपनी भूमिकानुसार राग आता है। कथन शैली में (उपदेशवचन में) ऐसा कथन आता है कि श्रावकों को जिन प्रतिमा की पूजा करना चाहिये, गुरु आदि को दान देना चाहिये- इसप्रकार विधि बताते हैं। (श्रावकादि को) धर्मी जीव के प्रति शुभराग आता हैं। धर्मी समझता है कि यह शुभराग धर्मात्मा जीव के कारण नहीं, अपितु स्वयं के कारण आया है।

वह श्रावक और मुनिधर्म के भेद पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो वैसे (धर्म को) साधता है; परन्तु हठ नहीं करता। आत्मा पर का अकर्ता है- ऐसे भानपूर्वक अपनी योग्यतानुसार प्रतिज्ञा अंगीकार करता है। अपनी मर्यादा से अधिक त्याग नहीं करता। अपनी पदवी के योग्य भाव करता है।

श्री नियमसार परमभक्ति अधिकार के फुटनोट में कहा है कि यह सब पद सम्यक्त्वपूर्वक हठ रहित सहजदशा के हैं, यह ध्यान में रखने योग्य है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् ऐसा शुभराग आता है, तथापि वह धर्म नहीं है। शुभराग पुण्य है; परन्तु आये बिना नहीं रहता।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने परिणाम देखकर स्थिरता करता है। आत्मा के भान पूर्वक हुई राग रहित दशा को कार्यकारी जानता है और अवशेष राग को हेय जानता है, उपादेय नहीं जानता। दया, दानादि का राग धर्म नहीं है, वीतरागता ही परमधर्म है। चरणानुयोग का प्रयोजन

राग कराने का नहीं है, अपितु जो राग आता है उसे हेय समझकर वीतरागता को कार्यकारी मानना ही प्रयोजन है।

द्रव्यानुयोग का प्रयोजन

....अब द्रव्यानुयोग का प्रयोजन कहते हैं। द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको-पर को भिन्न नहीं जानते; उन्हें हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा प्रमाण-नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है जिससे उनको प्रतीति हो जाये। उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है। अन्यमत कल्पित तत्त्वादिक झूठ भासित हो तब जिनमत की प्रतीति हो और उनके भाव को पहिचानने का अभ्यास रखें, तो शीघ्र ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाये।....

समयसार, प्रवचनसार आदि द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। इनमें छह द्रव्यों का स्वरूप भिन्न-भिन्न कहा है। जीव और अजीव क्या है, परमाणु की पर्याय कैसे होती है तथा स्व-पर की भिन्नता कैसे है- जिसको इन बातों का पता नहीं है उनको हेतु, दृष्टान्त, युक्ति और प्रमाण-नयादि द्वारा उनका स्वरूप समझाते हैं, कि जिससे उनकी प्रतीति हो जाये। जीव ज्ञायकस्वरूप है। वह जड़ की क्रिया नहीं कर सकता। शुभराग धर्म नहीं है- इत्यादि उपदेश देते हैं।

इसके अभ्यास से अज्ञान दूर होता है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यमत के कल्पित तत्त्व मिथ्या भासित होते हैं (और जीव) जैनमत की यथार्थ श्रद्धा करता है। समयसार, नियमसार, तत्वार्थसूत्र आदि द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। तत्वार्थसूत्र में मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग की बात है। इनका अभ्यास करने से अनादि का अज्ञान दूर हो जाता है। पुण्य से अथवा देह की क्रिया से धर्म होता है यह मान्यता दूर होती है। इसप्रकार जैनमत की प्रतीति होती है।

भगवान सम्पूर्ण दोषों से रहित होते हैं। वे एकसमय में ज्ञान-दर्शन उपयोग वाले होते हैं। मुनि निर्ग्रन्थ होते हैं- ऐसी प्रतीति होती है। तथा बारम्बार जीव-अजीवादि तत्त्वों का अभ्यास करे तो तुरन्त ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। जीव ज्ञायकस्वभावी है; अजीव पर है; आस्रव आकुलतारूप है- इसप्रकार यदि प्रत्येक तत्त्व का भावभासन हो तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ 'तुरन्त ही' शब्द प्रयोग करके द्रव्यानुयोग के अभ्यास का महत्व दर्शाया है।

अज्ञानी जीव व्यापारादि में बहुत समय गंवाते हैं; परन्तु धर्म के अभ्यास का समय नहीं मिलता –ऐसा वे कहते हैं। जीव प्रतिसमय भावमरण में रच-पच रहा है। शरीर, पैसा, पुत्र इत्यादि मेरे हैं- ऐसी विपरीत मान्यता ही भावमरण है।

यहाँ कहा गया है कि जीव द्रव्यानुयोग के अनुसार छह द्रव्य, सात तत्त्व का अभ्यास चालू रखे तो शीघ्र तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।- ऐसा कहकर यहाँ अज्ञानी के लिये बात की है।

अभी तो कोई कहते हैं कि श्रावकों को समयसार नहीं पढ़ना चाहिये,-तो यह बात मिथ्या है। यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि अज्ञानी द्रव्यानुयोग का अभ्यास करे तो उसको सम्यग्ज्ञान होता है।

....तथा जिनके तत्त्वज्ञान हुआ हो वे जीव द्रव्यानुयोग का अभ्यास करें तो उन्हें अपने श्रद्धान के अनुसार वह सर्व कथन प्रतिभासित होते हैं। जैसे - किसी ने कोई विद्या सीख ली, परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है, न करे तो भूल जाता है। अथवा संक्षेपरूप से तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति हेतु दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट हो जाये तो उसमें शिथिलता नहीं हो सकती। तथा इस अभ्यास से रागादि घटने से शीघ्र मोक्ष सधता है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग का प्रयोजन जानना।...

अब ज्ञानी की बात करते हैं। जिसको तत्त्वज्ञान हुआ है वह जीव भी द्रव्यानुयोग का अभ्यास करता है। जैसे किसी ने विद्या सीख ली हो, परन्तु यदि उसका अभ्यास रखा करे तो वह याद रहती है, नहीं रखे तो भूल जाता है। यहाँ मात्र याद रहने की बात नहीं, अपितु भाव की बात है, भावभासन होना चाहिये।

इसीप्रकार जिसको तत्त्वज्ञान हुआ है वह जीव द्रव्यानुयोग का अभ्यास करे तो याद रहता है, अन्यथा भूल जाता है। संक्षेपता से जो तत्त्वज्ञान हुआ था वह यहाँ अनेक युक्ति, हेतु, दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानी को अभ्यास करते-करते राग घट जाता है और वह अल्पकाल में मोक्ष को साधता है।

द्रव्यानुयोग के अभ्यास में अज्ञानी को शीघ्र तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है यह कहा था और ज्ञानी को मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है ऐसा कहा है।

अनुयोगों के व्याख्यान का विधान

अब इन अनुयोगों में किस प्रकार व्याख्यान है, सो कहते हैं:-

प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान

....प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएँ हैं; वे तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित करते हैं। तथा उनमें प्रसंगोपात्त व्याख्यान होता है; वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्त्ता के विचारानुसार होता है; परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

उदाहरण:- जैसे- तीर्थंकर देवों के कल्याणकों में इन्द्र आये, यह कथा तो सत्य है। तथा इन्द्र ने स्तुति की, उसका व्याख्यान किया; सो इन्द्र ने तो अन्य प्रकार से ही स्तुति की थी और यहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने अन्य ही प्रकार से स्तुति करना लिखा है; परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ। तथा परस्पर किन्हीं के वचनालाप हुआ; वहाँ उनके तो अन्य प्रकार अक्षर निकले थे, यहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने अन्य प्रकार कहे; परन्तु प्रयोजन एक ही दिखलाते हैं। तथा नगर, वन, संग्रामादिक के नामादिक तो यथावत् ही लिखते हैं और वर्णन हीनाधिक भी प्रयोजन का पोषण करता हुआ निरूपित करते हैं। - इत्यादि इसीप्रकार जानना।

तथा प्रसंगरूप कथा भी ग्रन्थकर्त्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे- धर्मपरीक्षा में मूर्खों की कथा लिखी; सो वही कथा मनोवेग ने कही थी ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खपने का पोषण करनेवाली कोई कथा कही थी ऐसे अभिप्राय का पोषण करते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

चारों अनुयोगों के प्रयोजन के पश्चात् अब चारों अनुयोगों के उपदेश का प्रकार बताते हैं; क्योंकि इसकी अन्यथा समझ से दृष्टि विपरीत होती है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव इत्यादि महापुरुषों की कथा लिखी हो वह धर्मकथा है। वहाँ कथा तो जैसी है वैसी ही कही है और जैसा हुआ हो वैसा लिखा होता है। तथा कहीं ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार कहते हैं; परन्तु वहाँ प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

जैसे तीर्थंकर के पंचकल्याणक के समय इन्द्र आये थे यह सत्य है; परन्तु इन्द्रों ने जिन

शब्दों से भगवान की स्तुति की वे ही शब्द ग्रन्थकर्ता लिखे ऐसा नियम नहीं है। विविध प्रसंगों में अलग-अलग स्तुति की होती है और ग्रन्थकर्ता अन्य स्तुति लिखते है; परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। तथा किसी जीव को वैराग्य होने पर वह अपने माता-पिता के पास दीक्षा की अनुमति लेने के लिये जाता है तब कहता है कि- "हे माता-पिता! तुम इस शरीर के जनक हो, परन्तु तुम मेरे आत्मा के माता-पिता नहीं हो। मेरा आत्मा अपने अनादि जनक के पास जा रहा है इसलिये मुझे आज्ञा प्रदान करो! हे स्त्री! तू इस शरीर की रमणी है, परन्तु तू आत्मा को नहीं रमा सकती। मेरा आत्मा पुण्य-पाप से रहित शुद्ध अनुभूतिरूप रमणी से मिलने जा रहा है इसलिये मुझे आज्ञा दे।" -इस प्रकार शब्द अलग-अलग होने पर भी प्रयोजन एक ही है।

तथा वन, नगर, संग्राम, सेठ, राजा इत्यादि का नाम तो यथावत् लिखते हैं; परन्तु नगर का वर्णन अन्य प्रकार आता है- ऐसा समझना। इसी तरह प्रसंगरूप कथायें भी ग्रंथकर्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे कि-धर्मपरीक्षा में मूर्खों की कथा लिखी वहाँ वही कथा उनने कही है ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खता को दर्शाने वाली कथा कही है। इस तरह कोई कथा नई जोड़ देते हैं; परन्तु मूर्खपना प्रसिद्ध हो ऐसी बात कहते है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना।

....यहाँ कोई कहे - अयथार्थ कहना तो जैन शास्त्र में सम्भव नहीं है?

उत्तर:- अन्यथा तो उसका नाम है जो प्रयोजन अन्य का अन्य प्रगट करे। जैसे किसी ने कहा कि तू ऐसा कहना, उसने वे ही अक्षर तो नहीं कहे, परन्तु उसी प्रयोजन सहित कहे तो उसे मिथ्यावादी नहीं कहते - ऐसा जानना। यदि जैसे का तैसा लिखने का सम्प्रदाय हो तो किसी ने बहुत प्रकार से वैराग्य चिन्तवन किया था उसका सर्व वर्णन लिखने से ग्रन्थ बढ़ जायेगा, तथा कुछ न लिखने से उसका भाव भासित नहीं होगा, इसलिये वैराग्य के ठिकाने थोड़ा-बहुत अपने विचार के अनुसार वैराग्य पोषक ही कथन करेंगे, सराग पोषक कथन नहीं करेंगे। वहाँ प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ इसलिये अयथार्थ नहीं कहते। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

प्रश्न:- अयथार्थ कहना तो जैनशास्त्र में संभव नहीं है?

उत्तर:- प्रयोजन अन्यथा प्रगट करे तो अयथार्थ कहलाये। जैसे किसी ने अमुक शब्द कहने को कहा, उस अनुसार शब्द न कहे, परन्तु प्रयोजन कह दे तो वह मिथ्यावादी नहीं है।

वे ही शब्द हों ऐसा नियम नहीं है। जैसे किसी राजकुमार को वैराग्य होने पर उसने बहुत वैराग्य के शब्द कहे हों; परन्तु कथा में उतने ही शब्द कहे जायें ऐसा नियम नहीं है; परन्तु वैराग्य का प्रयोजन दर्शाने वाले शब्द आते हैं। ग्रन्थकर्ता उस प्रसंग में अपने विचारानुसार वैराग्य प्रेरक शब्द लिखते हैं; परन्तु राग वर्द्धक शब्द नहीं लिखते। इसकारण प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ। अत: उन्हें असत्यार्थ नहीं कहते। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

कथानुयोग अनुसार कथा कहना तो भाषा का कार्य है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। यहाँ तो पद्धति बताते हैं।

....तथा प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो उसी का पोषण करते हैं। जैसे- किसी ने उपवास किया, उसका तो फल अल्प था, परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणति की विशेषता हुई इसलिये विशेष उच्चपद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं। इसीप्रकार अन्य जानना।

तथा जिस प्रकार किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी व नमस्कार मन्त्र का स्मरण किया व अन्य धर्म-साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं; तथापि उनको उन शीलादि का ही फल निरूपित करते हैं। उसी प्रकार कोई पाप कार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य कर्म के उदय से नीचगति को प्राप्त हुआ अथवा कष्टादिक हुए; उसे उसी पापकार्य का फल निरूपित करते हैं।- इत्यादि इसीप्रकार जानना।....

प्रथमानुयोग में तो जिसको मुख्यता होती है उसी का पोषण किया जाता है। जैसे किसी ने उपवास किया, उसका फल तो अल्प था; परन्तु अन्यधर्म से स्वर्ग की प्राप्ति हुई; वहाँ एक उपवास से ही स्वर्ग की प्राप्ति कह देते हैं। उपवास का फल बताने की ऐसी पद्धति है। इसी तरह किसी ने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी, नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और उसका कष्ट दूर हो गया। जैसे कि सीताजी की अग्नि परीक्षा में अग्नि का पानी हुआ; वह ब्रह्मचर्य का फल नहीं है, वैसा तो पूर्व पुण्य के फल में हुआ है; परन्तु कथाकार ब्रह्मचर्य के फल में अग्नि शीतल हुई कहते हैं। -ऐसी इस अनुयोग के व्याख्यान की पद्धति है। ब्रह्मचर्य के पालन से अग्नि

शीतल हो गई, इसलिये 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है' –ऐसा कोई कहे तो यह बात मिथ्या है। वस्तुत: अग्नि स्वयं के कारण शीतल हुई है और पूर्व कर्म उसमें निमित्त है।

मानतुंग मुनि द्वारा भक्तामर स्तोत्र पढ़ने से ताले टूट गये– ऐसा कथन हो; वहाँ ताले टूटने की योग्यता तो तालों की है और उसमें सीधा निमित्त पूर्व का पुण्य है; तथापि भक्तामर के शुभभाव से ताले टूटे –ऐसा कहा जाता है। वस्तुत: आत्मा जड़ की पर्याय का स्वामी नहीं है। कथानुयोग में वर्तमान के शुभराग पर आरोप करके कथन किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि जैनशासन से माहात्म्य से ऐसा हुआ।

इसी तरह कोई व्यक्ति झूठ बोलता हो और लक्ष्मी (धनादि) चली जाये तो कहते हैं कि झूठ के कारण लक्ष्मी चली गई । यद्यपि वहाँ लक्ष्मी के जाने में पूर्व असाता का उदय निमित्त है, तथापि वर्तमान के अशुभभाव पर आरोप किया जाता है। जैसे किसी ने जीवन में बहुत शिकार की हो और बाद में उसके शरीर में कीड़े पड़ जायें, तो यह स्थिति पूर्व असाता के निमित्त से हुई है; उसका आरोप वर्तमान के अशुभभाव पर आता है।– इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

....यहाँ कोई कहे – ऐसा झूठा फल दिखलाना तो योग्य नहीं है; ऐसे कथन को प्रमाण कैसे करें?

समाधान:– जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाये बिना धर्म में न लगें व पाप से न डरें, उनका भला करने के अर्थ ऐसा वर्णन करते हैं। झूठ तो तब हो, जब धर्म के फल को पाप का फल बतलायें, पाप के फल को धर्म का फल बतलायें, परन्तु ऐसा तो है नहीं। जैसे – दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करें, वहाँ उपचार से एक पुरुष का भी किया कहा जाये तो दोष नहीं है। अथवा जिसके पितादिक ने कोई कार्य किया हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचार से पुत्रादि का किया कहा जाये तो दोष नहीं है। उसी प्रकार बहुत शुभ व अशुभ कार्यों का एक फल हुआ, उसे उपचार से एक शुभ व अशुभ कार्य का फल कहा जाये तो दोष नहीं है। अथवा अन्य शुभ व अशुभ कार्य का फल जो हुआ हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचार से किसी अन्य ही शुभ व अशुभ कार्य का फल कहें तो दोष नहीं है।

उपदेश में कहीं व्यवहार वर्णन है, कहीं निश्चयवर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहार वर्णन किया है, इसप्रकार इसे प्रमाण करते हैं। इसको तारतम्य नहीं मान लेगा; तारतम्य का तो करणानुयोग में निरूपण किया है, सो जानना।....

प्रश्नः– ऐसे झूठे फल दर्शाना तो योग्य नहीं है– ऐसे कथन को प्रमाण कैसे करें?

समाधानः– ऐसा पाप करेगा तो कीड़े पड़ेगे, नरक में जाना पड़ेगा इत्यादि कहते हैं। इस प्रकार बताकर अज्ञानी को धर्म में लगाते हैं। बहुत फल बताये बिना जीव धर्म में नहीं लगता; इसलिये उसका भला करने के लिये ऐसा कहते हैं।

यदि पुण्य के फल को पाप का फल और पाप के फल को पुण्य का फल बतावे तब तो झूठ कहा जाये। जैसे दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करते हैं और उसे उपचार से किसी एक पुरुष ने किया कहें तो वहाँ दोष नहीं है। अथवा जैसे पितादिक ने कार्य किया हो तो पुत्र के नाम से कहें तो दोष नहीं है; इसी प्रकार बहुत शुभकार्यों का फल अथवा अशुभ कार्यों का फल प्राप्त किया हो तो एक शुभ या अशुभ के फल में यह प्राप्ति हुई– ऐसा कहते हैं। जैसे कि मेढ़क ने एक फूल से भगवान की पूजा की और स्वर्गगति को प्राप्त हुआ– ऐसा कहा जाता है। वहाँ स्वर्ग की प्राप्ति तो अन्य पुण्य साथ में था उससे हुई है उसका आरोप एक पूजा पर कर दिया है।

तथा कोई पापी जीव माँसादि का भक्षण करता हो, परन्तु किसी समय गौ शाला आदि में रूपये दान दे तो उसको मुख्य करके कहते हैं कि तूने ठीक किया।

धर्मकथानुयोग में कहीं व्यवहार और कहीं निश्चय का वर्णन है। अब यहाँ उपचाररूप व्यवहार का वर्णन किया है। इस प्रकार उसका प्रमाण करना; परन्तु उसको तारतम्यरूप नहीं मान लेना। क्षण–क्षण के परिणाम करणानुयोग अनुसार है। अर्थात तारतम्य निरूपण करणानुयोग में है– ऐसा जानना।

इसप्रकार प्रथमानुयोग के कथन करने की जो विधि है उसे नहीं समझे तो मान्यता विपरीत हो जाती है। उसमें कहीं निश्चय का और कहीं व्यवहार का निरूपण होता है। उसमें भी दो प्रकार हैं (1) कोई भविष्य में निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो उसके पूर्व के निःशंकित आदि गुणों को समकित कह देते हैं और (2) भविष्य में सम्यक्त्व पाने वाला नहीं

है, तो भी वर्तमान में उसको नि:शंकित आदि गुण हों तो उन्हें भी सम्यक्त्व कह देते हैं।

इस प्रकार भविष्य में अनारोपित (निश्चय) हुआ उसका वर्तमान में आरोप करते है। और भविष्य में समकित पाने वाला नहीं है तथापि वर्तमान में नि:शंकितता देखकर समकित का आरोप करते हैं; परन्तु इससे उसके भव का अन्त नहीं आ जाता। आत्मा के अवलम्बन बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होता।

इसी प्रकार कोई अट्ठाईस मूलगुण पालन करे तो उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं उसके दो प्रकार - (1) भविष्य में शुद्ध आत्मा के आश्रय से चारित्र पाने वाला है उसको आरोप वर्तमान में करते है। तथा (2) भविष्य में चारित्र पाने वाला नहीं है, तो भी वर्तमान में कषाय मंदता देखकर उसमें चारित्र का आरोप कर देते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगो में से कोई एक अंग देखकर समकित कहते हैं। व्यवहार ज्ञान सच्चा हो तो सम्यग्ज्ञान कहते हैं और 28 मूलगुणादि सही हों तो सम्यक्चारित्र कह देते हैं; परन्तु इसी प्रकार मान नही लेना चाहिये। द्रव्यलिंगी ने निर्दोष आहार-पानी लिया और महाव्रत पालन किये तो भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, तो फिर भील ने कौए का मॉस छोड़ा इसलिये सम्यग्दर्शन हो जाए- ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ कहते हैं कि उपचार को उपचार मानना परन्तु ज्यों का त्यों ही नहीं मान लेना। किसी को नि:शंकित अंग से समकित होना कहा हो तो वैसा ही नहीं मान लेना। व्यवहार श्रेष्ठ है इसलिये निश्चय प्राप्त हो जायेगा- ऐसा नहीं मान लेना। अर्थात् आरोपित कथन को निश्चय नही मान लेना। समय-समय के परिणाम की व्याख्या करणानुयोग से जानना।

....तथा प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे - जिन जीवों के शंका-कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं; परन्तु किसी एक कार्य में शंका-कांक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर होता है; परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहार सम्यक्त्व में उपचार किया और व्यवहार सम्यक्त्व के किसी एक अंग में सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्व का उपचार किया- इसप्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।....

प्रथमानुयोग में उपचाररूप कोई धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे अंजनचोर को शंका नहीं हुई- इस कारण उसको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं। -इस प्रकार कथानुयोग में उपचार कथन है। वस्तुत: सम्यक्त्व तो तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर ही होता है; परन्तु कांक्षा अथवा शंका न की हो तो उस पर (सम्यक्त्व का) आरोप कर देते हैं। अंजनचोर ने भविष्य में स्वभाव के अवलम्बन से निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त किया तो व्यवहार पर आरोप आया है और व्यवहार का आरोप एक अंग पर आया है। यह तो निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त जीव की बात है। बहुत से जीव (सम्यक्त्व के) आठ अंगों का पालन करते हैं, तथापि निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करते- इस कारण उनके व्यवहार नहीं कहते; परन्तु जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसके व्यवहार का आरोप आता है। व्यवहार का एक अंग प्रगटा है इसलिये निश्चय सम्यक्त्व प्रगटा है- ऐसा इसका अर्थ नहीं है; परन्तु निश्चय सम्यक्त्व पाता है तो व्यवहार पर आरोप आता है। इसलिये कथानुयोग के कथन को समझना चाहिये। नि:शंकित आदि सम्यग्दर्शन के व्यवहार अंग हैं, उन पर (सम्यक्त्व का) आरोप करके कथन करने की इस अनुयोग की पद्धति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार से निश्चय होता है; परन्तु निश्चय धर्म प्रगट करे तो व्यवहार पर आरोप आता है और उपचार से सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

प्रथमानुयोग की अपेक्षा भी जो व्यवहार कहा है वह तो जड़ का है और शुभराग होता है वह पुण्य है। उससे वर्तमान में धर्म नहीं है, भविष्य में धर्म नहीं है और वह धर्म का कारण भी नहीं है। सम्यग्दर्शन के व्यवहार आठ अंग राग है- पुण्य है, जहर है; शान्ति की विपरीत अवस्था है। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है वह भाव भी राग है। राग रहित आत्मा की श्रद्धा से भव का अभाव होता है।

....तथा किसी जैनशास्त्र का एक अंग जानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं। सो संशयादि रहित तत्त्वज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है; परन्तु यहाँ पूर्ववत् उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं।....

किसी जीव के (शास्त्र का) एक अंग जानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान हो, द्रव्य-गुण-पर्याय का सच्चा ज्ञान हो और संशयादि से रहित होने पर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। इसप्रकार जो निश्चय सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं करता उसके तो

(व्यवहार सम्यग्ज्ञान का) आरोप भी नहीं आता। जिसने ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ने पर भी आत्मा का ज्ञान नहीं किया उसके (व्यवहार सम्यग्ज्ञान का) आरोप नहीं आता; परन्तु जो जीव भविष्य में सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है - ऐसे जीव को थोड़ा ज्ञान होने पर भी उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान शास्त्र में से नहीं आता। शास्त्राभ्यास को उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं; कारण कि शास्त्र परद्रव्य है, उनके प्रति लक्ष वह शुभराग है। आत्मस्वभाव को जाने बिना उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान तो संशयादि दोष रहित होने पर ही होता है।

* राग से ज्ञान होता होगा या आत्मा से ज्ञान होता होगा- यह संशयदोष है।

* प्रथम शुभराग आवे तो सम्यग्ज्ञान होता है- यह विपरीतता है।

* कुछ होगा, अपने को समझने में नही आता यह अनध्यवसाय है। इसप्रकार ये तीनों दोष टालकर आत्मा का ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है।

....तथा कोई भला आचरण होनेपर सम्यक्चारित्र हुआ कहते हैं। वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे श्रावक कहते हैं। सो श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती होने पर होता है; परन्तु पूर्ववत् उपचार से इसे श्रावक कहा है। उत्तरपुराण में श्रेणिक को श्रावकोत्तम कहा है सो वह तो असंयत था; परन्तु जैन था इसलिये कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।....

कोई जीव ब्रह्मचर्य पालन करे तो उसको चारित्र हुआ कहते हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानता हो और कोई छोटी सी प्रतिज्ञा ले ली हो तो उसको श्रावक कह देते हैं। वस्तुत: श्रावक तो पंचम गुणस्थान प्रगट करने से होता है।

उत्तरपुराण में राजा श्रेणिक को असंयत सम्यग्दृष्टि होने पर भी उत्तम श्रावक कह दिया है। यद्यपि उत्तम श्रावक तो दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावाला होता है; तथापि श्रेणिक को उत्तम श्रावक कह दिया; क्योंकि वह जैन था, उसे वीतराग देव की प्रतीति थी, आत्मभान था- इस कारण उत्तम श्रावक का आरोप कर दिया है।

वस्तुत: श्रावक तो पंचम गुणस्थान होने पर कहलाता है। आत्मा के भानपूर्वक उसमें लीनता करना चारित्र है। (प्रथमानुयोग में) निश्चयचारित्र का आरोप व्यवहारचारित्र में करते हैं और व्यवहारचारित्र का आरोप एक शुभराग में करते हैं। किसी जीव को भविष्य में पंचम गुणस्थान प्रगटा हो तो उसे वर्तमान में श्रावक कह देते हैं। अथवा किसी को न प्रगटा हो तो भी वर्तमान में श्रावक कह देते हैं।

इसप्रकार जहाँ जैसा कहा हो वहाँ वैसा समझना चाहिये।

....तथा जो सम्यक्त्व रहित मुनिलिंग धारण करे, व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाता हो, उसे मुनि कहते हैं। सो मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होने पर होता है; परन्तु पूर्ववत् उपचार से उसे मुनि कहा है। समवसरण सभा में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सर्व ही शुद्ध भावलिंगी मुनि नहीं थे; परन्तु मुनिलिंग धारण करने से सभी को मुनि कहा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

कोई जीव सम्यक्त्व रहित मुनिलिंग धारण करे अथवा कोई मुनि अतिचार लगाता हो, तो भी उसको मुनि कहते हैं; परन्तु नग्नदशा होना चाहिये, उसकी प्ररूपणा आगमानुसार होना चाहिये। अब मुनि तो छठवां-सातवां गुणस्थान प्रगट होने पर होता है। जिसके अन्तर में वीतरागता वर्तती हो उसको मुनि कहते हैं।

समवसरण में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सभी शुद्ध भावलिंगी नहीं थे। वहाँ कोई मिथ्यादृष्टि, कोई चौथे, कोई पाँचवें गुणस्थान वाले भी होते हैं; परन्तु बाह्य में नग्नदशा होने से उन्हें मुनि कहते हैं। इसीप्रकार सर्वत्र जानना।

....तथा प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे -विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में सम्भव है, और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया वह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

तथा जिसप्रकार ग्वाले ने मुनि को अग्नि से तपाया, सो करुणा से यह कार्य किया; परन्तु आये हुए उपसर्ग को तो दूर करे, सहज अवस्था में जो शीतादिक का परीषह होता है, उसे दूर करने पर रति मानने का कारण होता है, और उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है। इसीसे विवेकी उनके शीतादिक का उपचार नहीं करते। ग्वाला अविवेकी था, करुणा से यह कार्य किया, इसलिये उसकी प्रशंसा की है, परन्तु हस छल से औरों को धर्मपद्धति में जो विरुद्ध हो वह कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा जैसे वज्रकरण राजा ने सिंहोदर राजा को नमन नहीं किया, मुद्रिका में प्रतिमा रखी; सो बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि राजादिक को नमन करते हैं, उसमें दोष नहीं है; तथा मुद्रिका में प्रतिमा रखने में अविनय होती है, यथावत् विधि से ऐसी प्रतिमा नहीं होती, इसलिये इस कार्य में दोष है; परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था, उसे तो धर्मानुराग से 'मैं और को नमन नहीं करूँगा' ऐसी बुद्धि हुई; इसलिये उसकी प्रशंसा की है। परन्तु इस छल से औरों को ऐसे कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोगकष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कार मन्त्र स्मरण किया; परन्तु ऐसा करने से तो निःकांक्षित गुण का अभाव होता है, निदानबन्ध नामक आर्त्तध्यान होता है, पाप ही का प्रयोजन अन्तरंग में है इसलिये पाप ही का बन्ध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिककार्यों के अर्थ धर्मसाधन करना युक्त नहीं है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

इसीप्रकार प्रथमानुयोग में अन्य कथन भी हों, उन्हें यथासम्भव जानकर भ्रमरूप नहीं होना।....

कथानुयोग में, धर्मबुद्धि से कोई अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा की जाती है। यहाँ धर्म से शुभभाव समझना चाहिये और जो कार्य अपनी भूमिका के योग्य न हो उसे अनुचित

कहते हैं। जैसे कि विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया वह धर्मानुराग से किया; परन्तु वह कार्य मुनि के योग्य नहीं है। अपने को अपनी उच्च दशा छोड़कर अन्य के हित में निमित्त होना योग्य नहीं है।- ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में संभव है। मुनि कपट करके ब्राह्मण का रूप धारण करे तो मुनिपना नहीं रहता, उसका मुनिपना छूट जाता है। यह कार्य तो गृहस्थधर्म में संभव है, गृहस्थ को वैसे शुभ परिणाम आते हैं। मुनि को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, उन्हें ब्राह्मण का वेष और तीन पेंड जमीन आदि नापना योग्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि मुनि का ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य की प्रधानता बतलाने के लिये विष्णुकुमार की प्रशंसा की है। तथापि इससे अन्य जीवों को श्रेष्ठ धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

दूसरा दृष्टान्ता यह है कि- ग्वाले ने मुनिराज को अग्नि से तपाया। सर्दी बहुत थी इसलिये करुणाभाव से अग्नि प्रज्ज्वलित की, सर्दीरूप अवस्था दूर करने से रति होने का कारण होता है; परन्तु उन्हें तो रति करना नहीं है इसलिये वहाँ तो उल्टा उपसर्ग होता है। इसलिये विवेकी जीवों को ऐसा उपचार करना योग्य नहीं है। प्रथमानुयोग में एक अंग (करुणाभाव) बताकर उसको अच्छा कहते हैं और किसी कारण करुणाअंग की प्रशंसा भी करते हैं; परन्तु मुनि को अग्नि से तपाकर ठण्ड दूर करना योग्य नहीं है- ऐसा आशय है। कथानुयोग में करुणाअंग की महिमा की, परन्तु धर्म से विरुद्ध हो वह कार्य करना योग्य नहीं है।

पुराणों में कथा आती है कि सिंहोदर राजा मिथ्यादृष्टि था और वज्रकर्ण राजा सम्यग्दृष्टि था- इस कारण वह सिंहोदर राजा को नमस्कार नहीं करके मुद्रिका में प्रतिमा रखकर उसको नमस्कार करता था। अब बड़े-बड़े धर्मी जीव मुसलमान राजा को नमस्कार करें तो भी वहाँ राग का- चारित्र का दोष है, परन्तु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है। प्रतिमा को अंगुठी में रखना योग्य नहीं है, यथायोग्य विधिपूर्वक ऐसा नहीं होता, व्रजकर्ण राजा को यह ज्ञान नहीं था- इस कारण धर्मानुरागवश अन्य को नमस्कार नहीं करूँगा, इस बुद्धि से नमस्कार नहीं किया- इसलिये उसकी प्रशंसा की है। मैं जैन हूँ, अन्य मिथ्यादृष्टि को नमस्कार नहीं करूँगा- ऐसी बुद्धि की प्रशंसा की; परन्तु अंगुठी में प्रतिमा रखना अविनय है; तथापि प्रथमानुयोग में धर्मानुराग देखकर प्रशंसा करते हैं।

देखो, समयसार में राग की प्रशंसा का निषेध करते हैं और यहाँ प्रथमानुयोग में मिथ्यादृष्टि के राग की भी प्रशंसा की है; तो यहाँ अपेक्षा समझना चाहिये। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शुभराग कर्तव्य है अथवा लाभ का कारण है। यहाँ राजा ने कपट किया और मुद्रिका में प्रतिमा रखी, इसे देखकर अन्य को ऐसा कार्य करना योग्य नहीं है।

प्रथमानुयोग में ऐसा उपदेश आ जाता है। ज्ञानी उपदेश का कर्ता नहीं है, सहज आ जाता है। उपदेश की भाषा जड़ की पर्याय है। इच्छा के कारण भाषा होती है- ऐसा माने तो पर का कर्ता होकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यहाँ प्रथमानुयोग में ऐसा कथन आता है कि ऐसा उपदेश करना, तो क्या (आत्मा) उपदेश कर सकता होगा? नहीं। वाणी, वाणी के कारण निकलती है, उसमें कैसा उपदेश होता है- यह ज्ञान कराते हैं।

तथा किसी ने पैसा, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये भगवान का मन्दिर बनवाया, रोग हुआ तो उसे दूर करने के लिय प्रतिमा बनवायी, पुत्र होने पर सम्मेदशिखर की यात्रा निकालूँगा, (ऐसा भाव किया) अथवा कोई नमस्कार मंत्र पढ़ता है, सवा लाख णमोकार मंत्र के जाप करूँगा तो खोया हुआ पुत्र मिल जायेगा- ऐसे कथन प्रथमानुयोग में आते हैं। वहाँ (ऐसे भाव में) निकांक्षितगुण का अभाव होता है और निदान बंध होता है तथा यह प्रयोजन पापकार्य का है।

श्रीपाल को कुष्ट हुआ था और गंदोधक लगाने से वह रोग मिट गया था। वहाँ वस्तुत: तो असाता मिट जाने से साता हुई है। अब यह कथा पढ़कर कोई विचारे कि गंदोधक लगाने से मेरी ऑखे, गला आदि ठीक रहेंगे, तो इस मान्यता में मिथ्यात्व विद्यमान है और उससे पाप का बंध होता है; परन्तु (मोहित होकर) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की पूजा नहीं की और देवादिक की पूजा की- इस कारण उसकी प्रशंसा प्रथमानुयोग में की जाती है ऐसा समझना चाहिये; परन्तु वहाँ धर्म तो है ही नहीं। वहाँ तीव्र अशुभ परिणाम नहीं हुए; किन्तु कुछ अशुभ घटा इसलिये उसकी प्रशंसा करते हैं। किन्तु इसका छल ग्रहण करके अन्य को लौकिक कार्यों के लिए धर्म साधन करना योग्य नहीं है। इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। अज्ञानी ने कुदेवादिक को नहीं माना- इस कारण पाप का बंध कम हुआ, इससे प्रशंसा की है। अत: यथायोग्य समझना चाहिये, परन्तु भ्रमरूप नहीं होना चाहिये।

करणानुयोग के व्याख्यान का विधान

....अब, करणानुयोग में किसप्रकार व्याख्यान है सो कहते हैं:-

जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा करणानुयोग में व्याख्यान है। तथा केवलज्ञान द्वारा तो बहुत जाना, परन्तु जीव को कार्यकारी जीव-कर्मादि का व त्रिलोकादिक का ही निरूपण इसमें होता है। तथा उनका भी स्वरूप सर्व निरूपित नहीं हो सकता, इसलिये जिस प्रकार वचनगोचर होकर छद्मस्थ के ज्ञान में उनका कुछ भाव भासित हो, उस प्रकार संकुचित करके निरूपण करते हैं। यहाँ उदाहरण - जीव के भावों की अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, वे भाव अनन्तस्वरूपसहित वचनगोचर नहीं हैं, वहाँ बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं। तथा जीवों को जानने के अनेक प्रकार हैं, वहाँ मुख्य चौदह मार्गणा का निरूपण किया है। तथा कर्मपरमाणु अनन्तप्रकार शक्तियुक्त हैं, उनमें बहुतों की एक जाति करके आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ कही हैं। तथा त्रिलोक में अनेक रचनाऐं हैं, वहाँ कुछ मुख्य रचनाओं का निरूपण कहते हैं। तथा प्रमाण के अनन्त भेद हैं, वहाँ संख्यातादि तीन भेद व इनके इक्कीस भेद निरूपित किये हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

करण अर्थात् सूक्ष्म परिणाम अथवा अवस्था। शास्त्र में दस करण आते हैं- उदय, बंध, उपशम, संक्रमण, उत्कर्षण, निद्वत, निकाचित, अपकर्षण आदि पुद्गल की उस प्रकार की अवस्था कर्म के कारण होती है उसका ज्ञान कराते हैं।

जैसे केवली भगवान ने एक समय में तीनकाल-तीनलोक के पदार्थों को जाना; परन्तु आत्मा को कार्यकारी जीव-कर्मादिक का व त्रिलोकादिक का ही करणानुयोग में व्याख्यान है। ज्ञान में अनन्त ज्ञात होता है, उसका अनन्तवां भाग वाणी में आता है। भगवान वाणी के कर्ता नहीं है; मैंने तो बहुत जाना है, परन्तु वाणी के द्वारा थोड़ा ही कह सकता हूँ- ऐसा विकल्प भगवान को नहीं है, वाणी द्वारा थोड़ा ही आता है। जीव को इतनी भाषा की आवश्यकता है अथवा दुनिया को लाभ हो उतनी भाषा बोलूँ- ऐसा विकल्प भगवान को नहीं है, उनकी वाणी तो सहज ही निकलती है। उसका उदाहरण- जीवों के भावों की अपेक्षा से गुणस्थान कहे गये हैं; परन्तु वे भाव अनन्त स्वरूप सहित हैं। एक मिथ्यात्व के अनेक प्रकार होते हैं, एक

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि होता है, एक अनंतभव में मोक्ष जाने वाला मिथ्यादृष्टि होता है– इस कारण इन सबके भावों में भेद बहुत हैं; परन्तु भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। जैसे एक सीड़ी में चौदह सीड़ियाँ हैं। एक सीड़ी और दूसरी सीड़ी के बीच में अन्तर होता है; इसी प्रकार पहले गुणस्थान में बहुत अन्तर होता है। तारतम्यता अनंत प्रकार की है और शुभ–अशुभ के प्रकार असंख्य हैं; तथापि सामान्य प्रकार से उसको एक गुणस्थान कह दिया है। प्रत्येक गुणस्थान में षटगुण हानिवृद्धि होती है। एक ही गुणस्थान लो– दो क्षयोपशम समकिती के भावों की तारतम्यता में बहुत अन्तर है; इतना कथन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता। बहुभाव की एक जाति बतलाकर चौदह गुणस्थान कहते हैं।

तथा जीव को जानने के अनेक प्रकार हैं। वहाँ मुख्य चौदह मार्गणायें गति, जाति, भव्य, अभव्य, कषाय, लेश्या आदि संक्षेप से कहे हैं। ज्ञान अनंत है; परन्तु उसको बताने वाले शब्द संख्यात है। केवली का आयुष्य असंख्यात वर्ष का नहीं होता, संख्यात वर्ष का होता है, इसलिये शब्द संख्यात निकलते हैं। संख्यात शब्दों में अनंतभाव समझाना है, इसलिये संक्षेप में समझाते हैं– ऐसी पद्धति है।

तथा कर्मपरमाणु अनंत प्रकार की शक्ति वाले हैं। एक कर्मपरमाणु में दूसरे कर्मपरमाणु की अपेक्षा अनुभाग अनंतगुना है। पर्याय में वर्तमान योग्यता ऐसी है। जैसे हरी मिर्च की चरपराहट में और लाल मिर्च की चरपराहट में अन्तर है; परन्तु वह वाणी में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। तथा प्रत्येक मिर्च की चरपराहट में भी अन्तर है, ज्ञान में जाना जा सकने पर भी वाणी में उसका वर्णन नहीं हो सकता। ताजा घी के स्वाद का ज्ञान हो सकता है; परन्तु उसका वर्णन वाणी में नहीं हो सकता; इसी प्रकार (केवली ने) जीव और कर्म के बहुत प्रकार ज्ञान में जाने हैं; परन्तु वे वाणी में नहीं आ सकते। इसी ग्रंथ में आगे आया है कि जो जाना है वह सब लिखने में नहीं आ सकता, मात्र कुछ ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार कर्म परमाणु अनेक प्रकार की शक्ति सहित; परन्तु बहुत की एक जाति कहकर आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां कही है।

तथा उर्ध्व–अधो और मध्य– ये तीनलोक हैं। जो वस्तु 'है' उसका निर्माता कोई नहीं हो सकता वह अनादि से है। तीनलोक में अनेक रचनायें हैं, उनका वर्णन वाणी में पूरा नहीं आ सकता।

देवलोक में असंख्य शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, जिनका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता।

तथा संख्या के अनंत भेद हैं। अब अनंत संख्या क्रमशः कहना हो तो उसके लिये अनंतकाल चाहिये; परन्तु किसी जीव की आयु अनन्तकाल की नहीं है कि वह अनंत कह सके। इस कारण संख्यात, असंख्यात और अनंत -ऐसे तीन भेद कहे हैं। अथवा संख्यात के तीन, असंख्यात के नौ और अनंत के नौ भेद -इस प्रकार इक्कीस भेद कहे हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

....तथा करणानुयोग में यद्यपि वस्तु के क्षेत्र, काल, भावादिक अखंडित हैं; तथापि छद्मस्थ को हीनादिक ज्ञान होने के अर्थ प्रदेश, समय, अविभाग-प्रतिच्छेदादिक की कल्पना करके उनका प्रमाण निरूपित करते हैं। तथा एक वस्तु में भिन्न-भिन्न गुणों का व पर्यायों का भेद करके निरूपण करते हैं। तथा जीव-पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं; तथापि सम्बन्धादिक द्वारा अनेक द्रव्य से उत्पन्न गति, जाति आदि भेदों को एक जीव के निरूपित करते हैं, -इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनय की प्रधानता सहित जानना, क्योंकि व्यवहार के बिना विशेष नहीं जान सकता। तथा कहीं निश्चय वर्णन भी पाया जाता है। जैसे- जीवादिक द्रव्यों का प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं। वह यथासम्भव जान लेना।....

वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अखण्डित है; परन्तु उसका ज्ञान कराने के लिये प्रदेश की कल्पना करते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेश कहते हैं, समय का वर्णन करते हैं। एक समय की पर्याय में अनंत अविभाग प्रतिच्छेद पड़ते हैं। एक केवलज्ञान की पर्याय अनंत केवलियों को जानती है, इस कारण अनंत अविभाग प्रतिच्छेद पड़ते हैं- इस प्रकार कल्पना करके निरूपण करते हैं। एक वस्तु में अलग-अलग गुण व पर्यायों को भेद करके निरूपण करते हैं।

तथा एक आत्मा में अनंत गुण और अनंत पर्यायें हैं। गुण-पर्यायें आत्मा में अभेद है। वस्तु अखण्ड एकरूप होने पर भी भेद करके बतलाते हैं। आकाश में अनंत प्रदेश हैं। तथा पर्याय के अन्तिम भाग को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं- ऐसा निरूपण करते हैं। तथा आत्मा भिन्न है और शरीर, मन, वाणी भिन्न है; तो भी संबंध जानकर इस जीव को मनुष्य शरीर

मिला, देव का शरीर मिला ऐसा कथन करते हैं। गति, जाति आदि भेदों को एक जीव का निरूपण करते हैं।

जीव को दस प्राण मिले, इतनी पर्याप्तियां मिली, इतनी इन्द्रियां मिली- इस प्रकार व्यवहारनय की प्रधानता से व्याख्या जानना चाहिये। यद्यपि जीव और शरीर में अत्यन्ताभाव है, तथापि संबंध से कथन करते हैं। यहाँ दो का संबंध जाने बिना (जीव को) जान नहीं सकते इसलिये व्यवहार से (दो द्रव्यों के संबंधरूप) वर्णन करते हैं।

करणानुयोग में आत्मा और कर्म के विशेष भेदों का वर्णन है। अत: उसकी कथन पद्धति को नहीं समझे तो मान्यता विपरीत हो जाती है। आत्मा और कर्म भिन्न होने पर भी संबंध के कारण गति, जाति आदि के भेदों को एक जीव का निरूपण करने वाला व्याख्यान व्यवहारनय की प्रधानता से है। जीव कर्म सहित है- ऐसा कथन आवे वह जिनशासन है या नहीं? वह जिनशासन में आ जाता है। वह कथन निमित्त की अपेक्षा से किया है- ऐसा समझना; परन्तु उसका आश्रय करने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा इन्द्रियवाला है इत्यादि व्यवहारनय का विषय है अवश्य; परन्तु वह जानने के लिये है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग है और उसके ज्ञान में भेद, संयोग आदि का ज्ञान आ जाता है। मनुष्य देह, छह पर्याप्ति आदि तो जड़ है और आत्मा की योग्यता ऐसी है- उनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है- इस कारण वे जीव को मिली ऐसा कहा जाता है। वस्तुत: तो भेद रहित अभेद स्वभाव का अवलम्बन लेने पर ही सम्यग्दर्शन होता है और भेदों का यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्मा और कर्म के अनेक भेद व्यवहारनय से जाने जा सकते हैं; परन्तु उनके लक्ष्य से धर्म नहीं होता। अभेद एकरूप सामान्य आत्मा की अन्तरदृष्टि करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और यही जिनशासन है। भेद आदरणीय नहीं हैं। इसप्रकार निश्चय के भान बिना व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। सामान्य ज्ञानस्वभाव को अग्र-मुख्य किये बिना धर्म नहीं होता। अन्तर्मुख दृष्टि कराने के लिये अभेद को मुख्य और भेद को गौण कहा है; परन्तु वे भेद नहीं हैं- ऐसा नहीं है। यहाँ जीव और जड़ के परिणाम का भेद से कथन करते हैं वे समस्त भेद जानने योग्य हैं; परन्तु यदि उन्हें जानकर अभेद स्वभाव का अवलम्बन न ले तो सम्यग्दर्शन नहीं होता और न भेद का यथार्थ ज्ञान होता है।

अभेद को जानने पर भेद का ज्ञान होता ही नहीं ऐसा नहीं है और सिद्ध की तरह संसारी को वर्तमान में कर्मादि के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है- ऐसा नहीं है। भेदों को नहीं जाने तो मिथ्यादृष्टि हो जाये और एकांत अभेद माने तो मिथ्या है। भेद हैं, वे जानने योग्य हैं। स्व का ज्ञान होने पर भेद यथार्थ रूप से जानने मे आते हैं।

तथा कहीं निश्चय वर्णन भी होता है। जैसे कि जीवादिक द्रव्यों की संख्या का निरूपण किया, जीव अनंत कहे-यह निश्चय से है। वहाँ प्रथक्-प्रथक् इतने ही द्रव्य हैं वह यथासंभव जान लेना चाहिये। अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा ने करणानुयोग के शास्त्र में जीवादि की संख्या का वर्णन किया है कि जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, कालाणु असंख्यात हैं, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक हैं- ऐसा मानना चाहिये।

यहाँ जीवों की अनंत संख्या कही इसलिये वह व्यवहार है और एक कहे तो निश्चय है- ऐसा नहीं है। आलू के एक टुकड़े में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में सिद्ध की अपेक्षा अनंत जीव हैं- यह व्यवहार से नहीं कहा है। अनंत आत्मा कहे सो निश्चय से है। तथा प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशी है। यहाँ असंख्य प्रदेश कहे सो व्यवहार से है- ऐसा नहीं समझना, असंख्य प्रदेश निश्चय से है। यह बात सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं है। जितने आत्मा और परमाणु कहे उतने ही हैं। अज्ञानी कहता है कि मुक्तदशा में ज्योत में ज्योत मिल जाती है और आत्मा भिन्न नहीं रहता; परन्तु यह बात मिथ्या है। आत्मा पूर्ण निर्मल हुआ है। एक में अनेक अथवा अनेक में एक मिल नहीं जाते। आकाश के जिस क्षेत्र में एक सिद्ध रहते हैं वहीं अनंत सिद्ध रहते हैं; परन्तु प्रत्येक सिद्ध अपनी-अपनी सत्ता रखकर रहते हैं। इसलिये करणानुयोग में द्रव्यों की जितनी संख्या कही है वह निश्चय से है। जीव न तो नये होते हैं और न नष्ट होते हैं। पर्याय नई-नई होती है; परन्तु आत्मा नया नहीं होता। कोई ईश्वर नई संख्या निर्मित्त नहीं कर देता।

इसलिये ये भेद यथासंभव जान लेना चाहिये।

....तथा करणानुयोग में जो कथन हैं वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर होते हैं, तथा जो न हों उन्हें आज्ञा प्रमाण द्वारा मानना। जिस प्रकार जीव-पुद्गल के स्थूल बहुत कालस्थायी मनुष्यादि पर्यायें व घटादि पर्यायें निरूपित कीं, उनके तो प्रत्यक्ष अनुमानादि हो सकते हैं; परन्तु प्रतिसमय सूक्ष्मपरिणमन

की अपेक्षा ज्ञानादिक के व स्निग्ध-रूक्षादिक के अंश निरूपित किये हैं वे आज्ञा से ही प्रमाण होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

करणानुयोग में जो कथन है उसमें कोई तो छद्मस्थ को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से गोचर होता है; परन्तु जो अनुमानादि गोचर न हो उसे आज्ञा प्रमाण से ही मानना चाहिये। जीव मनुष्य गति में अमुक काल रहता है- यह बहुत काल स्थायी पर्याय की अपेक्षा से कहा जाता है; परन्तु उसमें समय-समय के परिणाम होते हैं। प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है वह ख्याल में नहीं आता, उसे आज्ञा प्रमाण मानना चाहिये। वस्त्र, मकानादि इतने वर्ष रहते हैं- यह बहुत काल टिकने की अपेक्षा से कहा है; परन्तु समस्त वस्तुओं में प्रतिसमय परिणमन होता है। नई पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय का व्यय होता है और ध्रुवपना कायम रहता है। यह प्रतिसमय परिणमन छद्मस्थ के ख्याल में नहीं आता। यह आगम और न्याय से निर्णीत होता है। आत्मा की ज्ञानादि पर्याय प्रतिसमय परिणमति है। द्रव्यत्व गुण के कारण प्रतिसमय परिणमन हुआ करता है, उसे आज्ञानुसार मानना चाहिये; उसे छद्मस्थ प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। भगवान ने करणानुयोग में कथन किया उसमें स्थूल परिणमन का अनुमान हो सकता है; परन्तु सूक्ष्म परिणमन आज्ञानुसार मानना चाहिये।

....तथा करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया है, केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण है। जिस प्रकार कितने ही जीव तो द्रव्यादिक का विचार करते हैं व व्रतादिक पालते हैं; परन्तु उनके अन्तरंग सम्यक्त्वचारित्र शक्ति नहीं है इसलिये उनको मिथ्यादृष्टि-अव्रती कहते हैं। तथा कितने ही जीव द्रव्यादिक के व व्रतादिक के विचार रहित हैं, अन्य कार्यों में प्रवर्तते हैं, व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं; परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्ति का सद्भाव है इसलिये उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं।....

करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं है, किन्तु केवलज्ञानगम्य पदार्थों का वर्णन है। जैसे कोई जीव छह द्रव्य, सात तत्त्वों का विचार करता हो और व्रतादि का पालन करता हो; परन्तु उसके अन्तरंग में सम्यक्त्व और चारित्र शक्ति नहीं है, इसलिये उसको मिथ्यादृष्टि और अव्रती कहते हैं।

तथा कोई जीव द्रव्यों के विचार से रहित है और व्रत रहित है, अन्य कार्यों में प्रवर्तमान है तथा निद्रादि द्वारा निर्विचार जैसा हो रहता है; तो भी अन्तरंग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सद्भाव होने से उसको सम्यग्दृष्टि या व्रती कहते हैं। कोई मौन हो और व्रतादि का विचार करता हो; परन्तु अन्तर मे आत्मभान न हो तो वह समकिती नहीं है। इसप्रकार यहाँ अन्तरंग परिणामों के अनुसार कथन है।

देखो! शब्द-शब्द में नये-नये न्याय आते हैं। व्याख्यान सुनते समय किसी को ऐसा लगे कि हमने तो बहुत बार यह शास्त्र सुना है, -इस कारण सुनने में ध्यान न दे अथवा इधर-उधर देखा करे तो वह सत्य का अनादर करता है।भाई! तेरी धारणा पर पोते फेरना है। शास्त्र में न्याय के जो प्रकार आते हैं उन्हें नहीं पकड़े तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता। द्रव्यलिंगी मुनि ने ग्यारह अंग कंठस्थ कर लिया तो भी सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। इस शास्त्र का वाचन दूसरी बार हो रहा है तो भी इसमे नवीनता आती है। हमको भाषण करना आ गया, इसलिये ध्यान रखने की क्या आवश्यकता है? ऐसा मान बैठने वाला महान भूल में है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी ऐसे भावसूचक शब्द कह गये हैं कि- 'तुमने पूर्व में यह सुना हो तो भी हम कहते हैं उसे अपूर्व समझकर पढ़ना।

अपने को तो कंठस्थ है और पढ़ना आ गया है- ऐसा मानकर जो (शास्त्र के प्रति) दुर्लक्ष करता है वह व्यवहार अविनय है और जिसके व्यवहार अविनय है उसके निश्चय तो होता ही नहीं। यह काल दुर्लभ है। जिसको समझना हो उसके लिये यह अमूल्य समय है। कोई भी शास्त्र हो तो भी अरुचि नहीं होना चाहिये, ध्यान पूर्वक उसका श्रवण करना चाहिये।

....तथा किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है और उनके अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है, तो उसे मन्दकषायी कहते हैं। तथा किसी जीव के कषायों की प्रवत्ति तो थोड़ी है और उसके अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है, तो उसे तीव्र कषायी कहते हैं। जैसे- व्यंतरादिक देव कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं, तथापि उनके थोड़ी कषायशक्ति से पीत लेश्या कही है। और एकेन्द्रियादिक जीव कषाय कार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनके बहुत कषायशक्ति से कृष्णादि लेश्या कही है। तथा सर्वार्थसिद्धि के देव कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं, उनके बहुत कषाय शक्ति से

असंयम कहा है। और पंचम गुणस्थानी व्यापार अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं, उनके मन्दकषायशक्ति से देशसंयम कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

किसी जीव को कषाय की प्रवृत्ति बहुत है; परन्तु यदि उसके अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है तो उसको मंद कषायी कहते हैं। तथा किसी जीव को कषाय की प्रवृत्ति तो थोड़ी है; परन्तु यदि उसकी अन्तरंग कषायशक्ति अधिक है तो उसको तीव्र कषायी कहते हैं।

व्यंतरादि देव कषायों से नगर का नाश करते हैं, तो भी उनके थोड़ी कषायशक्ति होने से पीतलेश्या कही है। तथा एकेन्द्रिय जीव कषाय का कार्य करते नहीं दिखने पर भी उनके कृष्ण, नील, कापोतलेश्या के निंद्य परिणाम वर्तते हैं। इसतरह करणानुयोग में अन्तर की अवस्था का वर्णन करते है। एकेन्द्रिय जीवों के अनंतानुबंधी की कषायशक्ति है। सर्वार्थसिद्धि के देव तेंतीस सागर की स्थिति वाले होते हैं। वे वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जाने वाले हैं, उनके देवियां नहीं है, दुकान-व्यापार आदि नहीं है, इस कारण (कषाय की) प्रवृत्ति थोड़ी है; परन्तु अन्तरंग में तीन कषाय चौकड़ी का सद्भाव है- इस कारण कषाय शक्ति बहुत है, इसलिये उन्हें असंयमी कहा है और पंचम गुणस्थानवर्ती आत्मज्ञानी श्रावक को दो कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है तथा सम्यक् अनुभव पूर्वक शान्ति वर्तती है। वह जीव करोड़ो रूपये का व्यापार-धंधा करता हो, परिग्रह रखता हो; तो भी उसको दो कषाय चौकड़ी का अभाव होने से देशसंयमी कहा है। सर्वार्थसिद्धि के देव को तेंतीस हजार वर्ष में आहार की इच्छा होती है, तो भी वह असंयमी है और पंचम गुणस्थान वाला प्रतिदिन भोजन करता हो, व्यापार-धंधा करता हो; तो भी आत्मभानपूर्वक कषाय मंदता हुई होने से उसको देशविरति कहा है।

अज्ञानी जीव बाहर से निवृत्ति लेकर बैठा हो और शास्त्राभ्यास करता हो, तो भी अन्तर में आत्मभान नहीं होने से महाकषायी है।

कोई अज्ञानी कहता है कि मनुष्यभव में एक जीव मुनि है और दूसरा जीव श्रावक है। इन दोनों की आयु पूर्ण होने पर ये स्वर्ग में जाते हैं। मुनि की अपेक्षा श्रावक को कम शुभभाव होता है, इसलिये स्वर्ग में उसकी स्थिति मुनि के जीव की तुलना में कम होती है- इस कारण वह श्रावक का जीव स्वर्ग में से पहले निकलकर, मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जा सकता है।- इस अपेक्षा से श्रावकपना श्रेष्ठ है- ऐसा अज्ञानी का तर्क है। उसको पता नहीं है कि मोक्ष तो

वर्तमान पुरुषार्थ के आधीन है। इसलिये ऐसी मान्यता वाला जीव मूढ़ है, वह वस्तुस्वरूप को नहीं जानता है।

....तथा किसी जीव के मन-वचन-काय की चेष्टा थोड़ी होती दिखायी दे, तथापि कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा बहुत योग कहा है। किसी के चेष्टा बहुत दिखायी दे, तथापि शक्ति की हीनता से अल्प योग कहा है। जैसे - केवली गमनादि क्रियारहित हुए, वहाँ भी उनके योग बहुत कहा है। द्वीन्द्रियादिक जीव गमनादि करते हैं, तथापि उनके योग अल्प कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

किसी जीव के मन-वचन-काय की चेष्टा कम दिखने पर भी कर्म ग्रहण शक्ति विशेष हो तो इस अपेक्षा से बहुत योग कहा है। किसी को बहुत चेष्टा दिखने पर भी कर्माकर्षण शक्ति की हीनता से अल्पयोग कहा है। केवली भगवान स्थिर हों उस समय भी उनके बहुत योग है। बालक बहुत दौड़ता है, हिरण बहुत दौड़ता है; तो भी योग थोड़ा है; क्योंकि कर्मग्रहण शक्ति कम है। करणानुयोग की अपेक्षा से भगवान ने देखा वैसा कहा है। इस शास्त्र के अनुसार परिणाम जानना चाहिये।

....तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि सूक्ष्मशक्ति के सद्भाव से उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे- मुनि के अब्रह्म कार्य कुछ नहीं हैं, तथापि नववें गुणस्थान पर्यन्त मैंथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रों के दु:ख का कारण व्यक्त नहीं है, तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

तथा कहीं जिसकी व्यक्तता तो कुछ भासित नहीं होती; तो भी सूक्ष्म के सद्भाव से वहाँ उसका सद्भाव कहा है। जैसे भावलिंगी मुनिराज को अब्रह्मचर्य के भाव नहीं हैं; परन्तु वेद कषाय के उदय का नाश नौवें गुणस्थान में होता है। छठवें गुणस्थान में वेद का उदय होता है; इसलिये उनके मैथुन संज्ञा कही है। चरणानुयोग की अपेक्षा से ब्रह्मचारी कहते हैं; परन्तु करणानुयोग की अपेक्षा से मैथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रों को दु:ख का कारण व्यक्त नहीं होने पर भी कदाचित असाता का उदय कहा है।

नारकी के सुख का कारण व्यक्त नहीं होने पर भी कदाचित साता का उदय कहा है।

भगवान ने सूक्ष्म परिणमन देखा वैसा कहा है। भगवन तीर्थंकर के कल्याणक प्रसंग पर नारकी जीवों के साता का उदय होता है- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। तथा किसी अन्य समय भी साता का उदय होता है, इसलिये कदाचित साता का उदय होता है, इसप्रकार भगवान ने देखा वैसा कहा है।

....तथा करणानुयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिक धर्म का निरूपण कर्मप्रवृतियों के उपशमादिक की अपेक्षा सहित सूक्ष्म शक्ति जैसे पायी जाती है वैसे गुणस्थानादि में निरूपण करता है व सम्यग्दर्शनादि के विषयभूत जीवादिकों का भी निरूपण सूक्ष्म भेदादि सहित करता है। यहाँ कोई करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता, करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बतलाने का मुख्य प्रयोजन है, आचरण कराने की मुख्यता नहीं है। इसलिये यह तो चरणानुयोगादिक के अनुसार प्रवर्तन करे, उससे जो कार्य होना है वह स्वयमेव ही होता है। जैसे- आप कर्मों के उपशमादि करना चाहे तो कैसे होंगे? आप तो तत्त्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है और चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। सो ऐसे सम्यक्त्वादि के सूक्ष्मभाव बुद्धिगोचर नहीं होते। इसलिये करणानुयोग के अनुसार जैसे का तैसा जान तो ले, परन्तु प्रवृत्ति बुद्धिगोचर जैसे भला हो वैसी करे।....

करणानुयोग में ऐसा बतलाते हैं कि दर्शनमोह का उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन होता है, दर्शनमोह का क्षय हो तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण कर्मप्रकृति की अपेक्षा सहित करते हैं। समय-समय के परिणाम छद्मस्थ के पकड़ में नहीं आते, परन्तु करणानुयोग में ऐसा कथन किया है। वहाँ कोई जीव करणानुयोग के अनुसार उद्यम करे तो नहीं हो सकता। जैसे कि कोई कहे कि मैं पहले कर्म का क्षय करूँगा- तो वैसा नहीं हो सकता। कर्म नजर से दिखते नहीं हैं और आत्मा कर्म का नाश कर नहीं सकता; परन्तु स्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ करने से स्वयं कर्म का नाश हो जाता है। यह वस्तुस्थिति होने पर भी करणानुयोग में ऐसा कथन आता है कि सात प्रकृतियों का क्षय हो तो

क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि सात प्रकृतियों के क्षय का पुरुषार्थ करना चाहिये। वस्तुस्थिति तो यह है कि जब जीव स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ करता है तब कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय स्वयं हो जाता है। कर्म का नाश करना नहीं पड़ता- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाते हैं।

यहाँ करणानुयोग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण कर्म के उपशमादि की अपेक्षा किया है; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कोई जीव करणानुयोग के अनुसार पुरुषार्थ करे तो वह नहीं हो सकता है। करणानुयोग में पर्याय की योग्यता बतलाना है। यथार्थ पदार्थ का परिज्ञान कराने का प्रयोजन है। वहाँ आचरण कराने की मुख्यता नहीं है। जीव चरणानुयोग के अनुसार प्रवृत्ति करे कि मैं राग रहित हूँ, ज्ञानानंद हूँ, मुझे कर्म रोकते नहीं है- इस प्रकार अपने स्वभावानुसार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करे। सात तत्त्वों का विचार करना, राग रहित स्थिरता करना- यह चरणानुयोग अनुसार है, उस अनुसार करना चाहिये।

कोई कहता है कि मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय भगवान के समीप (पादमूल में) होता है, अत: मैं भगवान के पास जाऊँ और सात प्रकृतियों का क्षय करूँ- तो यह उपाय नहीं है। धर्मी जीव भगवान के समीप दिव्यध्वनि सुनता है और अपने स्वभाव के आश्रय से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। भगवान के सन्मुख देखने से क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता। अपने स्वभाव के आश्रय से क्षायिक सम्यक्त्व होने पर मोहनीय की सात कर्मप्रकृतियों का क्षय स्वयमेव हो जाता है।

जीव स्वयं तत्त्वादिक के विचार का उद्यम करे कि मैं जीव हूँ, कर्म आदि अजीव हैं; दया-दानादि के भाव पुण्य है- इत्यादि नव तत्त्वों का विचार करे तो स्वयं दर्शनमोह का उपशम हो जाता है। जीव के परिणाम के कारण कर्म का उपशम नहीं होता, कर्म स्वयं उपशमरूप होता है। जीव स्वयं अपने में वीर्य की स्फुरणा करे तब अन्तरायकर्म हट जाता है। जब समकित और चारित्रादि दशा होती है तब कर्म का क्षयोपशम करना नहीं पड़ता। अंतर एकाग्र होकर विचार करे तो कर्म का उपशम अथवा क्षय हो जाता है।

इसप्रकार करणानुयोग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण करते हुए कर्म के उपशमादि की सापेक्षता से वर्णन किया है। छद्मस्थ को ऐसा ख्याल में नही आता कि यह

प्रकृति उपशमरूप हुई है; परन्तु स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ करने पर कर्म स्वयं उपशमदशा को प्राप्त होता है। कर्म प्रकृतियों के उपशमादि की अपेक्षा सहित सूक्ष्म शक्ति जैसी हो वैसी गुणस्थान में निरूपण करते हैं।

तथा सम्यग्दर्शनादि के विषय का निरूपण सूक्ष्मता से करते हैं। कोई कहता है कि सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है- तो यह बात मिथ्या है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद एकरूप आत्मा है। ज्ञान का विषय भेद-अभेद कहा है और चारित्र का विषय वर्तमान निर्मलता कही है।

कोई जीव एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर क्रम से मिथ्यादृष्टि होकर फिर वापिस श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है; तो वहाँ वह स्वयं के कारण से गिर जाता है और वापिस स्वयं के कारण ही चढ़ जाता है। स्वयं ऐसे सूक्ष्म परिणामों को पकड़ नहीं सकता। कोई मिथ्यादृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु वे सूक्ष्म परिणाम कुछ बुद्धिगोचर नहीं होते; इसलिये उनको करणानुयोग के अनुसार जान लेना चाहिये।

कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है तो वह स्वयं के कारण से गिरता है, आत्मा पर कर्म की बलजोरी नहीं है। स्वयं अपने उल्टे पुरुषार्थ से गिरता है तो कर्म के कारण गिरा- ऐसा कहते में आता है। इसप्रकार करणानुयोग में कर्म की सापेक्षता से कथन करते हैं; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

कोई मुनि अंतर में सम्यक्त्व का अभाव करके मिथ्यादृष्टि हो गया हो, उसके सूक्ष्म परिणमन का कथन करणानुयोग में आता है। कर्म के कारण कोई उल्टा नहीं गिरता, स्वयं ही सीधा या उल्टा पुरुषार्थ करता है, उसमें कर्म निमित्तमात्र है।

सम्यक्त्वादि के परिणाम बुद्धिगोचर नहीं होते- इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म के उदय के कारण वैसे परिणाम होते हैं। अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ भी अपना है, वह कर्म के कारण नहीं है। एकेन्द्रिय को विशेष बुद्धि नहीं है तो वहाँ कर्म के कारण पड़ा है न ? नहीं, अपने परिणाम के कारण निगोद में रहता है। जीव प्रचुर भावकलंक परिणाम के कारण निगोद में रहता है। आलू में अनंत जीव एक शरीर में रहते हैं। कोई जीव शुभभाव करके मनुष्य होता है और कोई मनुष्य मरकर निगोद में जाता है। "कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई" -ऐसा समझना चाहिये।

इसलिये करणानुयोग अनुसार जैसा है वैसा जान लेना, परन्तु बुद्धिगोचर अपना भला हो वैसा करना।

यहाँ चारों अनुयोगों में किस पद्धति से कथन होता है।- यह बात चल रही है। यदि जीव कथन के उद्देश्य को समझे तो सम्यग्ज्ञान होता है, अन्यथा तो विपरीत बुद्धि होती है।

करणानुयोग के ग्रंथों में कर्म के उपशमादि से उपशम सम्यग्दर्शनादि होते हैं- ऐसा कथन आता है, उसका आशय यह नहीं है कि मैं कर्म का उपशम करुँ अथवा क्षय करुँ; परन्तु उसको जैसा है वैसा करणानुयोग के अनुसार जान लेना चाहिये।

मैं शुद्ध ज्ञानानंद हूँ। कर्म, शरीरादि जड़ हैं। रागादि क्षणिक विकार है- ऐसा निर्णय करने से कर्म का उपशम स्वयं हो जाता है। कोई कहे कि काललब्धि पकने पर कर्मों का अभाव होता है न ? नहीं। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ- ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करके लीनता करना काललब्धि है। जिस काल में अपना पुरुषार्थ किया वह काललब्धि है। पुरुषार्थ करने पर कर्म स्वयं टल जाते हैं। आत्मवस्तु शुद्ध है, उसकी दृष्टि करके एकाग्रता करना ही भावना है। आत्मा में राग पर्याय कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। राग पर्याय आत्मद्रव्य की है इस अपेक्षा से कथंचित् अभिन्न है; परन्तु उसका अभाव हो जाता है इस अपेक्षा से कथंचित भिन्न है।

यहाँ कहते हैं कि मैं शुद्ध हूँ- ऐसी दृष्टि करके लीनता करना प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्ति होने पर कर्मों का अभाव स्वयं हो जाता है। आत्मा ने कर्मों का अभाव किया वह व्यवहार से कहा जाता है। व्यवहार कहने का कारण यह है कि कर्म कर्म के कारण नष्ट होते हैं- यह नैमित्तिक है, उसमें आत्मा की शुद्धता निमित्त है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाने के लिये कहा जाता है कि आत्मा ने कर्मों का अभाव किया।

'णमों अरिहंताणं' का ऐसा अर्थ किया कि भगवान ने कर्मों का नाश किया, तो क्या आत्मा कर्मों का स्वामी है कि उनका नाश कर सके ? नहीं, आत्मा कर्मों का नाश नहीं कर सकता। जिससमय अरहन्त दशा-केवलज्ञानादिरूप दशा प्रगट हुई उससमय ज्ञानावरणादिरूप कर्मों की कर्मरूप पर्याय मिट गई और सामान्य वर्गणा हो गई, इसलिये भगवान ने कर्मों का नाश किया- ऐसा कहते हैं। इसमें भगवान का पुरुषार्थ निमित्त है- यह बताने के लिये ऐसा कहा है। वस्तुतः जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव जड़ में जड़ के कारण होते हैं, उन्हें आत्मा नहीं

कर सकता। कर्म, कर्म के कारण नष्ट होते हैं; उसमें अरिहन्त का अनंत चतुष्टय निमित्त है- इसकारण अरिहन्त ने कर्मों का नाश किया कहा जाता है। तथा अरिहन्त भगवान ने राग-द्वेष का नाश किया- यह भी उपचार है। वस्तुत: तो स्वभाव में एकाग्रता होने पर राग-द्वेष उत्पन्न ही न होने का नाम राग-द्वेष का नाश करना है।

मनुष्य पर्याय पलटकर देवपर्याय उत्पन्न हुई और जीव ध्रुव रहा। मनुष्यपर्याय के पलटने को मनुष्य गति का नाश होना कहा जाता है। मनुष्यगतिरूप परिणाम आत्मा में हैं, शरीर में नही। गतिरूप परिणाम औदयिकभाव है, वह जीव का स्वतत्त्व है। जीव की गति अरूपी है, उसमें शरीर की बात नहीं है। मनुष्य देह जड़ है, उसमे मनुष्यगति नहीं है और नामकर्म के कारण गति का उदय नहीं है। जड़कर्म और आत्मा के बीच अत्यन्ताभाव है। आत्मा अन्य क्षेत्र में अपनी योग्यता से जाता है और जड़कर्म अपनी योग्यता से जाता है। जड़कर्म आत्मा को आधीन नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है। अत: जीव अपनी भूल से नरक में जाता है, कर्म जीव को नरक में नहीं ले जाता है।

....तथा करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे- हिंसादिक के उपाय को कुमतिज्ञान कहा है; अन्य मतादिक के शास्त्राभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा है; बुरा दिखे, भला न दिखे, उसे विभंगज्ञान कहा है; सो इनको छोड़ने के अर्थ उपदेश द्वारा ऐसा कहा है। तारतम्य से मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान कुज्ञान हैं, सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सुज्ञान हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।....

करणानुयोग में उपदेश की मुख्यतापूर्वक व्याख्यान है उसको सर्वथा वैसा ही नहीं मान लेना। जैसेकि मिल, प्रेस, यंत्र आदि हिंसादि के उपाय का ज्ञान करना कुमतिज्ञान है, शस्त्र का ज्ञान कुमतिज्ञान है- ऐसा वहाँ कहा है। तथा सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यमतों के शास्त्राभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा है तथा बुरा दिखे, भला न दिखे उसे विभंगज्ञान कहा है। तो वहाँ यंत्रादि का अभ्यास छुड़ाने के लिये उसे कुमतिज्ञान कहा है। तथा परमत के शास्त्र का अभ्यास तो ज्ञानी भी करते हैं; परन्तु जिसको कुशास्त्रों की रुचि है उसको वह छुड़ाने के लिये ऐसा कहा है। जिसकी बुद्धि विपरीत है उसको वह छुड़ाने के लिये ऐसा कहा है कि सर्वज्ञदेव कथित

शास्त्रों को पढ़ना चाहिये। वस्तुत: तो मिथ्यादृष्टि का समस्त ही ज्ञान कुज्ञान है। वह समयसार पढ़ता हो तो भी कुज्ञान है। वह अपनी दृष्टि से पढ़ता है और तर्क करता है कि देखो, समयसार में भी लिखा है कि 'विकार का स्वामी कर्म है।' -ऐसा कहकर कर्म पर दोष डालता है। इसप्रकार अपनी दृष्टि से पढ़ता है इसलिये उसका ज्ञान कुज्ञान है। परन्तु समयसार के उस कथन का आशय तो यह है कि धर्मीजीव राग का स्वामी नहीं होता, इसलिये विकार का-राग का स्वामी कर्म है- ऐसा कहा है। कर्म का विकार के साथ व्याप्य-व्यापकभाव है- ऐसा तक कह देते हैं। (देखो, समयसार गाथा-75) तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव शास्त्र का रहस्य नहीं समझता, इसलिये उसका समस्त ज्ञान कुज्ञान है और सम्यग्दृष्टि कुशास्त्र पढ़े तो भी उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है उसका ज्ञान भी सम्यक् है और जिसकी दृष्टि विपरीत है उसका ज्ञान भी विपरीत है। मिथ्यादृष्टि का ग्यारह अंग नौ पूर्व का ज्ञान भी अज्ञान है।

जीव राग करता है इसलिये पुद्गलों को कर्मरूप परिणमना पड़ता है- ऐसा नहीं है। जिन परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता है वे ही कर्मरूप परिणमते हैं, अन्य परमाणु नहीं परिणमते। परमाणु कर्मरूप परिणमते हैं उसमें जीव का राग निमित्त है।

इसी प्रकार रूखा आहार करने से वीर्य का नाश होता है, भेंस का दही खाने से नींद आती है -ये सब कथन निमित्त के हैं। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

....तथा कहीं स्थूल कथन किया हो उसे तारतम्यरूप नहीं जानना। जिस प्रकार व्यास से तीन गुनी परिधि कही जाती है, परन्तु सूक्ष्मता से कुछ अधिक तीनगुनी होती है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं मुख्यता की अपेक्षा व्याख्यान हो उसे सर्वप्रकार नहीं जानना। जैसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान वालों को पापजीव कहा है, असंयतादि गुणस्थान वालों को पुण्यजीव कहा है, सो मुख्यपने से ऐसा कहा है; तारतम्य से दोनों के पाप-पुण्य यथासम्भव पाये जाते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

ऐसे ही और भी नानाप्रकार पाये जाते हैं, उन्हें यथासम्भव जानना।

इसप्रकार करणानुयोग में व्याख्यान का विधान बतलाया।....

तथा कहीं स्थूल कथन किया हो तो उसको तारतम्यरूप नहीं जानना चाहिये। जैसे व्यास से तीन गुनी परिधि कही है; परन्तु सूक्ष्मपने से तीनगुने से कुछ अधिक होती है। इसीप्रकर अन्यत्र समझ लेना चाहिये।

तथा कहीं मुख्यता की अपेक्षा कथन होता है उसको सर्वप्रकाररूप नहीं जान लेना चाहिये। जैसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान वाले जीवों को पापीजीव कहा है; सासादन गुणस्थान वाले जीवों को पापीजीव कहा है; वहाँ दृष्टि अपेक्षा से पापी कहा है। विपरीत अभिनिवेश महान पाप है- इस अपेक्षा से कहा है; परन्तु शुभभाव करे उतना पुण्य है। तथा अविरति गुणस्थान वाले जीव को पुण्यजीव कहा है। वह युद्ध में होने पर भी पुण्यजीव कहा है। वहाँ यह कथन सम्यग्दर्शन की मुख्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये; परन्तु तारतम्यरूप से दोनों में यथासंभव पुण्य-पाप होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यभाव करता है वह पुण्य है और सम्यग्दृष्टि युद्धादि के भाव करता है वह पाप है- ऐसा समझना। दया, दानादि के परिणाम पुण्य हैं, धर्म नहीं। धर्म तो अन्तर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और लीनता है।

इसप्रकार करणानुयोग में अनेकप्रकार की व्याख्यान पद्धति है वह यथासंभव जानना चाहिये। उसका विपरीत अर्थ करने से दृष्टि विपरीत हो जाती है।

इसप्रकार करणानुयोग के व्याख्यान का विधान बतलाया।

चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान-

....अब, चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान बतलाते हैं:-

चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसक साधनादिक उपचार से धर्म हैं। इसलिये व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचार धर्म के भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्म में तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है, और इसके निचली अवस्था में विकल्प छूटता नहीं है; इसलिये इस जीव को धर्मविरोधी कायो ं को छुड़ाने का और धर्मसाधनादि कार्यों को ग्रहण करने का उपदेश इसमें है।....

अब चरणानुयोग में किसप्रकार व्याख्यान है वह यहाँ दर्शाते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धिउपाय आदि में व्याख्यान की पद्धति क्या है वह यहाँ दर्शाते हैं।

चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों को अपने बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश देते हैं। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है। दया, दानादि के परिणाम धर्म नहीं है। आत्मा देह-मन-वाणी आदि से भिन्न है, शांतस्वभाव है- ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और लीनता मोक्षमार्ग है। ज्ञानी को भी अपूर्णदशा में राग आता है; परन्तु वह धर्म नहीं है। दया, दानादि के परिणाम को निमित्तरूप साधन कहते हैं; इसलिये उपचार से व्यवहारनय की प्रधानता से उन्हें धर्म कहते हैं। आत्मा मे 'करण' नाम का गुण अनादि-अनंत है, उस करण-साधन द्वारा निश्चय धर्म प्रगट करे तो व्रतादि के परिणाम को व्यवहार साधन कहते हैं।

अंजनचोर को नि:शंक अंग से समकित हुआ ऐसा कहा; वहाँ भविष्य में उसे अपने स्वभाव के साधन से समकित होता है तो व्यवहार अंग से समकित हुआ ऐसा कहा जाता है।

चरणानुयोग में शुभभाव के भेदों को -जैसे कि अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प को धर्म कह दिया है। वस्तुत: (श्रावक के) बारह व्रत तथा (मुनि के) अट्ठाईस मूलगुणों का पालन धर्म नहीं है, वह पुण्यास्रव है, तो भी उसको धर्म कहा है। राग करते-करते निश्चय वीतरागीदशा होती है- ऐसा नहीं हो सकता। छहढ़ाला में आता है कि 'व्यवहार कारण और निश्चय कार्य', परन्तु कब? निश्चय से आत्मा का साधन करे तो अट्ठाईस मूलगुणों के पालन को उपचार से साधन कहते हैं और पूर्व के विकल्प को भूतनैगमनय से साधन कहते हैं। निश्चयधर्म में ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है।

चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी का अभाव है, उतनी अकषाय निश्चयदशा हुई है। उसमें ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है; परन्तु अभी (तीन चौकड़ी) कषाय शेष है, उसके कारण विकल्प उत्पन्न होता है। पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय के अभावरूप वीतरागता हुई है और छठवें गुणस्थान में तीन कषाय के अभावरूप वीतरागता हुई है। इस वीतरागी पर्याय में ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है। ज्ञानी को अकषाय निर्मल परिणति सदा रहती है; परन्तु अभी सम्पूर्ण निश्चय दशा (परिपूर्ण निर्मलता) नहीं हुई है और राग शेष है, इसलिये धर्म विरोधी कार्यों को छुड़ाने के लिये और धर्म साधनादिरूप कार्यों के ग्रहण कराने का उपदेश

है। इसप्रकार यहाँ दो बातें सिद्ध की हैं:-

(1) आत्मा के आश्रय से प्रगट होने वाले निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र धर्म है।

(2) आत्मा के आश्रय से जो वीतरागता प्रगट होती है उसमें ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं आता। अंदर जितनी स्थिरता हुई है, अकषाय परिणति हुई है उसमें ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है; परन्तु भूमिकानुसार कषाय शेष है, उसमें विकल्प आता है। यदि बुद्धिपूर्वक विकल्प का अभाव हो जाये तो सातवाँ गुणस्थान व उससे ऊपर की दशा आ जाती है। रागी जीव को राग आता है, इसलिये धर्म विरोधी कार्य छुड़ाते हैं- हिंसा नहीं करना इत्यादि करते हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती से कहते हैं कि भगवान की पूजा करो, चैत्यालय बनाओ - इत्यादि शुभराग करने को चरणानुयोग कहता है।

वहाँ वस्तुत: निश्चयरूप मोक्षमार्ग ही धर्म है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी दृष्टि-ज्ञान और रमणता धर्म है; परन्तु जबतक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक अथवा धर्म प्राप्ति की योग्यता न देखे तबतक किसप्रकार उपदेश देते हैं- यह बात अब करते हैं-

....वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है - एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं, एक निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।

वहाँ जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखायी देता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कुछ धर्मसन्मुख होने पर उन्हें व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों को निश्चय - व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव उनको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं; क्योंकि श्रीगुरु सर्व जीवों के उपकारी हैं।

सो असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, उनका तो उपकार इतना ही किया कि और जीवों को उनकी दया का उपदेश दिया।

तथा जो जीव कर्म प्रबलता से निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं हो सकते, उनका इतना ही उपकार किया कि उन्हें व्यवहारधर्म का उपदेश देकर कुगति के दु:खों के कारण पापकार्य छुड़ाकर सुगति के इन्द्रियसुखों के कारणरूप पुण्यकार्यों में लगाया।

वहाँ जितने दु:ख मिटे उतना ही उपकार हुआ।

तथा पापी के तो पापवासना ही रहती है और कुगति में जाता है, वहाँ धर्म का निमित्त नहीं है, इसलिये परम्परा से दु:ख ही प्राप्त करता रहता है। तथा पुण्यवान के धर्मवासना रहती है और सुगति में जाता है, वहाँ धर्म के निमित्त प्राप्त होते हैं, इसलिये परम्परा से सुख को प्राप्त करता है; अथवा कर्म शक्तिहीन हो जाये तो मोक्षमार्ग को भी प्राप्त हो जाता है; इसलिये व्यवहार उपदेश द्वारा पाप से छुड़ाकर पुण्यकार्यों में लगाते हैं।

तथा जो जीव मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ व प्राप्त होने योग्य है; उनका ऐसा उपकार किया कि उनको निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तित किया।

श्रीगुरु तो सर्व का ऐसा ही उपकार करते हैं; परन्तु जिन जीवों का ऐसा उपकार न बने तो श्रीगुरु क्या करें?- जैसा बना वैसा ही उपकार किया; इसलिये दो प्रकार से उपदेश देते हैं।....

चरणानुयोग में उपदेश की पद्धति दो प्रकार की है-

(1) निश्चय पूर्वक व्यवहार का उपदेश, तथा (2) अकेले व्यवहार का उपदेश।

यहाँ तो उपदेश की शैली की बात चलती है। आत्मा उपदेश दे सकता है- यह बात तो है ही नहीं।

जिस जीव की धर्म प्राप्ति की योग्यता न देखे उस जीव को दया, दानादि तथा पूजनादि करने का उपदेश देते हैं। उसमे पुण्य है, धर्म नहीं। ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा की दृष्टि करके उसमें लीन होना धर्म है। रागादि परिणामों को उपचार से धर्म कहते हैं; परन्तु वह धर्म नहीं है। इसप्रकार जिस जीव को निश्चय का ज्ञान नहीं है, राग और निमित्त क्या है उसका ज्ञान नहीं है; और उपदेश देने पर भी ज्ञान होता दिखाई न दे ऐसे जीव को पुण्यादि परिणाम करने का उपदेश देते हैं; परन्तु वह धर्म नहीं है। जीव को दया पालन व चैत्यालय निर्माण आदि का उपदेश देते हैं, इससे वह सीधे कुगति में नहीं जाता। यद्यपि जिसको आत्मा का भान नहीं है उसके चार गतियों का अभाव तो नहीं होता।

(यहाँ बारंबार उपदेश देते हैं- ऐसा कहा है, परन्तु) आत्मा उपदेश की क्रिया नहीं कर सकता है, कारण कि उपदेश तो जड़ है; परन्तु किस प्रकार का उपदेश होता है यह बतला रहे हैं। जिसको निश्चय उपदेश के (समझने की) योग्यता नहीं है उसको व्यवहार का उपदेश देते हैं। जिसको यह समझने की योग्यता न हो कि आत्मा क्या है, विकार क्या है; उसको व्यवहार का उपदेश देकर पुण्य में लगाते हैं; परन्तु पुण्य करते-करते धर्म हो जाता है- यह बात तो है ही नहीं।

जिसको निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है तथा समझने की जिज्ञासा है वैसे जीव को उपदेश देते हैं। 'उपदेश देने पर उसका ज्ञान होता दिखाई देता है'- अर्थात् शिष्य स्वयं के कारण (योग्यता से) ज्ञान करता है तो उपदेश को निमित्त कहा जाता है।

जिसमें समझने की योग्यता है और आत्मा का कल्याण करना है उसको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। चरणानुयोग में उपदेश की पद्धति कैसी है- यह बात यहाँ चल रही है। सभा में तो मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग का उपदेश देना योग्य है। चरणानुयोग में अनार्य को पुण्य करने का उपदेश देते हैं कि शिकार नहीं करना चाहिये, अधर्म नहीं करना चाहिये, परस्त्री मे आसक्तता नहीं करना चाहिये- इत्यादि कहते हैं; परन्तु वह पुण्य है, धर्म नहीं। धर्म तो आत्मा का भान करने वाले को होता है। स्थूल बुद्धिवाले को अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं और सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यक्त्व सन्मुख जीवों को निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। क्योंकि श्रीगुरु तो समस्त जीवों के उपकारी है। वस्तुत: गुरु शिष्य का उपकार नहीं करते; परन्तु शिष्य स्वयं समझे तो गुरु ने उपकार किया-ऐसा कहा जाता है।

तथा असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण करने योग्य ही नहीं हैं। अत: उनको क्या उपदेश देना? उनका तो इतना ही उपकार किया कि अन्य जीवों को उनकी दया पालन का उपदेश दिया, कहा कि उनको दु:ख नहीं देना। परन्तु इस भाव से भी शुभभाव है, धर्म नहीं।

'तथा जो जीव कर्म की प्रबलता से निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सकतें, -यह निमित्त का कथन है। जिसको कर्म की रुचि है अथवा कर्म का लक्ष्य करके बहुत भावकर्म करता है उसको निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। वस्तुत: जड़कर्म राग नहीं कराता है, जीव स्वयं विकार करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। आत्मा कर्म का और कर्म आत्मा का

(आत्मा के विकारी-अविकारी भावों का) कर्ता नहीं है। यहाँ निमित्त सापेक्ष कथन है। जिसका पुरुषार्थ विपरीत है और सत्य समझने की दरकार नहीं है तथा कुतर्क करता है उसको व्यवहार उपदेश देते हैं। जिसको तत्त्वज्ञान का पता न हो उसको पाप के कार्य छुड़ाकर स्वर्गादिक में इन्द्रियसुख के कारणरूप पुण्य कार्यों में लगाते हैं। यदि शुभभाव न करके अशुभभाव करे तो नरक में जाये। आत्मा का भान नहीं है इसलिये परिभ्रमण करना पड़ता है- ऐसे प्राणी को शुभभाव करने को कहते हैं। दया, दान करो; शुभभाव करो- तो स्वर्ग मिलेगा; इस प्रकार उसको पुण्यकार्य में लगाते हैं। इससे स्वर्गादिक मिलते हैं। वहाँ जितना दु:ख मिटा उतना ही उपकार हुआ।

माँस भक्षण करना, शिकार खेलना पापभाव है उस पापभाव को छुड़ाने के लिये कहते हैं कि पाप मत करो, शुभभाव करो।

तथा पापी के तो पाप वासना ही रहती है। (इससे वह नरकादि में जाता है।) नरक में धर्म का निमित्त नहीं है। वहाँ परम्परा से दु:ख प्राप्त करता है। पुण्यवान को धर्म वासना रहती है, वह स्वर्ग में जाता है, स्वर्ग के सुख प्राप्त करता है और वहाँ धर्म श्रवण के निमित्त भी हैं। "अथवा कर्म शक्तिहीन हो जाये तो वह मोक्षमार्ग को प्राप्त हो जाता है।" -यह भी निमित्त का कथन है। कषाय की मंदता के समय कर्म की शक्ति घट जाती है। यदि जीव उससमय शुभ का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करे तो मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध की दृष्टि नहीं करे तो धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ बतलातें हैं कि पाप की अपेक्षा पुण्य में सत् श्रवण के निमित्त मिलते हैं और जीव स्वयं समझने का प्रयत्न करे तो धर्म प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार व्यवहार के उपदेश से हिंसादि पापों से छुड़ाकर दयादि शुभभाव कराते हैं।

तथा जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुए हैं अथवा प्राप्त होने योग्य हैं उनका यह उपकार किया कि उनको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश दिया है। अर्थात् ज्ञानानंद स्वभाव की दृष्टि होवे तो शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हैं उनको भी चरणानुयोग का उपदेश होता है; कारण कि अभी उनके राग शेष रहा है। तथा जो जीव धर्म प्राप्ति के योग्य हैं उनको भी चरणानुयोग का उपदेश देते हैं। मुनियों को भी दूसरे मुनि उपदेश देते हैं। 'भगवती

आराधना' शास्त्र में कथन है कि किसी मुनि को समाधिमरण के समय कदाचित् आहार का विकल्प उत्पन्न हो तो अन्य मुनि उन्हें उपदेश देते हैं कि- 'अरे मुनि! आनंद का भोजन तो अन्तर में पड़ा है, तो फिर तुम बाह्य (जड़) भोजन की इच्छा क्यों करते हो?.....इसलिये ऐसी अभिलाषा का परित्याग कर दो और अन्तर आनंद का भोजन करो।'

इसी प्रकार धर्मसन्मुख जीव को भी निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। जब जीव को धर्मदशा प्रगट होती है तब चौथे गुणस्थान में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग होता है। पाँचवें गुणस्थान में बारह अणुव्रतादि का विकल्प होता है। इस प्रकार निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देकर जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवर्तन कराते हैं।

इस प्रकार श्रीगुरु तो सबका ऐसा ही उपकार करते हैं। वस्तुत: तो कोई किसी का उपकार नहीं करता। धर्मी जीव स्वयं समझता है तो गुरु का उपकार गाता है कि- हे प्रभु! मुझ अज्ञानी को आपने ही आत्मा दिया -ऐसा कहकर विनयभाव दर्शाता है। नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य भी कहते हैं कि- अहो अभयनंदि आचार्य! आपके चरण कमल के प्रसाद से मैं संसार सागर का पार पा गया! मैं अपनी योग्यता से पार पा गया- ऐसा नहीं कहते हैं। गुरु से कोई नहीं तिरता- ऐसा भाव अन्दर में होने पर भी स्वभाव का बहुमान आने पर गुरु के प्रति ऐसा ही बहुमान का विकल्प आता है। अज्ञानी जीव सच्चा विनय नहीं कर सकता। अन्तर निश्चय स्वभाव के विनय बिना (गुरु आदि का) यथार्थ विनय नहीं हो सकता है। 'पंचास्तिकाय' शास्त्र की टीका में कहा है कि 'मिथ्यादृष्टि के सच्ची भक्ति नहीं हो सकती है।' आत्मा के बहुमान वाले के ही सच्ची भक्ति होती है।

इसप्रकार जब शिष्य अपनी योग्यता से समझता है तो गुरु को निमित्त कहा जाता है। परन्तु किसी जीव का ऐसा उपकार न हो तो वहाँ श्रीगुरु क्या करें? उन्होंने तो जैसा बना वैसा उपाय ही किया है।

इसप्रकार चरणानुयोग में दो प्रकार से उपदेश देते हैं। वहाँ उपदेश की क्रिया ज्ञानी के आधीन नहीं है; परन्तु उपदेश का विकल्प कैसा था- यह ज्ञान कराया है।

....वहाँ व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है; उनके उपदेश से जीव पापक्रिया छोड़कर पुण्यक्रियाओं में प्रवर्तता है, वहाँ क्रिया के अनुसार

परिणाम भी तीव्रकषाय छोड़कर कुछ मन्दकषायी हो जाते हैं, सो मुख्यरूप से तो इसप्रकार हैं; परन्तु किसी के न हों तो मत होओ, श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के अर्थ बाह्य क्रियाओं का उपदेश देते हैं।

तथा निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है; उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है; इसलिये श्रीगुरु परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।....

अब व्यवहार के उपदेश में बाह्य क्रिया की प्रधानता है। वहाँ उस क्रिया की प्रधानता से उपदेश है; परन्तु उसका यह आशय नहीं है कि आत्मा जड़ की क्रिया कर सकता है। कोई हिंसा, झूठ, चोरी आदि परिणाम करता हो उससे कहते हैं कि पर की हिंसा छोड़, पैसा छोड़; परन्तु वहाँ जीव जड़ की क्रिया छोड़ सकता है यह आशय नहीं है। वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा है। अज्ञानी को अकेला व्यवहार बताते हैं, अर्थात् अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं। पाप क्रिया छोड़कर पुण्य क्रिया करने को कहते हैं, जिनमन्दिर इत्यादि बनाने को कहते हैं; परन्तु इससे कहीं शुभराग से धर्म नहीं हो जाता। धर्म तो आत्मा की पहिचान करने पर ही होता है। मौन रहो- ऐसा कहा; परन्तु मौन से कषाय की मंदता नहीं होती; परन्तु जीव कषाय की मंदता करे तो मौन को निमित्त कहा जाता है। बाह्य क्रिया से परिणाम सुधरते हैं यह नियम नहीं है; परन्तु उपदेश की ऐसी पद्धति है। श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के लिये बाह्य क्रिया का उपदेश करते हैं। वहाँ आत्मा जड़ की क्रिया नहीं करता- ऐसा उपदेश आ जाता है।

अब ज्ञानी, ज्ञानी को उपदेश देते हैं अथवा ज्ञान प्राप्ति की योग्यता वाले जीवों को उपदेश देते हैं। वहाँ कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान करो। कर्म अजीव है, कर्म के कारण आत्मा को नुकसान नहीं होता। रागादि निश्चय से तेरे परिणाम हैं तो कर्म तो निमित्त कहते हैं। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का उपदेश देते हैं।

आत्मा स्वयं अपने परिणाम का कर्त्ता है। विकारी परिणाम का कर्ता भी आत्मा है, कर्म आत्मा है, आत्मा के साधन से विकार होता है, विकार अपनी पर्याय को देता है- इस प्रकार सम्प्रदान आदि छह कारक आत्मा के हैं। इसी तरह निमित्त में भी छह कारक घटित करना

चाहिये। निमित्तकर्ता, निमित्तकर्म, निमित्त साधन-करण, निमित्त सम्प्रदान इत्यादि छह कारकों का उपचार कर्म में आता है, परन्तु कर्म करण (साधन) है इसलिये विकार होता है यह बात है ही नहीं। अपनी पर्याय में निश्चय छह कारक हैं तो कर्म में व्यवहार छह कारक लगाना। कर्म विकार का करण (साधन) व्यवहार से है। विकार का कर्ता, कर्म, आधार कर्म व्यवहार से है। जैसे कि लकड़ी स्वयं के कारण से ऊँची होती है तो अँगुलीरूप करण निमित्त कहलाता है। इसी तरह जीव और कर्म में समझना चाहिये।

छह सामान्यगुण, चार अभाव और छह कारकों का रहस्य समझने में बहुत रहस्य आ जाता है।

जैसे स्फटिक के पीछे पीला पेपर लगा हो तो पीली झांई दिखलाई देती है। वहाँ स्फटिक की पीली झांई अपनी योग्यता से हुई है; अपने साधन से पीली हुई है तो पीले पेपर को निमित्त कहा जाता है। इसीप्रकार (आत्मा) स्वयं अपने गुण-अवगुण (विकारी-अविकारी दशा) का आधार है तो निमित्त को आधार कहा जाता है। वस्तुतः निमित्त और उपादान दोनों के छह कारक स्वतंत्र हैं- ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश की बात चलती है। (इसे सुनकर) श्रोताजन स्वयं तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके, राग घटाने का अभ्यास करके अपने परिणाम सुधारते हैं। अहो! मैं अकेला चिदानन्द आत्मा हूँ, मेरी प्रशंसा अथवा निन्दा करने वाले मेरे साथ आने वाले नहीं है; तब मैं किससे राग अथवा द्वेष करूँ- इसप्रकार वैराग्य भावना करने से परिणाम सुधर जाते हैं। अज्ञानी को लगता है कि ऐसी सत्य बात सुनने से तो व्यवहार में कठिनाई होगी; परन्तु भाई! सत्य बात सुनने से तो परिणाम सुधरते हैं। तत्त्वज्ञान पूर्वक वैराग्य करे तो परिणाम सुधरते हैं और वहाँ परिणामों के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है। जब तत्त्वज्ञान पूर्वक मुनिदशा होती है तब शरीर की दशा नग्न हो जाती है; परन्तु वस्त्र सहित दशा रहे ऐसा नहीं होता है। आत्मा में ब्रह्मचर्य पालन का भाव हो और देह से अब्रह्मचर्य का सेवन करे ऐसा नहीं हो सकता। अहिंसा पालन का भाव हो तब किसी को मारने के लिये हाथ में छुरी ले ऐसा नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि श्रीगुरु मुख्य तो परिणाम सुधारने का उपदेश देते हैं।

....इसप्रकार दो प्रकार के उपदेश में जहाँ व्यवहार का ही उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दया-धर्म को ही मानना, और को नहीं मानना; तथा जीवादिक तत्त्वों का व्यवहार स्वरूप कहा है उसका श्रद्धान करना; शंकादि पच्चीस दोष न लगाना; निःशंकितादि अंग व संवेगादिक गुणों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं।

तथा सम्यग्ज्ञान के अर्थ जिनमत के शास्त्रों का अभ्यास करना, अर्थ-व्यंजनादि अंगों का साधन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। तथा सम्यक्चारित्र के अर्थ एकदेश व सर्वदेश हिंसादि पापों का त्याग करना, व्रतादि अंगों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। तथा किसी जीव के विशेष धर्म का साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदिक का ही उपदेश देते हैं। जैसे - भील को कौए का माँस छुड़वाया, ग्वाले को नमस्कार मन्त्र जपने का उपदेश दिया, गृहस्थ को चैत्यालय, पूजा-प्रभावनादि कार्य का उपदेश देते हैं, -इत्यादि जैसा जीव हो उसे वैसा उपदेश देते हैं।....

इसप्रकार चरणानुयोग में दो प्रकार के उपदेश में जहाँ व्यवहारनय का ही उपदेश हो वहाँ (सम्यग्दर्शन के लिये कहा जाता है कि) अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु आदि को मानो। तो वास्तव में उनको मानना पुण्य हैं, उसके बदले कोई उसे धर्म मान ले तो वह मूढ़ है। तथा जीव-अजीव की भेद सहित श्रद्धा करने को कहते हैं। नौ तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा पुण्य का कारण है। दया, दानादि पुण्यास्रव है -इत्यादि प्रकार से व्यवहार श्रद्धा कराते हैं। उससे व्यवहार धर्म अर्थात् पुण्य होता है। ज्ञानानंद स्वरूप आत्मवस्तु का साधन (श्रद्धा) करने पर नौ तत्वों की राग सहित श्रद्धा को साधन कहा जाता है। दया, दान व्रत, तप आदि में कषाय की मंदता करने से पुण्य बंध होता है। चरणानुयोग में ऐसी पद्धति है; परन्तु नौ तत्व की भेद सहित-राग सहित श्रद्धा से अथवा व्यवहार करते-करते धर्म होगा। ऐसा मानने वाला चरणानुयोग को नहीं समझा है।

तथा शंकादि पच्चीस दोष नहीं लगाना ऐसा कहते हैं।, कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नही मानना तथा उनको मानने वालों को भी नहीं मानना; क्योंकि वे अनायतन हैं। कुदेवादिक को नहीं मानने से शुभभाव होता है। भगवान के मार्ग में शंका नहीं करना, जाति आदि का मद नहीं

करना, कांक्षा नहीं करना- इत्यादि श्रद्धा से शुभभाव होता है; परन्तु परमार्थ धर्म नहीं होता। चरणानुयोग में अशुभ छुड़ाने और शुभ में लाने के लिये ऐसे कथन होते हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने वाले को विशिष्ट प्रकार का पुण्य होता है; तो भी वह धर्म नहीं है। भगवान चैतन्यस्वभावी सूर्य को पकड़ने से (श्रद्धा करने से) धर्म होता है। व्यवहार से स्वभाव सन्मुख दशा नहीं होती। जीव ने अनंतबार अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया है; परन्तु स्वयं स्वभाव सन्मुख नहीं हुआ- इस कारण धर्म नहीं हुआ। इसलिये शुभराग साधन नहीं है। शुभराग बंध का कारण है, धर्म का कारण नहीं है।

अरहंत देव-निर्ग्रन्थ गुरु को मानना व्यवहार समकित है; परन्तु निश्चय के भान बिना वह व्यवहार व्यवहाराभास है।

यहाँ दो प्रकार के उपदेश में अकेले व्यवहार की बात चलती है। जीव कुदेवादिक को माननेरूप अशुभभाव छोड़ता है और सुदेवादि को माननेरूप शुभराग करता है। किन्तु यदि शुद्ध स्वभाव प्रगट करे तो शुभ को निमित्त कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव तो शुभराग को भी हेय मानता है। वह इस शुभ को भी छोड़कर शुद्ध स्वभाव प्रगट करेगा, इसलिये धर्मी जीव के शुभराग को उपचार से कारण कहते हैं। धर्मीजीव तीर्थंकर प्रकृति को भी हेय मानता है। जिस भाव से बंध होता है उस भाव को मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि जीव शुभराग को तथा तीर्थंकर प्रकृति को हेय मानता है।

अब व्यवहार सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं। भगवान की वाणी के अनुसार रचित षटखंडागम आदि व्यवहार के शास्त्र है और समयसारादि निश्चय के शास्त्र हैं। उनका अभ्यास करना शुभभाव है; क्योंकि वे परद्रव्य हैं। वे धर्म के कारण नहीं हैं। अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास तो व्यवहार धर्म का कारण भी नहीं है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा भगवान के ज्ञान में आया और वाणी के द्वारा कहा गया- उस अनुसार रचित शास्त्रों का अभ्यास करने के लिये कहते हैं, उससे गति सुधरती है। अर्थात् नरकादि न होकर स्वर्गादि होते हैं; इससे संसारसुख की प्राप्ति होती है; परन्तु धर्म नहीं होता।

तथा जिसके निमित्त से ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसकी विनय करना चाहिये, भगवान के शास्त्र की विनय करना चाहिये- ऐसा उपदेश में आता है। ज्ञानी के निमित्त से ज्ञान मिलने पर

भी कहे कि हमारे शास्त्र में भी ऐसी ही बात है और मैं भी ऐसा ही मानता था, हमारे में भी निश्चय-व्यवहार दोनों है- ऐसी मान्यतावाला तो व्यवहार का भी चोर है। और आत्मा का भान नहीं होने से निश्चय का चोर तो है ही। इसलिये ऐसी अविनय नहीं करना चाहिये- इत्यादि उपदेश आता है; वह पुण्य का कारण है।

अब सम्यक्चारित्र के उपदेश की कथन पद्धति कहते हैं। वहाँ कहते हैं कि अहिंसादि का पालन करो। देखो, जिनेन्द्र भगवान के मत के अलावा अन्यमत का आचरण तो व्यवहार आचरण भी नहीं है। चरणानुयोग में मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का तथा श्रावक को बारह व्रत के पालन का तथा उपवासादि करने का कथन है; परन्तु वह पुण्य का कारण है। अशुभभाव छूटकर शुभभाव होता है, उससे पुण्यबंध होता है और स्वर्ग मिलता है; परन्तु धर्म नहीं होता।

भगवान द्वारा कथित चरणानुयोग की ऐसी पद्धति है; परन्तु वह धर्म का कारण नहीं है।

जिनसे व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र न हो सकें ऐसे जीवों को कोई भी प्रतिज्ञा लेने को कहते हैं। जैसे भील को कौए का माँस छुड़ाया; वहाँ पुण्य होता है। इसी तरह हिरण का माँस त्यागो, भैंसे को मत मारो, इतना अशुभभाव कम होता है इसलिये ऐसा कहते हैं। ग्वाले को नमस्कार मंत्र जपने को कहा, उससे पुण्य होता है; परन्तु उससे भव का अभाव नहीं होता है।

चिदानंद आत्मा का आदर करने से धर्म होता है। बहुत से जीव भद्रपरिणामों से दान देते हैं, उससे पुण्य होता है, धर्म नहीं। साधारण बुद्धि वाले जीव, जो कि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी नहीं समझते उनसे कहते हैं कि तुमको प्रतिदिन पूजा करना चाहिये। तथा प्रभावना करने के लिये कहते हैं, शास्त्रदान करने के लिये कहते हैं; परन्तु इस सबसे पुण्यबंध होता है। भक्ति का भाव शुभ है, शुभभाव से जड़ की क्रिया नहीं होती और जड़ की क्रिया हुई इसलिये शुभभाव हुआ- ऐसा भी नहीं है। अपने में होने वाले मंद कषाय के परिणामों को जानना व्यवहार है। जड़ की पर्याय तो उसके स्वकाल में होती है।

अज्ञानी कहता है कि मैं होऊँ तो ऐसा नहीं करूँ- तो क्या आत्मा जड़ की पर्याय कर सकता है? नहीं कर सकता। तथा साधारण प्राणी कहते हैं कि यात्रा करो, लाख दो लाख रूपये खर्च करो। यदि वहाँ कषायों की मंदता करे तो पुण्य है, धर्म नहीं। और यदि अभिमान

करे तो पाप होता है। यद्यपि किसी के उपदेश से किसी की पर्याय न तो होती है और न रुकती है; परन्तु यहाँ तो उपदेश की पद्धति बतलाते हैं।

सत्यमार्ग तो जो है वही है। जगत माने, न माने; इज्जत- मान प्रतिष्ठा रहे या नहीं रहे इसके साथ कोई संबंध नहीं है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि ज्ञानानंद स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है। यहाँ चरणानुयोग में ऐसा शुभभाव करना चाहिये- यह उपदेश आता है। इसप्रकार अकेले व्यवहार की बात की।

....तथा जहाँ निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है सो भूतार्थ है, व्यवहारस्वरूप है सो उपचार है- ऐसे श्रद्धान सहित व स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा परद्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजन सहित उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं। ऐसे श्रद्धान से अरहन्तादि के सिवा अन्य देवादिक झूठ भासित हों तब **स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं। तथा सम्यग्ज्ञान के अर्थ संशयादि रहित उन्हीं तत्त्वों को उसी प्रकार जानने का उपदेश देते हैं, उस जानने को कारण जिनशास्त्रों का अभ्यास है, इसलिये उस प्रयोजन के अर्थ जिनशास्त्रों का भी अभ्यास स्वयमेव होता है; उसका निरूपण करते हैं। तथा सम्यक्चारित्र के अर्थ रागादि दूर करने का उपदेश देते हैं; वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्ररागादिक का अभाव होने पर उनके निमित्त से जो एकदेश व सर्वदेश पाप क्रिया होती थी वह छूटती है, तथा मंदराग से श्रावक-मुनि के व्रतों की प्रवृत्ति होती है और मंदराग का भी अभाव होने पर शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होती है, उसका निरूपण करते हैं।**

तथा यथार्थ श्रद्धान सहित सम्यग्दृष्टियों के जैसे कोई यथार्थ आखड़ी होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादिक होते हैं उनका उपदेश देते हैं। जिनमत में जैसा सच्चा परम्परामार्ग है वैसा उपदेश देते हैं।

इसतरह दो प्रकार से चरणानुयोग में उपदेश जानना।....

अब निश्चय पूर्वक व्यवहार के उपदेश की बात करते हैं। इस उपदेश में सम्यग्दर्शन के लिये तत्त्वार्थों का यथार्थ श्रद्धान करने को कहते हैं। यहाँ निश्चय श्रद्धान कराते हैं। जीव

ज्ञायक मूर्ति है, कर्म जड़ है, दया, दानादि के भाव पुण्य है, हिंसा, झूठ आदि भाव पाप है- इत्यादि प्रकार से सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान कराते हैं। यह तत्त्वश्रद्धान सच्चा श्रद्धान है और देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा व्यवहार समकित है।

सर्वप्रथम सत्य समझने की जिज्ञासा होना चाहिये। भूल तो अनादि से चली ही आ रही है; परन्तु सत्य समझने का प्रसंग बने तो वह भूल मिटती है। यदि भूल को भूल ही नहीं माने तो भूल कभी नहीं मिट सकती।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, शरीरादि पर है- ऐसे भेदविज्ञान द्वारा परद्रव्य में रागादि छुड़ाते हैं। स्वरूप की श्रद्धा करना निश्चय है। स्व-पर का यथार्थ ज्ञान करना निश्चय है और राग के अभाव पूर्वक वीतरागता होना निश्चय है। स्वभाव का आश्रय करना निश्चय है और व्यवहार उपचार है। निश्चय यथार्थ है और राग उपचार है- ऐसी श्रद्धा करो। स्व-पर भेदविज्ञान ज्ञान है- ऐसी श्रद्धा करो और राग छोड़ो! वीतरागता होना चारित्र है। ऐसी श्रद्धा करने से अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसा धर्म के अतिरिक्त अन्य देवादि मिथ्या भासित होते हैं, अत: उनकी श्रद्धा छूट जाती है। अत: तदनुसार निरूपण करते हैं। वहाँ निर्विकल्प प्रतीति आती है वह निश्चय है और राग आता है वह व्यवहार है।

अब सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि दोष रहित जो आत्मा का ज्ञान होता है वह निश्चय है और सच्चे शास्त्रों के अवलोकन का विकल्प आना व्यवहार है। इस प्रयोजन से जैनशास्त्रों के अभ्यास करने का कथन करना उपचार है, पुण्यबंध का कारण है। इसप्रकार निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश की पद्धति है। वस्तुत: आत्मा उपदेश नहीं दे सकता, वाणी वाणी के कारण निकलती है उसमें शुभ विकल्प निमित्त है- इस कारण उपदेश देता है ऐसा कहा जाता है। इसी तरह आत्मा शास्त्र लिख नहीं सकता, शास्त्र की लिखनेरूप अवस्था शास्त्र के कारण से होती है, उसमें (जीव का) शुभ विकल्प निमित्त होने से जीव ने शास्त्र लिखा ऐसा कहा जाता है।

देखो,कर्त्ता के दो प्रकार हैं। जीव अपने कारण रागरूप परिणमता है इस अपेक्षा से कर्त्ता है। मेरा परिणमन कर्त्तागुण के कारण होता है। कर्त्तागुण की विपरीत अवस्था का कर्त्ता (जीव) स्वयं है। कर्त्तागुण त्रिकाल है। अपनी विपरीत-अविपरीत पर्यायों का पिण्ड वह

कर्त्तागुण है। निचली दशा में राग होता है; परन्तु मैं राग को बदलूँ- ऐसी बुद्धि करने से कर्त्ताबुद्धि अथवा पर्यायबुद्धि हो जाती है। तथा स्वभावदृष्टि होने पर जीव राग का कर्त्ता नहीं होता। स्वभावदृष्टि होने पर भी कमजोरी (अस्थिरता) के राग का परिणमन होता अवश्य है, वह परिणमन मेरा है; तथापि वह राग मेरे स्वभाव में नहीं है- इस अपेक्षा से राग का कर्त्तापना नहीं है।

'मैं यह राग करूँ'- ऐसा अज्ञानी कहता है। यह राग है वह तो हो गया है उसे करना क्या? तो भी इस राग को करूँ - ऐसी पर्यायबुद्धि होने पर मिथ्यादृष्टि होता है। ऐसा राग करूँ - ऐसी बुद्धि वाले को 'जानू' -ऐसा नहीं रहता। जिस समय जो राग होता है उसको जानने का मेरा स्वभाव है- ऐसा वह नहीं मानता। (ज्ञानी को) स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट होता जाता है, उसी समय राग को जानता हुआ प्रगटता है। प्रतिसमय स्व-पर को जानता हुआ प्रगट होता है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर।

इसप्रकार यहाँ कहा है कि जैन शास्त्रों का अभ्यास सम्यग्ज्ञान में निमित्त हैं। जैन शास्त्रों का अभ्यास व्यवहार ज्ञान है। भगवान की वाणी से रचित परम सत्य शास्त्रों का अभ्यास करने से पुण्य परिणाम होते हैं; परन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं होता। तथा (आत्मलक्ष्य से) सच्चाज्ञान-सम्यग्ज्ञान होने पर जैन शास्त्रों का अभ्यास स्वयं होता है। इसप्रकार चरणानुयोग में निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।

अब सम्यक्चारित्र के लिये दिये जाने वाले उपदेश की बात करते हैं। वहाँ पंचमहाव्रत का राग छोड़ो और स्वभाव में लीन होओ- ऐसा कहते हैं। अट्ठाईस मूलगुण पालन का राग चारित्र नहीं है, इसलिये शुभाशुभ को छोड़ने को कहते हैं। सम्यग्दृष्टि श्रावक के एकदेश त्याग है और मुनि के सर्वदेश त्याग है, इसलिये हिंसादि पापक्रिया छूट जाती है और अहिंसा आदि के परिणामरूप प्रवृत्ति होती है। जितना राग घटा है वह निश्चय है। श्रावक को दो और मुनि को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव है (वह निश्चय है।) और जितना शुभराग शेष है वह व्यवहार है। उस मंदराग से श्रावक और मुनियों के व्रतों की प्रवृत्ति होती है, वह व्यवहार है।

आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और लीनता से मोक्ष होता है, मोक्ष बाहर से नहीं आता। पूर्ण शुद्धता ही मुक्ति है। यह ग्रंथ उसी मुक्ति के मार्ग का प्रकाश करता है।

मैं ज्ञानानंद हूँ- ऐसा भान होने के बाद श्रावक को तथा मुनि को सम्यक् आचरण होता है। आत्मज्ञानी मुनि की दशा नग्न दिगम्बर होती है। उन मुनि के बहुत (तीन कषाय चौकड़ी) राग का अभाव हो गया है और किंचित मंदराग रहा है। (उस राग की भूमिकारूप) पाँच महाव्रतों को उपचार से आचरण कहते हैं। इसप्रकार -

* सम्यग्दर्शन होने पर कुदेवादिक की श्रद्धा छूटकर सुदेवादिक की श्रद्धा रह जाती है।

* सम्यग्ज्ञान हुआ इसलिये मिथ्याशास्त्रों का उपदेश/अभ्यासादि छूट जाता है और सच्चे शास्त्रों का अभ्यास रह जाता है।

* सम्यक्चारित्र होने से पाप की प्रवृत्ति छूट जाती है और महाव्रत के परिणाम रह जाते हैं। छठवें गुणस्थानवर्ती के अव्रत के परिणामों का अभाव हो जाता है। उद्दिष्ट आहार के ग्रहण तथा वस्त्र-पात्रादि रखने के राग का अभाव हो जाता है और अट्ठाईस मूलगूण पालन का राग रह जाता है। मन्दराग से श्रावक और मुनियों के व्रतों की प्रवृत्ति होती है। तथा जब श्रावक को बारह व्रतों का विकल्प और मुनि को महाव्रतों का विकल्प छूट जाता है तब शुद्धोपयोग हो जाता है । इसप्रकार वे स्वरूप में स्थिर होते हैं उसका निरूपण किया जाता है।

जिस जीव को सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता है उसको निश्चय सहित-व्यवहार का उपदेश दिया जाता है। ज्ञानानंद आत्मा की दृष्टि करो, अनुभव करो; उसमें नहीं रह सके तब भक्ति पूजादि के परिणाम आते हैं उनका भी ज्ञान कराया जाता है।

कोई **प्रश्न** पूछता है कि मानस्तंभ, मंदिरादि बनवाने में धर्म नहीं है तो किसलिये बनवाते हो?

उत्तर:- आत्मा मन्दिर अथवा मानस्तंभादि जड़ की क्रिया का स्वामी नहीं है। धर्मी जीव को स्वभाव का भान होने पर भी जब वह उसमें स्थिर नहीं हो पाता तबतक शुभराग आता है; परन्तु उससे धर्म नहीं होता तथा शुभभाव के कारण जड़ की क्रिया भी नहीं होती। जड़ की क्रिया आत्मा कर सकता है- यह बात ही मिथ्या है। जीव जो लोभादि के परिणाम घटाकर कषाय की मंदता करता है वह शुभभाव है- यह बात सत्य है। वहाँ उसके परिणामों का ज्ञान कराते हैं।

जीव ने मन्दिर बनाया- यह व्यवहार का कथन है। मन्दिर बनाने में किसका शुभभाव था इसकी पहिचान कराने के लिये ऐसा कथन योग्य है; शुभभाव से मन्दिर की क्रिया होती है- ऐसा नहीं है।

ज्ञानी को यह भान होने पर भी कि शरीरादि की क्रिया जड़ की है, आत्मा की नहीं; अभी राग शेष होने के कारण पूजा-भक्ति का शुभभाव आता है; परन्तु वह ज्ञानी समझता है कि यह शुभभाव धर्म के लिये बेकार-व्यर्थ है। अन्तरंग में पूर्ण स्थिरता नहीं है इसलिये उससे ज्ञानी कहते हैं कि अणुव्रत लो, भगवान की भक्ति करो, आखड़ी लो, पूजा करो, प्रभावना करो- चरणानुयोग में ऐसा उपदेश आता है। आत्मा का भान होने पर भी अपूर्ण दशा में ज्ञानी को भी शुभभाव आता है। शास्त्र में उपदेश आता है कि भाई! तू अपने लिये दो-पाँच लाख का मकान बनवाता है, पुत्री के विवाह में अच्छा धन खर्च करता है, तो फिर देव-गुरु-शास्त्र के लिये भी खर्च करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि को भान है कि देह के परमाणु मेरे से हिलते-चलते नहीं है; दया, दानादि का भाव संसार का कारण है; तो भी सांसारिक पाप के परिणाम आते हैं, अतः उन्हें छोड़कर प्रभावना करो, जिन चैत्यालय बनाओ, यात्रा निकालो ऐसा उपदेश आता है। धर्मी जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रमोदभाव आये बिना नहीं रहता; तो भी वह समझता है कि शुभराग धर्म नहीं है। मुनि भी सम्यग्दृष्टि को उपदेश देते हैं कि यथाशक्ति व्रतादि करो, भक्ति-पूजा करो, स्वाध्याय करो, एकान्त स्थान में निर्विकल्प अनुभव करो- इत्यादि।

इसप्रकार चरणानुयोग मे आचरण कराने का उपदेश दो प्रकार का दिया जाता है। जो जीव धर्म को नहीं समझता उसको अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं। अज्ञानी को पता नही है कि आत्मा हाथ जोड़ने की क्रिया नही कर सकता; वह तो मानता है कि आत्मा है तो जड़ की क्रिया होती है- ऐसे अज्ञानी जीव को व्यवहार का उपदेश देते हैं; परन्तु इससे धर्म नहीं हो जाता। तथा सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन पाने के योग्य जीव को निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।- ऐसा समझना चाहिये।

....तथा चरणानुयोग में तीव्रकषायों का कार्य छुड़ाकर मंदकषायरूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें उतना ही भला होगा - ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे

– जिन जीवों के आरम्भादि करने की व मन्दिरादि बनावाने की, व विषय सेवन की व क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर होती न जाने, उन्हें पूजा–प्रभावनादिक करने का व चैत्यालयादि बनवाने का व जिनदेवादिक के आगे शोभादिक, नृत्य–गानादिक करने का व धर्मात्मा पुरुषों की सहाय आदि करने का उपदेश देते हैं; क्योंकि इनमें परम्परा कषाय का पोषण नहीं होता। पापकार्यों में परम्परा कषाय का पोषण होता है, इसलिये पापकार्यों से छुड़ाकर इन कार्यों में लगाते हैं। तथा थोड़ा – बहुत जितना छूटता जाने उतना पापकार्य छुड़ाकर उन्हें सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालने का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों के सर्वथा आरम्भादिक की इच्छा दूर हुई है, उनको पूर्वोक्त पूजादिक कार्य व सर्व पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादि क्रियाओं का उपदेश देते हैं। तथा किंचित् रागादिक छूटते जानकर उन्हें दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमणादि कार्य करने का उपदेश देते हैं। जहाँ सर्व राग दूर हुआ हो वहाँ कुछ करने का कार्य ही नहीं रहा; इसलिये उन्हें कुछ उपदेश ही नहीं है। –ऐसा क्रम जानना।

तथा चरणानुयोग में कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप को छुड़ाते हैं और धर्म में लगाते है। जैसे– पाप का फल नरकादिक के दु:ख दिखाकर उनको भयकषाय उत्पन्न करके पापकार्य छुड़वाते हैं, तथा पुण्य के फल स्वर्गादिक के सुख दिखाकर उन्हे लोभकषाय उत्पन्न करके धर्मकार्यों में लगाते हैं। तथा यह जीव इन्द्रियविषय, शरीर, पुत्र, धनादिक के अनुराग से पाप करता है, धर्म पराङ्मुख रहता है; इसलिये इन्द्रिय विषयों को मरण, क्लेशादि के कारण बतलाकर उनमें अरतिकषाय कराते हैं। शरीरादि को अशुचि बतलाकर वहाँ जुगुप्साकषाय कराते हैं; पुत्रादिक को धनादिक के ग्राहक बतलाकर वहाँ द्वेष कराते हैं; तथा धनादिक को मरण, क्लेशादिक का कारण बतलाकर वहाँ अनिष्टबुद्धि कराते हैं। इत्यादि उपायों से विषयादि में तीव्रराग दूर होने से उनके पापक्रिया छूटकर धर्म मे प्रवृत्ति होती है। तथा नामस्मरण, स्तुतिकरण, पूजा, दान, शीलादिक से इस लोक में दारिद्रय कष्ट दूर होते हैं, पुत्र–धनादिक की प्राप्ति होती है,– इसप्रकार निरूपण द्वारा उनके लोभ उत्पन्न करके उन धर्मकार्यों में लगाते हैं।

इसप्रकार अन्य उदाहरण जानना।....

तथा चरणानुयोग में हिंसा, झूठ, चोरी आदि के तीव्र पापपरिणाम छुड़ाने के लिये दया, दानादि के मंद कषायरूप भाव करने का उपदेश देते हैं। परमार्थत: तो दोनों-शुभाशुभभाव बुरे ही हैं। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ - ऐसा भान नहीं हो तबतक धर्म नहीं होता; परन्तु संसार में तीव्र कषाय छुड़ाने के लिये दया, दानादि के करने का उपदेश है। समस्त कषाय छूटती न जाने तो जितनी कषाय घटे उतना तो भला होगा- ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना चाहिये।

जैसे जिसको व्यापार-धंधा, आरंभ, परिग्रह की बुद्धि नहीं छूटी है; मकान बनाने की, विषय सेवन की बुद्धि नहीं छूटी है, उससे कहते हैं कि भगवान की पूजा करो, प्रभावना करो, दया-दान में धन खर्च करो, पाठशाला बनाओ, चैत्यालय बनाओ- इत्यादि प्रकार कहते हैं। तो क्या वहाँ आत्मा जड़ की क्रिया कर सकता होगा? नहीं; आत्मा जड़ की क्रिया नहीं कर सकता; परन्तु शुभ परिणाम में रहने के लिये ऐसा कहते हैं। तथा मन्दिर में भामण्डल, छत्र इत्यादि बनाने को कहते हैं और भगवान के समक्ष नृत्य-गानादि करने को कहते हैं। जैसे पुत्र कमाकर आता है तो पिता हर्षित होकर उसको गले लगाता है -इसप्रकार वहाँ अशुभराग की चेष्टा करता है। उसको छुड़ाने के लिये भगवान के विरह में भगवान की प्रतिमा के समक्ष नृत्यादि करने को कहते हैं। शकेन्द्र एकावतारी है, वह भी भगवान के जन्म के समय पैरों घूंघरू बांधकर नृत्य करता है। अहो! धन्य अवतार!! आप तारणहार हो! इत्यादि प्रकार से भक्ति करता है। शकेन्द्र गंभीर है, बत्तीस लाख विमानों का स्वामी है, तो भी भगवान के समक्ष बालक की तरह नृत्य करता है। वह जानता है कि जड़ की क्रिया जड़ के कारण होती है, तो भी ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता। देखो! एक और तो कहते हैं कि भगवान के सन्मुख नाचना चाहिये और दूसरी और कहते हैं कि निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान धर्म है- यह क्या है? महान व्यक्ति चँवर लेकर नृत्य करता है यह क्या है? भाई! अशुभराग छुड़ाने के लिये शुभराग करने को कहते हैं।

भगवान को अथवा जिनप्रतिमा को देखकर धर्मी को प्रमोद आये बिना नहीं रहता- ऐसा उपदेश चरणानुयोग में आता है। वादिराज मुनिराज भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि -हे नाथ! जब आपका जन्म होता है तब सम्पूर्ण नगरी आदि भी शोभायमान हो जाती है; तो फिर आपकी स्तुति करने पर यह शरीर सुन्दर हो जाए इसमें क्या आश्चर्य है? अब उनके

साता का का उदय आता है तो शरीर में कोढ़ (कुष्ट) मिटकर वह सुन्दर बन जाता है। तथा इन्द्र भी भगवान की स्तुति करते हैं। चरणानुयोग में कहते हैं कि भक्ति करने योग्य है। वहाँ शुभभाव का ज्ञान कराते हैं; परन्तु शुभभाव से धर्म होता है यह कहने का आशय नहीं है।

संसार के सगे-संबंधियों की सहायता का भाव आता है तो धर्मात्मा की सहायता करने का उपदेश दिया जाता है। सज्जन धर्मात्मा की सहायता करके लक्ष्मी का सदुपयोग करो- ऐसा कहा जाता है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा लक्ष्मी का उपयोग नहीं कर सकता और कोई एक दूसरे की सहायता नहीं कर सकता; यद्यपि यह बात तो यथार्थ ही है; परन्तु शुद्धस्वभाव में स्थिर न रह सके तब साधक को भी ऐसा शुभभाव आता है।

यद्यपि शुभराग भी है तो बुरा ही; परन्तु कषाय की तीव्रता की अपेक्षा से मंदराग को भला कहते हैं। -इस अपेक्षा को नहीं समझकर शुभराग में ही धर्म मान लेने वाला जीव मूढ़ है और शुभभाव आता ही नहीं ऐसा समझने वाला भी मूढ़ है।

धर्मात्मा जीवों को निर्धन जीवों का अनादर नहीं करना चाहिये; अपितु उनकी मदद करना चाहिये- ऐसा उपदेश (चरणानुयोग में) देते हैं। यद्यपि परमार्थत: कोई किसी की सहायता नहीं कर सकता; तथापि अशुभराग छुड़ाने और शुभराग कराने के लिये ऐसा कहते हैं। इसलिये ऐसी उपदेश पद्धति को झूठी नहीं समझना चाहिये।

चरणानुयोग में यात्रा करने, जिनमन्दिर बनवाने इत्यादि का उपदेश देते हैं, वहाँ परम्परा कषायों का पोषण नहीं है, जबकि पापकार्यों में परम्परा कषायों का पोषण होता है। इस प्रकार यहाँ कथन की अपेक्षा समझना चाहिये। तीव्र कषाय की अपेक्षा से मंदकषाय को ठीक कहा है। वस्तुत: तो मिथ्यादृष्टि जीव की मंदकषाय भी अनर्थ का कारण है; क्योंकि उसकी दृष्टि राग पर है; परन्तु यह बात यहाँ नहीं की गई है; यहाँ तो दूसरी पद्धति से कथन किया गया है। पापकार्यों में परम्परा कषायों का पोषण होता है- इस कारण पापकार्यों से छुड़ाकर इन कार्यों में लगाया जाता है। थोड़े-बहुत जितने छूटते जाने उतने पापकार्य छुड़ाकर सम्यक्त्व अथवा अणुव्रत पालन का उपदेश देते हैं।

तथा मुनियों के संसार छूट गया है, आरंभादि की इच्छा छूट गई है; अत: उनको पूर्वकथित पूजादि कार्य तथा समस्त पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादिरूप कार्यों का उपदेश देते हैं।

जिनको किंचित् रागादि छूटते जानते हैं उनको दया करने का, प्रतिक्रमणादि करने का उपदेश देते हैं; परन्तु जहाँ सम्पूर्ण राग का अभाव हो गया है और वीतरागीदशा प्रगट हो गई है उनको तो कुछ भी कार्य करना शेष नहीं रहा है; इसलिये केवली भगवान को कुछ उपदेश नहीं है- ऐसा क्रम जानना चाहिये।

चरणानुयोग में कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न कराकर भी धर्म में लगाते हैं। जैसे पाप का फल नरक के दु:ख बतलाकर भय उत्पन्न कराकर पाप छुड़ाते हैं। माँस भक्षण करोगे तो नरक में जाओगे और दु:ख पाओगे। अथवा पशु पर्याय में जाओगे और कसाई के द्वारा काटे-मारे जाओगे -इसप्रकार भय बताकर पुण्य में लगाते हैं। यद्यपि 'भय' कषाय है; तथापि ऐसा कहते हैं- ऐसी चरणानुयोग की पद्धति है। वहाँ जीव कषाय मंद करे तो पुण्यबंध होता है। इसीप्रकार कहते हैं कि भगवान जिनेन्द्र की पूजादि करोगे तो देवपद प्राप्त होगा- इसप्रकार लोभ बताकर शुभपरिणाम में लगाते हैं।

धनादि की तृष्णा वाले को दया, दानादि का उपदेश देते हैं। तथा यह जीव इन्द्रियों के विषय, शरीर, पुत्र और धन के अनुराग से पाप करता है, धर्म से विमुख रहता है; इसलिये इन्द्रिय विषयों को मरण और क्लेश के कारण बताकर अरति उत्पन्न कराते हैं। इसी तरह जो जीव चौबीसों घंटे व्यापार-धंधे में, खाने-पीने में रचा-पचा रहता है और पाप करता है उससे कहते हैं कि विषय सेवन करने से शरीर क्षीण होकर मरण हो जायेगा। इन्द्रिय विषयों से शरीर की अवस्था क्षीण होगी। स्त्री, पुत्र आदि सब ठगों की टोली है, स्वार्थ के सगे हैं इत्यादि कहकर अरति उत्पन्न कराकर शुभभावना कराते हैं। इसमें तीव्र कषाय छुड़ाने का प्रयोजन है; परन्तु यहाँ धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण द्वारा ही होता है।

इसप्रकार यहाँ आचरण कराने के उपदेश की पद्धति दर्शाते हैं। किस अपेक्षा से कथन है यह नहीं समझा जाये तो धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है। शरीर की क्रिया धर्म नहीं है। चरणानुयोग में मंदकषाय कराने के लिये उपदेश देते हैं; परन्तु वह धर्म नहीं है। धर्मात्मा को भी अपूर्णदशा में इसप्रकार का राग आता है, इसलिये इसप्रकार का उपदेश देते है।

शरीर अशुचि है- ऐसा कहकर जुगुप्सा उत्पन्न कराकर भी वैराग्य कराने का उपदेश

दिया जाता है। यद्यपि जुगुप्सा द्वेष है, तथापि वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये ऐसा कहते हैं कि शरीर हाड़-माँस से भरा है- इसप्रकार द्वेष उपजाकर कषाय की मंदता कराते हैं; परन्तु वह धर्म नहीं हैं। अज्ञानी जीव कहता है कि शुभराग करते-करते धर्म होगा; परन्तु यह बात मिथ्या है। तथा लक्ष्मीवान से कहते हैं कि तेरे स्त्री-पुत्रादि सब धन के लुटेरे हैं- ऐसा बताकर द्वेष कराते हैं; परन्तु ऐसा उपदेश वैराग्य के प्रयोजन से देते है; किन्तु वहाँ धर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है।

संसार में आश्चर्य है कि पति-पत्नि अलग रहते हैं- ऐसे दृष्टान्त देकर द्वेष कराकर राग की मंदता कराते हैं। तथा तेरे पास धन होगा तो चोर बंदूक लेकर आयेगा व तुझे मार डालेगा- ऐसा भय बताते हैं और ऐसे प्रसंग बनते भी हैं। जिस धन को जीव ने सुख का कारण माना है वह क्लेश और मरण का निमित्त बनता है- ऐसा कहकर तृष्णा घटाने का उपदेश देते हैं; परन्तु इससे धर्म हो जाता है यह नहीं समझना चाहिये। वहाँ व्यवहार धर्म अर्थात् पुण्य होता है। अज्ञानी पुण्य को धर्म मानता है; परन्तु धर्म तो चिदानंद आत्मा की रुचि करने से ही होता है; किसी निमित्त से, राग से, अथवा बाहर से धर्म नहीं होता।

भगवान की भक्ति करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो इससे दरिद्रता नष्ट होगी- ऐसा भी चरणानुयोग की उपदेश पद्धति में कहते हैं। वस्तुत: तो वहाँ पूर्व पुण्योदय के कारण दरिद्रता नष्ट होती है; परन्तु व्यवहार पद्धति में ऐसा कथन करने का विधान है। वहाँ शुभराग कराने का प्रयोजन है; इसलिये लोभ कषाय उत्पन्न कराकर भी जीव को पुण्य के कार्यों में लगाते हैं। प्रतिकूल संयोग पलटकर अनुकूल संयोग मिले तो शुभराग से मिले- ऐसा कहा जाता है। इसीप्रकार अन्य उदाहरण भी जानना चाहिये।

....यहाँ प्रश्न है कि कोई कषाय छुड़ाकर कोई कषाय कराने का प्रयोजन क्या?

समाधान:- जैसे रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है; परन्तु किसी का शीतांग से मरण होता जाने, वहाँ वैद्य उसको ज्वर होने का उपाय करता है, और ज्वर होने के पश्चात् उसके जीने की आशा हो तब बाद में ज्वर को भी मिटाने का उपाय करता है। उसीप्रकार कषाय तो सभी हेय हैं; परन्तु किन्हीं जीवों के कषायों से पापकार्य होता जाने, वहाँ श्रीगुरु उनको पुण्यकार्य के कारणभूत कषाय होने का

उपाय करते हैं, पश्चात् उसके सच्ची धर्मबुद्धि हुई जाने तब बाद में वह कषाय मिटाने का उपाय करते हैं। ऐसा प्रयोजन जानना....

प्रश्नः– कोई कषाय छुड़ाकर कोई अन्य कषाय कराने का क्या प्रयोजन है?

उत्तरः– जैसे रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है; परन्तु किसी का शीत से मरण होता जाने तो वैद्य उसको बुखार अथवा गर्मी कराने का उपाय करता है। सौठ इत्यादि लगाने को कहता है, गर्म कम्बल आदि औड़ाता है और बहुत बुखार होकर जीने की आशा हुई हो तो नमक का पानी व बर्फ लगाने को कहता है। इसीप्रकार दया, दान, पूजादि के भाव भी बुरे हैं और विषय भोग के भाव भी बुरे हैं; परन्तु किसी जीव को बहुत विकार कार्य होता जाने तो श्रीगुरु पुण्यकार्य के कारणभूत कषाय मंदता करने को कहते हैं; परन्तु अज्ञानी उसी को धर्म मान बैठता है यह यथार्थ नहीं है। किसी जीव को शुभभाव करने को कहकर फिर उसे सत्य बात का परिज्ञान कराया कि धर्म शुद्ध चिदानंद आत्मा के आश्रय से होता है। इसप्रकार वहाँ भी जीव को शुभराग में ही रखने का प्रयोजन नहीं है। बाद में मंदकषाय के भी मिटाने का उपाय करते हैं। कोई जीव शिकारादिरूप पाप करता हो तथा कोई व्यापारी सारे दिन दुकान में ही काम करता हो, तो उससे कहते हैं कि मन्दिर जाना, रोजाना चार स्तुतियां पढ़ना, अभिषेक करना– इत्यादि करने को कहते हैं; परन्तु जीव वहाँ मंदकषाय करे तो पुण्य है, धर्म नहीं। इसप्रकार यहाँ प्रयोजन जानना चाहिये।

....तथा चरणानुयोग में जैसे जीव पाप छोड़कर धर्म में लगें वैसे अनेक युक्तियों द्वारा वर्णन करते हैं। वहाँ लौकिक दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण, न्यायवृत्ति के द्वारा समझाते हैं व कहीं अन्यमत के भी उदाहरणादि कहते हैं। जैसे – 'सूक्तमुक्तावली' में लक्ष्मी को कमलवासिनी कही व समुद्र में विष और लक्ष्मी उत्पन्न हुए उस अपेक्षा उसे विष की भगिनी कही है। इसीप्रकार अन्यत्र कहते हैं।

वहाँ कितने ही उदाहरणादि झूठे भी हैं; परन्तु सच्चे प्रयोजन का पोषण करते हैं, इसलिये दोष नहीं है।

यहाँ कोई कहे कि झूठ का तो दोष लगता है?

उसका उत्तरः- यदि झूठ भी है और सच्चे प्रयोजन का पोषण करे तो उसे झूठ नहीं कहते। तथा सच भी है और झूठे प्रयोजन का पोषण करे तो वह झूठ ही है।

अलंकार-युक्ति-नामादिक में वचन अपेक्षा झूठ-सच नहीं है, प्रयोजन अपेक्षा झूठ-सच है। जैसे-तुच्छ शोभासहित नगरी को इन्द्रपुरी के समान कहते हैं सो झूठ है, परन्तु शोभा के प्रयोजन का पोषण करता है, इसलिये झूठ नहीं है। तथा 'इस नगरी में छत्र को ही दंड है अन्यत्र नहीं है'- ऐसा कहा सो झूठ है; अन्यत्र भी दण्ड देना पाया जाता है, परन्तु वहाँ अन्यायवान थोड़े हैं और न्यायवान को दण्ड नहीं देते, ऐसे प्रयोजन का पोषण करता है, इसलिये झूठ नहीं है। तथा बृहस्पति का नाम 'सुरगुरु' लिखा है व मंगल का नाम 'कुज' लिखा है सो ऐसे नाम अन्यमत अपेक्षा हैं। - इनका अक्षरार्थ है सो झूठा है; परन्तु वह नाम उस पदार्थ का अर्थ प्रगट करता है, इसलिये झूठ नहीं है।

इसप्रकार अन्य मतादिक के उदाहरणादि देते हैं सो झूठ है; परन्तु उदाहरणादिक का तो श्रद्धान कराना है नहीं, श्रद्धान तो प्रयोजन का कराना है, और प्रयोजन सच्चा है, इसलिये दोष नहीं है।....

चरणानुयोग में जीव जिस प्रकार पाप को छोड़कर धर्म में लगे- ऐसे अभिप्राय पूर्वक अनेक युक्तियों से वर्णन करते हैं। वहाँ लौंकिक दृष्टान्त युक्तियों द्वारा न्याय पद्धति से समझाते हैं। कही अन्यमत के दृष्टान्त भी देते हैं। जैसे लक्ष्मी को कमलवासिनी कही है- तो यह बात सत्य नहीं है। तथा समुद्र में विष और लक्ष्मी दोनों उत्पन्न होते हैं- इस अपेक्षा से लक्ष्मी को विष की बहिन कहा है। यद्यपि वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है; परन्तु ऐसे दृष्टान्त देते हैं। लक्ष्मी विष की बहिन नहीं है, लक्ष्मी तो जड़ है; परन्तु लोग कहते हैं इसलिये वहाँ ऐसी उपमा दी है। लोक कहावत है न कि 'लक्ष्मी ने जहर का कार्य किया' वस्तुतः तो मनुष्य स्वयं के कारण मरता है, लक्ष्मी के कारण नहीं। इसप्रकार उदाहरण तो झूठा समझना चाहिये; परन्तु सच्चे प्रयोजन का पोषण करता है इसलिये दोष नहीं है।

कोई कहे कि यहाँ झूठ का दोष तो लगता है न ? तो कहते हैं कि झूठ है, परन्तु प्रयोजन सच्चा है- वैराग्य का प्रयोजन है, इसलिये उसको झूठ नहीं कहते हैं। झूठ के प्रयोजन का

पोषण करे तो झूठ है। इसप्रकार अलंकार युक्त नामादिक में वचन की अपेक्षा से सच-झूठ नही है; परन्तु प्रयोजन की अपेक्षा से सच-झूठ है।

जैसे तुच्छ शोभासहित नगर को इन्द्रपुरी के समान कहते हैं। यद्यपि यह झूठ है, परन्तु वहाँ शोभा बतलानी है इसलिये झूठ नहीं है। इसप्रकार चरणानुयोग की पद्धति समझना चाहिये।

....तथा चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोकप्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं; परन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा नहीं देते; क्योंकि उसका आचरण नहीं हो सकता। यहाँ आचरण करने का प्रयोजन है।

जैसे- अणुव्रती के त्रसहिंसा का त्याग कहा है और उसके स्त्री-सेवनादि क्रियाओं में त्रसहिंसा होती है। यह भी जानता है कि जिनवाणी में यहाँ त्रस कहे हैं; परन्तु इसके त्रस मारने का अभिप्राय नहीं है, और लोक में जिसका नाम त्रसघात है उसे नहीं करता है; इसलिये उस अपेक्षा उसके त्रसहिंसा का त्याग है।

तथा मुनि के स्थावरहिंसा का भी त्याग कहा है; परन्तु मुनि पृथ्वी, जलादि में गमनादि करते हैं वहाँ सर्वथा त्रस का भी अभाव नहीं है; क्योंकि त्रस जीवों की भी अवगाहना इतनी छोटी होती है कि जो दृष्टिगोचर न हो और उनकी स्थिति पृथ्वी, जलादि में ही है- ऐसा मुनि जिनवाणी से जानते हैं व कदाचित् अवधिज्ञानादि द्वारा भी जानते हैं; परन्तु उनके प्रमाद से स्थावर-त्रसहिंसा का अभिप्राय नहीं है। तथा लोक में भूमि खोदना तथा अप्रासुक जल से क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्ति का नाम स्थावर हिंसा है, और स्थूल त्रस जीवों को पीड़ित करने का नाम त्रसहिंसा है- उसे नहीं करते; इसलिये मुनि को सर्वथा हिंसा का त्याग कहते हैं। तथा इसीप्रकार असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रहका त्याग कहा है।

केवलज्ञान के जानने की अपेक्षा तो असत्यवचनयोग बारहवें गुणस्थानपर्यन्त कहा है, अदत्तकर्मपरमाणु आदि परद्रव्य का ग्रहण तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त है, वेद का उदय नववें गुणस्थान पर्यन्त है, अन्तरंग परिग्रह दसवें गुणस्थानपर्यन्त है, बाह्यपरिग्रह

समवसरणादि केवली के भी होता है; परन्तु (मुनिको) प्रमाद से पापरूप अभिप्राय नहीं है, और लोकप्रवृत्ति में जिन क्रियाओं द्वारा 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह रखता है'- इत्यादि नाम पाता है, वे क्रियाएँ इनके नहीं है; इसलिये असत्यादि का इनके त्याग कहा जाता है।

तथा जिस प्रकार मुनि के मूलगुणों में पंचेन्द्रियों के विषय का त्याग कहा है; परन्तु इन्द्रियों का जानना तो मिटता नहीं है, और विषयों में राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो यथाख्यातचारित्र हो जाये सो हुआ नहीं है; परन्तु स्थूलरूप से विषयेच्छा का अभाव हुआ है और बाह्यविषयसामग्री मिलाने की प्रवृति दूर हुई है; इसलिये उनके इन्द्रियविषय का त्याग कहा है।

इसप्रकार अन्यत्र जानना।....

चरणानुयोग में छद्मस्थ के ख्याल में आवे ऐसी अपेक्षा से लोकप्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं; परन्तु केवलज्ञान अपेक्षा - सूक्ष्मपने की अपेक्षा उपदेश नहीं देते; कारण कि उसका आचरण नहीं हो सकता और यहाँ तो आचरण कराने का ही प्रयोजन है। जैसे अणुव्रती को त्रसहिंसा का त्याग कहा है। वहाँ यद्यपि उस आत्मभान वाले पंचम गुणस्थानवर्ती को स्त्री सेवनादि में त्रसहिंसा तो होती है; अनाज के व्यापार में भी त्रस जीव का घात होता है, रसोई में भी कोई त्रसजीव मर जाता है; तथापि उसके त्रस के घात का त्याग है- ऐसा कहते हैं। वह भी जानता है कि त्रसजीव मरते हैं; परन्तु उसका अभिप्राय उन्हें मारने का नहीं है। तथा त्रसजीव को मारा -ऐसा लोक में कहा जाता है वैसी त्रसहिंसा वह नहीं करता; इसलिये उसके त्रसहिंसा का त्याग कहा है।

तथा मुनि के स्थावरहिंसा का त्याग कहा है। हरितकाय, पानी, पृथ्वी आदि सचेतन हैं, उनमें एकेन्द्रिय जीव है। मुनि के स्थावर हिंसा का त्याग होने पर भी मुनि किसी समय नदी में उतरते हैं, किसी समय नाव में जाते हैं, वहाँ स्थावर और त्रसजीव मरते हैं; परन्तु लोक में जिसे हिंसा कहते हैं वैसी हिंसा वे नहीं करते हैं। पानी में बहुत सूक्ष्म जीव हैं, पानी को छानने पर भी वे अन्दर चले जाते हैं- ऐसी कितने ही सूक्ष्म जीवों की अवगाहना है जो दृष्टिगोचर नहीं होती। तथा उनकी स्थिति पृथ्वी व जलादि में ही होती है। मुनि भी शास्त्र से अथवा कोई

अवधिज्ञान से जानते है; परन्तु वहाँ प्रमाद से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का अभिप्राय नहीं है; इसकारण हिंसा नहीं कही।

सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान के परमौदारिक शरीर होता है उसके निमित्त से जीवों की हिंसा नहीं होती। किन्ही परिहारविशुद्धि चारित्रवंत मुनि के शरीर के निमित्त से भी हिंसा नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि मुनि के सर्वहिंसा का त्याग है। अर्थात् प्रमाद पूर्वक जीवों को मारने का भाव नहीं है। मुनिराज भूमि नहीं खोदते, सचित्त जल का पान नहीं करते- इसप्रकार जिसको लोक में हिंसा कहते हैं वैसी प्रवृत्ति नहीं करते। कुएँ के जल में सूक्ष्म जीव होते हैं। पानी को गर्म नहीं किया जाये तबतक वह सचित्त कहलाता है, पानी में एकेन्द्रिय जीव है। वृक्ष के पत्तों आदि में जीव है। यहाँ तो बुद्धिपूर्वक जो आचरण किया जा सके उसकी बात है। यहाँ स्थूल जीवों को नहीं मारने को हिंसा का त्याग कहते हैं। इसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग भी उनके कहा है।

मुनिराज झूठ नहीं बोलते, इस अपेक्षा से उनको सत्यवादी कहा है; परन्तु सूक्ष्म अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान तक असत्य वचनयोग है। तथा केवलज्ञानी को जीवनमुक्त कहा है; तथापि योग का निमित्त है, इसलिये कर्म परमाणु आते हैं अत: अदत्त कर्मपरमाणु आदि का ग्रहण कहा है। केवलीभगवान के औदारिक शरीर के परमाणु आते हैं, इसलिये वे उन्हें ग्रहण करते हैं- ऐसा कहा जाता है। परमार्थ से तो जीव परमाणु का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता है।

तथा (चरणानुयोग में) मुनि को ब्रह्मचारी कहा है। वहाँ नौवें गुणस्थान तक अबुद्धि पूर्वक वेद का उदय होने पर भी ब्रह्मचारी कहा है; क्योंकि उनके बुद्धिपूर्वक वेद में जुड़ान नहीं है, इसलिये ब्रह्मचारी कहते हैं। दसवें गुणस्थान तक लोभ का उदय है, इसलिये अंतरंग परिग्रह है और सर्वज्ञदेव के समवसरणादि (बाह्य परिग्रह) होता है; परन्तु प्रमादभाव का अभिप्राय नहीं है। 'यह चोरी करता है, परिग्रह रखता है, झूठ बोलता है, कुशील सेवन करता है'- इत्यादि लोक में पाप का नाम प्राप्त करे ऐसा उनके नहीं होता, इसलिये झूठ, चोरी आदि का त्याग कहा है सो चरणानुयोग अनुसार है; करणानुयोग वर्णित सूक्ष्म परिणामों की अपेक्षा यह कथन नहीं है- ऐसा समझना।

तथा मुनि के मूलगुणों में पाँच इन्द्रिय के विषयों का त्याग कहा है; परन्तु इन्द्रियों का

जानना तो मिटता नहीं है। तथा सर्वथा राग का अभाव हो गया हो तब तो यथाख्यात चारित्र होना चाहिये; परन्तु वह नहीं है। अभी किंचित् राग शेष है, परन्तु स्थूलरूप से इच्छा का अभाव है और अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करते हैं तथा बाह्य विषयों की सामग्री भोगने की प्रवृत्ति नहीं है, इसलिये पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कहा है। इसप्रकार कथन की अपेक्षा समझना चाहिये। मुनिराज को आत्मा का अवलम्बन है, तीन कषाय चौकड़ी का अभाव है, किंचित् प्रमाद है और पाँच इन्द्रियों का जानना वर्तता है; परन्तु वे स्वच्छन्दी नहीं है, इसलिये उनके पाँच इन्द्रिय के विषयों का त्याग कहा गया है।

....तथा व्रती जीव त्याग व आचरण करता है सो चरणानुयोग की पद्धति अनुसार व लोकप्रवृत्ति के अनुसार त्याग करता है। जैसे-किसी ने त्रसहिंसा का त्याग किया, वहाँ चरणानुयोग में व लोक में जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है, केवलज्ञानादि द्वारा जो त्रस देखे जाते हैं उनकी हिंसा का त्याग बनता ही नहीं। वहाँ जिस त्रसहिंसा का त्याग किया, उसरूप मन का विकल्प न करना सो मन से त्याग है, वचन न बोलना सो वचन से त्याग है, काय द्वारा नहीं प्रवर्तना सो काय से त्याग है। इसप्रकार अन्य त्याग व ग्रहण होता है सो ऐसी पद्धति सहित ही होता है ऐसा जानना।....

व्रती जीव त्याग व आचरण करता है वह भी चरणानुयोग की पद्धति अथवा लोकप्रवृत्ति के अनुसार ही करता है। जैसे किसी ने त्रसहिंसा का त्याग किया, तो वहाँ चरणानुयोग में तथा लोक में जिसको त्रसहिसा कहते हैं उसका त्याग है; परन्तु केवलज्ञानगम्य त्रसहिंसा का त्याग नहीं हो सकता। जल में और पृथ्वी में त्रस जीव हैं, वहाँ प्रमाद नहीं होने पर भी वे मर जाते हैं; परन्तु बाहर में प्रमाद न होने से हिंसा नहीं है। त्रसहिंसा का मन से विकल्प नहीं करना वह मन से त्याग है। वैसे वचन नहीं बोलना वचन से त्याग है। तथा काया से त्रसहिंसारूप नहीं प्रवर्तना वह काया से त्याग है। इसप्रकार मुनिराज को त्रसहिंसा का मन-वचन-काय (कृत-कारित-अनुमोदना) से नवकोटि से - त्याग होता है। तथा इसी प्रकार अन्य भी त्याग-ग्रहण होता है वह ऐसी पद्धति सहित ही होता है। ऐसा जानना चाहिये।

....यहाँ प्रश्न है कि करणानुयोग में तो केवलज्ञान अपेक्षा तारतम्य कथन है,

वहाँ छठवें, गुणस्थान में सर्वथा बारह अविरतियों का अभाव कहा, सो किस प्रकार कहा?

उत्तरः- अविरति भी योगकषाय में गर्भित थी, परन्तु वहाँ भी चरणानुयोग की अपेक्षा त्याग का अभाव उसहीका नाम अविरति कहा है, इसलिये वहाँ उनका अभाव है। मन-अविरति का अभाव कहा, सो मुनि को मन के विकल्प होते हैं; परन्तु स्वेच्छाचारी मन की पापरूप प्रवृत्ति के अभाव से मन-अविरति का अभाव कहा है- ऐसा जानना।....

प्रश्नः- जड़ और चैतन्य के सूक्ष्म परिणाम का कथन करने वाले करणानुयोग में केवलज्ञान की अपेक्षा तारतम्यरूप कथन है- वहाँ निर्ग्रन्थ मुनियों के बारह प्रकार की अविरति का सर्वथा अभाव कहा है सो किसप्रकार है?

उत्तरः- अविरति भी योग कषाय में गर्भित थी। छहकाय के जीवों की हिंसा का भाव अविरतिभाव है; परन्तु वहाँ भी चरणानुयोग की अपेक्षा त्याग कहा है। पाँच इन्द्रियों तथा मन की स्वेच्छाचारीरूप प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये अविरति का त्याग कहा है।

सम्यग्दर्शन के उपरांत जिनको राग घट गया है वे मुनि हैं। वे दिन में एकबार आहार-पानी ग्रहण करते हैं- ऐसी दशा सहज होती है, हठपूर्वक नहीं होती। उनको अतीन्द्रिय आनंद की उग्रदशा वर्तती है, शान्ति वृद्धिगत होती है। मुनि बीमार हों तब श्रावक आहार के साथ दवा दे वह अलग बात है; परन्तु एकबार के अतिरिक्त दूसरी बार कुछ नहीं लेते। वे सिंहवृत्ति वाले होते हैं। केवलज्ञान की तैयारी वाले होते हैं।

मुनि को किंचित् राग होता है; कोई कल्पना (विकल्प) आ जाये, अतिचार लग जाये; परन्तु तीन कषाय चौकड़ी का अभाव है इसलिये मुनिपना टिका रहता है। वे पुरुषार्थ की उग्रता का प्रयोग करते हैं।

....तथा चरणानुयोग में व्यवहार-लोक-प्रवृत्ति की अपेक्षा ही नामादिक कहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्वी को पात्र कहा तथा मिथ्यात्वी को अपात्र कहा; सो यहाँ जिसके जिनदेवादिक का श्रद्धान पाया जाये वह तो सम्यक्त्वी, जिसके उनका श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यात्वी जानना। क्योंकि दान देना चरणानुयोग में कहा है, इसलिये

चरणानुयोग के ही सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने से वही जीव ग्यारहवें गुणस्थान में था वही अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आये, तो वहाँ दातार पात्र-अपात्र का कैसे निर्णय कर सके?

तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघ में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं; सो प्रथम तो उनका ठीक (निर्णय) होना कठिन है; क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है; तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी को किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरों को संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की? इस प्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो तब संघ में विरोध उत्पन्न हो; इसलिये यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना।....

चरणानुयोग में व्यवहार लोकप्रवृत्ति की अपेक्षा नामादिक कहते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि को पात्र तथा मिथ्यादृष्टि का अपात्र कहा है। वहाँ जिसको आगमानुसार श्रद्धा-ज्ञान और आचरण है उसको सम्यग्दृष्टि कहा है। जिसने जिनदेव की तथा निर्ग्रन्थ गुरु की लक्षण द्वारा परीक्षा की है उसको समकिती कहा है और ऐसी श्रद्धा नहीं होने वाले को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि दान देना चरणानुयोग में कहा है, अत: वहाँ सम्यक्त्व या मिथ्यात्व भी चरणानुयोग की अपेक्षा कहते हैं। यदि वहाँ करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व या मिथ्यात्व ग्रहण किये जायें तो जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में हो वही वापिस अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आ जाता है, (तब पात्र-अपात्र का निर्णय कैसे होगा?) अन्तरंग रुचि पलट जाये तो उसके अंतरंग परिणामों को दातार कैसे पकड़ सकेगा? इसलिये जिसको बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा हो उसको पात्र जानकर दान दिया जाता है।

इसी प्रकार यदि वहाँ द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण किये जायें तो मुनि संघ में द्रव्यलिंगी भी हैं, भावलिंगी भी हैं। बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा सच्ची हो; परन्तु अन्तरंग में मिथ्या परिणाम हों तो उसका पता अन्य को कैसे लगेगा? उनकी परीक्षा करणानुयोग के अनुसार तो नहीं हो सकती; परन्तु द्रव्यानुयोग के अनुसार भी सत्य निर्णय होना कठिन है; कारण कि दोनों की बाह्य प्रवृत्ति समान है। यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टि को किसी

चिह्न द्वारा यह निर्णय हो भी जाये कि अमुक द्रव्यलिंगी मुनि की बाह्य दशा तो सही है, परन्तु अन्तरंग में सूक्ष्म मिथ्यात्व है, और इस कारण वह उसकी भक्ति नहीं करे तो अन्य को संशय हो जाता है कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की। अत: संघ में विरोध न हो इसलिये बाह्य से विनय करता है। जिसका व्यवहार सही हो उसकी भक्ति करता है।

सूक्ष्म परिणामों के द्वारा पात्र-अपात्र की परीक्षा नहीं हो सकती। किसी समकिती जीव को द्रव्यानुयोग के अनुसार किसी द्रव्यलिंगी मुनि की श्रद्धा में शंका हो जाये; यहाँ द्रव्यलिंगी अर्थात् नग्न दिगम्बर मुनि की बात है। जिसका व्यवहार सही है उसके साथ सूक्ष्म चर्चा होने पर ख्याल में आ जाये कि इसकी सूक्ष्म भूल है; परन्तु बाह्य व्यवहार सही हो, बाह्य प्ररूपणा सच्ची हो तो सम्यग्दृष्टि भी उसकी विनय करता है। अन्य को संदेह न हो इसलिये ऐसा करता है।

मुनि की बाह्य प्रवृत्ति समान है; परन्तु सूक्ष्म चर्चा में पता लग जाये कि इन मुनि के अमुक बात में भूल है; परन्तु सूक्ष्म बात बाहर में प्रसिद्ध नहीं की जा सकती। निमित्त से कार्य होता है- ऐसा मानता हो तब तो स्थूल भूल है।सूक्ष्म भूल वाले मिथ्यादृष्टि की भूल प्रगट हो तो संघ में विरोध हो, इसलिये प्रगट नहीं करते। स्थूल भूल नहीं है, इसलिये चरणानुयोग की अपेक्षा से वैसे मुनि दान के पात्र हैं। इसप्रकार चरणानुयोग में व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से कथन जानना चाहिये।

....यहाँ कोई प्रश्न करे- सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे?

समाधान:- व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिये जैसे- कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है; उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो उसे व्यवहार धर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसीप्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते है; यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है वह उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्यतप की ही प्रधानता है, इसलिये उसी को तपस्वी कहते हैं। इसप्रकार अन्य नामादिक जानना।

ऐसे ही अन्य प्रकार सहित चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान जानना।....

प्रश्न:- सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा का भान है, इसलिये वह द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुण सहित मानता है, तब वह उसकी भक्ति कैसे करता है?

उत्तर:- द्रव्यलिंगी के व्यवहार सच्चा (सही) होता है। वह पाँच महाव्रत पालन करता है; परन्तु चर्चा-वार्ता करने पर सूक्ष्म भूल दृष्टिगोचर होने पर भी सम्यग्दृष्टि बाहर से उसका विरोध नहीं करता। द्रव्यलिंगी के सनातन जैनमार्ग के अनुसार अट्ठाईस मूलगुण पालन आदि साधन बहुत होता है। समकिती संसार में होने से उसके ऐसा व्यवहार नहीं होता। द्रव्यलिंगी के आगम प्रमाण (चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार) समकित अथवा व्यवहार ज्ञान है तथा व्यवहार साधन बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिये जैसे स्वयं धनवान हो; परन्तु कुल में जो कोई बड़ा हो तो कुल की अपेक्षा से उसको बड़ा जानकर सत्कार किया जाता है। इसी प्रकार स्वयं सम्यक्त्व गुण सहित है; परन्तु जो कोई व्यवहारधर्म अर्थात् सर्वज्ञ की आज्ञानुसार धर्म में प्रधान हो तो व्यवहारधर्म की अपेक्षा से गुण अधिक मानकर उसकी भक्ति करता है। अर्थात् बाह्य त्याग, तपश्चर्या में अधिक हो उसकी भक्ति करता है- ऐसा जानना। यहाँ व्यवहार सही होना चाहिये। साधारण (सूक्ष्म) भूल को तो बाहर प्रसिद्ध नहीं किया जाता; परन्तु महान भूल नहीं चल सकती। जिसका व्यवहार सर्वज्ञ के कथनानुसार सही हो उसकी भक्ति समकिती करता है। समकिती की अपेक्षा द्रव्यलिंगी के व्यवहार अधिक है; इसलिये चौथे गुणस्थानवाला द्रव्यलिंगी की भक्ति करता है।

इसी तरह चरणानुयोग में, जो जीव बहुत उपवास करता है उसको तपस्वी कहते हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा सहित राग घटाने बाले का बाह्य आचरण चरणानुयोग अनुसार कहा जाता है। जो आत्मा के भान सहित विशेष ध्यान-अध्ययनादि करता है वह यद्यपि उत्कृष्ट तपस्वी है। प्रतिदिन भोजन करता हो; परन्तु स्वाध्याय-ध्यान करता हो तो वह तपस्वी है। आत्मा आहार के ग्रहण-त्याग की क्रिया नहीं कर सकता ऐसा भान हो। अर्थात् आत्मा अनाहारक स्वभावी ऐसा मानता हो तो वह तपस्वी है; परन्तु चरणानुयोग में बाह्य तप की प्रधानता है; अत: बाह्य में उपवासादि करने वाले को तपस्वी कहते हैं। इसी प्रकार अन्य नामादिक भी समझना।

इसीतरह अन्य अनेक प्रकार सहित चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान जानना चाहिये।

द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान

....अब, द्रव्यानुयोग में व्याख्यान का विधान कहते हैं:-

जीवों के जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो उस प्रकार विशेष, युक्ति, हेतु दृष्टान्तादिक का यहाँ निरूपण करते हैं, क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। वहाँ यद्यपि जीवादि वस्तु अभेद हैं तथापि उनमें भेदकल्पना द्वारा व्यवहार से द्रव्य-गुण-पर्यायादिक के भेदों का निरूपण करते हैं। तथा प्रतीति कराने के अर्थ अनेक युक्तियों द्वारा उपदेश देते हैं अथवा प्रमाण-नय द्वारा उपदेश देते हैं वह भी युक्ति है, तथा वस्तु के अनुमान प्रत्यभिज्ञानादिक करने को हेतु-दृष्टान्तादिक देते हैं; इसप्रकार यहाँ वस्तु की प्रतीति कराने को उपदेश देते हैं।....

अब द्रव्यानुयोग में व्याख्यान की पद्धति बतलाते हैं:-

इस विश्व में (जाति अपेक्षा) छह द्रव्य हैं, (प्रत्येक में) अनंत गुण हैं, और उनकी अनंत पर्यायें हैं। प्रत्येक स्वतंत्र है- ऐसा जो बतलाता है वह द्रव्यानुयोग हैं। किसी की पर्याय किसी अन्य से नहीं होती। आत्मा व्यवहार से भी जड़ की पर्याय को नहीं कर सकता है। आत्मा आँख से नहीं देखता, ज्ञान से देखता है। अपने से ज्ञान होता है तो आँख को निमित्त कहते हैं; परन्तु आँख और ज्ञान की पर्याय में अत्यन्ताभाव है। ज्ञानगुण का विशेषरूप परिणमन ज्ञान सामान्य से होता है, निमित्त से विशेष नहीं होता।

छहों द्रव्य भिन्न है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की अवस्था मानने पर वे छह नहीं रहते। पुद्गल अनंतानंत है। एक पुद्गल को दूसरे पुद्गल का कर्ता मानने में आने पर अनंत पुद्गलद्रव्य सिद्ध नहीं हो सकते। वस्तुत: कोई किसी का उपकार या अपकार करने में समर्थ नहीं है। कोई भी पर की सेवा नहीं कर सकता, अपने में सेवा करने का शुभराग आता है। मानादिक के परिणाम नहीं होना शुभराग है। शुभराग से लाभ मानने वाले ने वास्तव में आत्मा की असेवा और मिथ्यात्व की सेवा की है। मैं पर की सेवा कर सकता हूँ- ऐसा मिथ्यात्वभाव महापाप है।जब एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अत्यन्त अभाव है, तो फिर एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है? शास्त्र के शब्द यथार्थ वस्तुस्वरूप को बतलाते हैं। जैसे 'गुड़' शब्द गुड़ पदार्थ को बतलाता है; वैसे ही शास्त्र के शब्द पदार्थ की स्वतंत्रता को बतलाते हैं। द्रव्यानुयोग ऐसी स्वतंत्रता का ढ़िंढौरा पीटता है।

प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करता है तभी प्रत्येक की भिन्नता रहती है; यदि सभी एक दूसरे में मिलकर कार्य करें तो भिन्न-भिन्न नहीं रह सकते। इस अंगुली के प्रत्येक परमाणु का कार्य स्वतंत्र होता है। -इसप्रकार यथार्थ श्रद्धान करना चाहिये। स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिये पहले द्रव्यानुयोग अनुसार यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना योग्य है।

तथा कोई जीव भगवान की वाणी सुनने गया, तो भी क्या? यदि अपने में (धर्मरूप) नैमित्तिकदशा को प्राप्त नहीं किया तो भगवान की वाणी को निमित्त भी नहीं कहा जाता। जीव (धर्मरूप दशा को प्राप्त नहीं करने से) केवली भगवान के पास जाकर भी कोरा रह गया है। जैसे घड़े में पानी नहीं पड़े तो वह कोरा रह जाता है; इसी प्रकार अज्ञानी कोरा रह जाता है।

जीवादिक द्रव्य स्वतंत्र हैं। प्रत्येक द्रव्य में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण गुण हैं। प्रत्येक वस्तु अपने आधार (अधिकरण) गुण के कारण अपने में रही हुई है, कोई भी वस्तु पर के आधार से नहीं रहती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है, कोई किसी के कारण नहीं है। अनंत द्रव्य प्रथक्-प्रथक् है- यह बात द्रव्यानुयोग में युक्तिपूर्वक दर्शाते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने आधार नामक गुण के कारण रहता है, पर के कारण रहता है यह उपचरित कथन है। प्रत्येक द्रव्य का साधन अथवा करण अपने में है। परमाणु में भी अनादि-अनंत साधन गुण है। आत्मा भी आत्मा के साधन से कार्य करता है। वह कर्म के साधन से नरक में नहीं जाता है, अपनी योग्यता से नरक में जाता है। कर्म को कुछ पता नहीं है, वह निमित्तमात्र है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग में यथार्थश्रद्धान कराने का प्रयोजन है।

आत्मा और परमाणु आदि अपने-अपने गुण-पर्यायों में अभेद हैं। अपने गुण और पर्याय अपने में हैं, अर्थात् पर से भिन्न और अपने से अभिन्न है। एक परमाणु में उसके अनंत गुण और पर्यायें अभिन्न है और अन्य परमाणु के गुण-पर्यायों से वे भिन्न हैं- भेदरूप है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। तथा जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं। आलू के एक छोटे से टुकड़े में असंख्य शरीर हैं, एक-एक शरीर में अनंत निगोदिया जीव हैं। वहाँ प्रत्येक जीव अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न

है और पर के गुण-पर्यायों से भिन्न है। गुण-पर्यायों का पिण्ड वह द्रव्य है। अपनी लम्बाई-चौड़ाई वह क्षेत्र है। समय-समय की पर्याय वह काल है और अपनी त्रिकाल शक्तियां वे भाव हैं। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभेद है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भेदरूप है। इसप्रकार (द्रव्य) अभेद होने पर भी भेदकल्पना द्वारा व्यवहार से द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद द्रव्यानुयोग प्ररूपित करता है। जिसमें वर्ण हो वह पुद्गल है। जिसमें ज्ञान हो वह जीव है- इस प्रकार समझाने के लिये भेद से कथन किया है।

द्रव्यानुयोग में छह द्रव्य और सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा कराते हैं। भेद, युक्ति, साधन और दृष्टान्त देकर निरूपण करते हैं। यदि जीव इस अनुयोग के अनुसार दृष्टि नहीं करता तो सब व्यर्थ है। जीव आदि वस्तु अभेद है; परन्तु उसमें भेद कल्पना करके निरूपण करते हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना व्यवहार है

समयसार में भेदा-भेद वस्तु कही; वहाँ अभेद की दृष्टि सम्यग्दर्शन का कारण है और पर्याय को अभूतार्थ कहा है। वीतरागदशा होने पर (ज्ञानी) द्रव्य को भेदाभेदस्वरूप जानता है। रागी जीव को भेद के लक्ष्य से आत्मानुभव नहीं होता, इसलिये भेद को गौण करके झूठा कहा है।

तथा एकांत अभेद कहो तो गुण-पर्याय का नाश होता है। जीवादि द्रव्यों में से उनके गुण-पर्याय भिन्न नहीं होते, परन्तु भेद कल्पना से द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से वर्णन करते हैं। जीव के असंख्य प्रदेश हैं, अनंत गुण और पर्यायें हैं, पर्याय में अनंत अविभागी प्रतिच्छेद है- इस प्रकार भेद से समझाते हैं। एक परमाणु में अनंत गुण और एक-एक गुण में अनंत पर्यायें हैं -इसप्रकार भेद से समझाना युक्त है। जीवों की संख्या अनंत है। अनंत जीवों के मोक्ष जाने पर भी उनकी संख्या कम नहीं होती। द्रव्य गुण-पर्यायों का पिण्ड है। गुण भावस्वरूप है और पर्याय क्षणिक है -इसप्रकार भेद से समझाते हैं; परन्तु वस्तु तो अभेद है। अभेद को समझाने के लिए भेद करते हैं; क्योंकि भेद भी आत्मा का धर्म है। केवली भगवान भेदाभेद वस्तु को जानते हैं।

यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में दूसरी पद्धति है। यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है। गुण-पर्यायों का क्षेत्र एक ही है इसलिये अभेद है। समयसार में एकसमय की पर्याय को भेद कहकर, गौण करके व्यवहार कहा है; वहाँ द्रव्यदृष्टि कराने के लिये ऐसा कथन है। यहाँ, द्रव्य-गुण-पर्याय

के प्रदेश अभेद है इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय को अभेद कहा है। जबकि समयसार में विशेष को गौण करके सामान्य ध्रुवस्वभाव को सम्यग्दर्शन को विषय बताया है। जिस भेद को समयसार में गौण करके निकाल दिया उस भेद को यहाँ द्रव्य में अभेद लिया है; क्योंकि क्षेत्र से अभेदता है।

तथा समयसार में स्वभावसन्मुख होने वाली पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद कह देते हैं। जैसेकि अनुभूति है वही आत्मा है- ऐसा कह देते हैं। जबकि यहाँ जीवादि अभेद होने पर भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद पाड़ते हैं। यह भी युक्त है।

समयसार में यह कहना है कि गुण-पर्याय के भेद का आश्रय करने से राग होता है, इसलिये भेद को गौण करके 'तेरे में भेद नहीं है'- ऐसा कहा है। तथा वीतरागता होने के बाद भेदाभेद स्वरूप वस्तु को जानता है- ऐसा कहा है।

अभेद में भेद नहीं दिखते इस अपेक्षा से दृष्टि प्रधान कथन में गुण-पर्याय के भेद को अवस्तु कहा गया है और यहाँ गुण-पर्याय के भेद को वस्तु कहा है। यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है। तथा समयसार में जिसको भेद कहा है उसको ही यहाँ अभेद कहा है। वस्तु गुण-पर्याय से अभेद है; परन्तु समझाने के लिये भेद से निरूपण करते हैं।

तथा प्रतीति कराने के लिये अनेक युक्तियाँ देते हैं। प्रमाण-नय द्वारा उपदेश देते हैं। सामान्य स्वभाव द्रव्यार्थिकनय का विषय है, पर्याय अथवा विशेष व्यवहारनय का विषय है; दोनो पहलूओं का ज्ञान कराने वाला प्रमाण है। जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा -ऐसा अनुमान कराते हैं। तथा स्वसंवेदन ज्ञान से प्रत्यक्ष वेदन वह प्रत्यक्षज्ञान है। आत्मा के असंख्य प्रदेश प्रत्यक्ष नहीं दिखते; परन्तु अनुमान होता है।

वस्तु की प्रतीति कराने के लिये सुवर्ण का दृष्टान्त देते हैं। सोने में गुण-भेदरूप विशेष है; परन्तु सामान्य में विशेष नहीं है- इसप्रकार दृष्टान्त देकर वस्तु की प्रतीति कराते हैं।

....तथा यहाँ मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के अर्थ जीवादि तत्त्वों का विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं। वहाँ स्व-पर भेदविज्ञानादिक जिस प्रकार हो उस प्रकार जीव-अजीव का निर्णय करते हैं; तथा वीतरागभाव जिस प्रकार हो उस प्रकार आस्रवादिक का स्वरूप बतलाते हैं; और वहाँ मुख्यरूप से ज्ञान-वैराग्य के कारण जो आत्मानुभवनादिक उनकी महिमा गाते हैं।....

मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के लिये द्रव्यानुयोग में सात तत्त्वों का कथन हेतु और युक्ति से करते हैं। जीव और अजीव भिन्न-भिन्न चीज है। आत्मा, कर्म, शरीर और वाणी सब भिन्न-भिन्न है- ऐसी श्रद्धा कराते हैं। शरीर के कारण आत्मा और आत्मा के कारण शरीर नहीं है। कर्म के कारण विकार और विकार के कारण कर्म नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानानंद स्वरूप है और शरीरादि पर है। इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। एक दूसरे को (संयोग) संबंध होने से कथंचित् एक कहलाते हैं; परन्तु एक होते नहीं हैं। आत्मा और शरीर के घनिष्ट निमित्त-नैमित्तिक संबंध है इसकारण व्यवहार से कथंचित् अभेद कहा जाता है; परन्तु परमार्थत: दोनों एक नहीं है। शरीर और आत्मा अपने-अपने कार्य कर रहे हैं- ऐसा समझना चाहिये। निश्चय यथार्थ है और व्यवहार आरोप है। आरोप, आरोप अपेक्षा सत्य है; परन्तु वास्तविक नहीं है। आत्मा स्व है और शरीर, कर्म, वाणी अजीव पर है। आत्मा उनको नहीं कर सकता। जड़ की पर्याय जड़ से होती है- इसप्रकार द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव की भिन्नता बताकर भेदविज्ञान कराया जाता है। सात तत्त्वों का हेतु स्व-पर की भिन्नता कराना है, एकता कराना हेतु नहीं है।

इसप्रकार स्व-पर की प्रथकता का ज्ञान हो-ऐसा उपदेश द्रव्यानुयोग में किया जाता है।

अब आस्रवादि के निरूपण में क्या प्रयोजन है वह कहते हैं।

दया, दानादि के परिणाम पुण्य है, मलिनभाव है, धर्म नहीं है। पुण्य-पाप दोनों भाव आस्रव हैं- मलिन हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव हैं और दया, दान, यात्रादि के भाव पुण्यभाव हैं, दोनों अधर्म हैं। उनका स्वरूप वीतरागभाव कराने के लिये बतलाते हैं। वहाँ पुण्य छोड़कर पाप कराने का प्रयोजन नहीं है; प्रयोजन दृष्टि बदलाने का है। अत: ऐसा कहते हैं कि पुण्य-पापभाव धर्म के लिये व्यर्थ है; तू ज्ञानस्वरूप है, तेरा स्वभाव निर्मल है।

इसप्रकार रागादि की अपेक्षा छूटकर वीतरागभाव प्रगट हो- ऐसा कथन करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव-अजीव का भेद बताने का प्रयोजन भेदविज्ञान कराने का है और आस्रवादि के निरूपण में भी हेतु पुण्यभाव कराने का नहीं है; वीतरागभाव प्रगट हो यह हेतु है।

भाई! द्रव्यानुयोग में जैनदर्शन का मर्म है। इसलिये द्रव्यानुयोग को सही प्रकार से समझना चाहिये।

प्रश्न:- परन्तु हमें तो नयातिक्रांत होना है?

उत्तर:- पहले निश्चय और व्यवहारनय को समझे बिना नयातिक्रांत नहीं हुआ जाता; इसलिये पहले यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

सीताजी जंगल में गई तब किंचित रूदन आ गया, क्योंकि पर्याय में कमजोरी है; तो भी अन्तरदृष्टि (सम्यग्दृष्टि) का अभाव नहीं हुआ। उन्होंने रामचंद्रजी को संदेश भिजवाया कि सीता को छोड़ दिया, परन्तु अपने आत्मा के धर्म को मत छोड़ देना- इसप्रकार दृष्टान्त में भी वीतरागभाव का प्रयोजन है।

मूल चीज आत्मा की दृष्टि है। द्रव्यानुयोग के बिना भव का किनारा नहीं है और सत्समागम के बिना द्रव्यानुयोग समझमें नहीं आ सकता।

समयसारादि शास्त्रों में कहते हैं कि तू ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उसकी प्रतीति कर और पुण्य-पाप रहित वैराग्य कर! आत्मा शान्त-अनाकुल स्वभावी है और व्रत-अव्रत के परिणाम आकुलतारूप है। इनसे रहित वैराग्यभाव कर। स्त्री-पुत्रादि का त्याग देना मात्र ही वैराग्य नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और पुण्य-पाप विभाव उस स्वभाव मे नहीं है- ऐसा अन्तर निर्णय और स्थिरता होने पर राग घटाकर वीतरागता होना वैराग्य है। यह समझे बिना स्त्री-पुत्रादि छोड़ देना तो मोहगर्भित वैराग्य है; वह सच्चा वैराग्य नहीं है।

प्रश्न:- ज्ञान आवे (आत्मज्ञान हो) और वैराग्य न हो तो.... ?

उत्तर:- प्रकाश होवे और अंधकार का अभाव नहीं हो- ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अंधकार स्वयं मिट जाता है। इसीतरह सम्यग्ज्ञान होने पर पुण्य-पाप के अभाव से वैराग्यभाव होता ही है।

आत्मा के अनुभव से ज्ञान-वैराग्य होता है। जीव ने आत्मा के भान बिना क्षयोपशम ज्ञान किया; परन्तु उसका कोई मूल्य नहीं है। ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा के अनुभव का कार्य ज्ञान और वैराग्य है। परवस्तु को छोड़ना वैराग्य का तथा शास्त्र पठन ज्ञान का कारण नहीं है। आत्मा अपना अनुभव करे तभी ज्ञान-वैराग्य होता है। बाह्य वस्तु तो पर है, आत्मा में उसका प्रवेश नहीं है। तथा पुण्य-पाप विकार है। उनसे दूर हटकर आत्मा का अनुभव करने से ज्ञान-वैराग्य होता है। आत्मा का अनुभव 'ज्ञान' है और राग का घटना 'वैराग्य' है।

इस प्रकार यहाँ दो बातें की है:-

* जीव-अजीव का भेदज्ञान कराकर श्रद्धा करायी।

* आस्रवादि का स्वरूप संवर-निर्जरारूप वीतरागभाव होने के लिए बताया। इनमें आस्रव-बंध हेय और संवर-निर्जरा-मोक्ष उपादेय है। इसप्रकार सात तत्त्वों की श्रद्धा करायी।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के स्वरूप की श्रद्धा करायी।

....**तथा द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म-उपदेश की प्रधानता हो, वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभवनादि में लगाने को व्रत-शील-संयमादिक का हीनपना प्रगट करते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना; क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है शुद्धोपयोग में लगाने को शुभोपयोग का निषेध करते हैं।....**

आत्मा चिदानंद स्वरूप है, उसकी प्रतीति करके राग रहित होओ, अभेद स्वभाव का लक्ष्य करो- इसप्रकार द्रव्यानुयोग में महिमा गाई जाती है। तथा द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता है, वहाँ दया, दानादि के परिणाम का निषेध करते हैं। अज्ञानी जीव दया, दानादि में ही धर्म मानता है वह भूल है। स्वभावदृष्टि कराने के लिये द्रव्यानुयोग में पुण्य का निषेध कराते हैं। अज्ञानी जीव तो बाह्य क्रिया में पुण्य मानता है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि के पुण्य का भी निषेध करते हैं और यह समझाते हैं कि स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है।

जो जीव आत्मा का अनुभव नहीं करता और बाह्य व्रतादि में ही मग्न है, उसको वहाँ से उदासीन कराते हैं और स्वभाव की श्रद्धा-निर्विकल्प प्रतीति कराने के लिये व्रत, शील, संयम को अधर्म कहते हैं। पुण्य से धर्म नहीं होता, भक्ति पूजा का भाव अधर्मभाव है, वह भाव आत्मकल्याण के लिये व्यर्थ है। यदि जीव निश्चय ज्ञायक स्वभाव की रुचि करे तो राग आदर नहीं करे; परन्तु इस बात को अज्ञानी नहीं समझता। इसलिये निर्विकल्प प्रतीति कराने के लिये पाँच महाव्रत, शील, संयम को हीन कहते हैं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना

चाहिये कि पुण्य परिणाम छोड़कर पाप परिणाम करना चाहिये और ऐसा उद्देश्य भी नहीं है। दया, दानादि के भावों से परम्परा धर्म होगा- इस मान्यता का भी निषेध करते हैं; परन्तु इसका प्रयोजन शुभपरिणाम छुड़ाकर अशुभ कराने का नहीं है; बल्कि शुभ का निषेध करके शुद्ध की दृष्टि कराने का है।

एक बार गाँधीजी ने श्रीमद् राजचन्द्रजी से प्रश्न किया कि कोई मनुष्य अपने कमरे में स्नान कर रहा हो और कमरा छोटा हो व दरवाजे पर सर्प आ गया हो तथा निकलने का रास्ता न हो तो उस व्यक्ति को सर्प का क्या करना चाहिये ?

श्रीमद्जी ने जवाब दिया कि आर्य पुरुष को सर्प को मारने का भाव नहीं हो सकता। सर्प शरीर का अर्थी है अत: आत्मार्थी को उसे शरीर अर्पण कर देना चाहिये। हमसे यह कैसे कहा जाये कि सर्प को मार देना चाहिये। इसी प्रकार यहाँ पुण्य से धर्म होता है- ऐसा कैसे कहा जाये ?

शुभाशुभ भाव तो अपने कालक्रम में आयेंगे; अब तुझे किस तरफ रुचि करना है? शुभाशुभ परिणाम क्रमसर होते हैं- ऐसा निर्णय करने वाले को सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। यहाँ कहते हैं कि जो जीव सात तत्त्वों के श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता, उसको शुभभाव का हीनपना बताते हैं। इसका प्रयोजन शुभ छुड़ाकर अशुभ कराने का न होकर दृष्टि में से शुभाशुभ परिणामों को छुड़ाने का है। अर्थात् शुद्ध उपयोग का प्रयोजन है। उपदेश का आशय पाप के परिणाम में लगाने का नहीं; परन्तु पुण्य से भी छुड़ाकर शुद्ध में लाने का है।

....यहाँ कोई कहे कि अध्यात्मशास्त्र में पुण्य-पाप समान कहे हैं, इसलिये शुद्धोपयोग हो तो भला ही है, न हो तो पुण्य में लगो या पाप में लगो?

उत्तर :- जैसे शूद्र जाति की अपेक्षा जाट, चांडाल समान कहे हैं; परन्तु चांडाल से जाट कुछ उत्तम है; वह अस्पृश्य है, यह स्पृश्य है; उसी प्रकार बन्ध कारण की अपेक्षा पुण्य-पाप समान है; परन्तु पाप से पुण्य कुछ भला है; वह तीव्रकषायरूप है, यह मन्दकषायरूप है; इसलिये पुण्य छोड़कर पाप में लगना युक्त नहीं है- ऐसा जानना।

तथा जो जीव जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्यों में ही मग्न हैं उनको आत्मश्रद्धानादि कराने को 'देह मे देव है, मन्दिरों में नही' -इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि भक्ति छोड़कर भोजनादिक से अपने को सुखी करना; क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन ऐसा नहीं है।

इसीप्रकार अन्य व्यवहार का निषेध वहाँ किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना। ऐसा जानना कि जो केवल व्यवहारसाधन में ही मग्न हैं उनको निश्चयरुचि कराने के अर्थ व्यवहार को हीन बतलाया है।....

प्रश्नः- अध्यात्म शास्त्रों में पुण्य-पाप को समान कहा है; दोनो बंध के कारण हैं इस अपेक्षा से समान कहा है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध चिदानंद आत्मा की दृष्टि और लीनता करना शुद्धोपयोग है और वह धर्म है। इसलिये शुद्धोपयोग होवे तो ठीक, अन्यथा तो दया, दानादि में लगो या हिंसा, झूठ आदि में लगो; दोनो एक ही है?

उत्तरः- जैस शुद्र जाति की अपेक्षा जाट और चाण्डाल को समान कहा है; परन्तु चाण्डाल की अपेक्षा जाट की जाति उँची है। चाण्डाल अस्पृश्य है और जाट स्पृश्य है- ऐसी मर्यादा है। इसीप्रकार बंधकारण की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों समान होने पर भी पाप में तीव्र राग-द्वेष होते हैं और पुण्य में मंद राग-द्वेष होते हैं; क्रोध, मान, माया, लोभादिक में तीव्रराग है और दया आदिक में मंदराग है; परन्तु उनमें धर्म नहीं है। शुद्धस्वभाव की दृष्टि किये बिना कल्याण नहीं है। शुद्ध चिदानंद की रुचि कराने के लिये पुण्य-पाप दोनों को छुड़ाया है; परन्तु इस कथन का आशय पुण्य छोड़कर पाप करने का नहीं है।

अन्तरंग में मंदकषाय के परिणाम से पुण्य होता है, क्रिया से पुण्य नहीं होता। पुण्य करते-करते धर्म का अवसर मिलेगा- ऐसा भी नहीं है। जिसने अनंतकाल में शुद्ध स्वभाव की रुचि नहीं की है, उसको निश्चय की रुचि कराने के लिये व्यवहार को हीन बतलाया है। व्रत, तप, जप आदि धर्म का कारण नहीं है, आत्मा की रुचि करना धर्म है। जबतक (पूर्ण) वीतराग न हो तबतक (भूमिकानुसार) पुण्य-पाप के भाव आयेंगे; परन्तु उनकी रुचि छोड़कर निश्चय की रुचि कराने के लिये व्यवहार को हीन बतलाया है; परन्तु इससे पुण्य छोड़कर पाप में लगना योग्य नहीं है।

क्रिया तीन प्रकार की है। जड़ की अवस्था जड़ की क्रिया है। अपने में होने वाले पुण्य-पाप के भाव विकारी क्रिया है। जड़ और विकार से रहित आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करना धार्मिक क्रिया है।

जड़ सत् है, आत्मा सत् है। सत् को सत् न मानकर पर से क्रिया मानना असत् है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है। आत्मा उसको कर सकता है- ऐसी मान्यतावाले को मिथ्यात्व का महापाप लगता है। तथा अपने में दया, दानादिक भाव होते हैं वे स्वयं से होते हैं, पर के कारण वे भाव नहीं होते। वे भाव चिदानंद स्वभाव की पर्याय में उपाधि है- विभाव है। जीव ने अनंतबार पुण्य-पाप के भाव किये हैं, स्वर्ग में भी गया है; परन्तु मैं पुण्य-पाप से रहित ज्ञान हूँ- ऐसे भाव का भासन नहीं होने के कारण धर्म नहीं हुआ है।

जबतक पूर्ण वीतराग न हो तबतक ज्ञानी को भी शुभविकल्प आता है, वह पुण्यास्रव है। मुनिराज को अट्ठाईस मूलगुण होते हैं; परन्तु वह विकार होने से वास्तव में अवगुण है- संसार के कारण है। अन्तर में अनाकुल शान्ति प्रगट होना धर्म है और जितना राग शेष रहता है वह आस्रव है, बंध का कारण है। स्वरूप स्थिरता ही कल्याण का कारण है, अन्य कल्याण नहीं है।

जीव ने मुनि होकर पंचमहाव्रतों का पालन किया, तथा कठिन अभिग्रह धारण किये; परन्तु क्रिया से रहित आत्मा की बात रुचि न होने से धर्म नहीं हुआ। इन्द्रियों का संयम किया, अथाह वैराग्य लिया, मौन धारण किया, जप किये, सबसे उदास रहा; परन्तु आत्मा मन-वाणी आदि से भिन्न है और राग से भी पार है- ऐसी रुचि नहीं करने के कारण जन्म-मरण का अभाव नहीं हुआ।

अध्यात्म में ऐसा उपदेश आता है; परन्तु इसका आशय पुण्य छोड़कर पाप में लगने का नहीं है। व्यवहार का हीनपना सम्यग्ज्ञान कराने के लिये बताया है।

आत्मा परपदार्थों की अवस्था नहीं कर सकता। शरीरादि जड़ है। उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव जड़ से होते हैं। प्रत्येक द्रव्य का कार्य भिन्न-भिन्न हो रहा है। जीव पर की सेवा नहीं कर सकता। अज्ञानी जीव मात्र अभिमान करता है। यदि पर का कार्य आत्मा से होता है तो उससमय पर के सामान्य ने क्या किया? अतः आत्मा पर का कार्य कर सकता है- ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व पर्याय का व्यय होता है, नई (उत्तर) पर्याय का उत्पाद होता है और गुण ध्रुव रहता है- ऐसा जानना चाहिये। जानना ही उन्नतिक्रम का उपाय है। नाम का अज्ञान नाम के ज्ञान से मिटता है। सत् का अज्ञान सत् का ज्ञान करने से मिटता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी मनुष्य का नाम जानने के लिए उपवास करे, पच्चीस लाख रुपये खर्च करे तो नाम ज्ञात नहीं होता। इसीप्रकार कोई आत्मा को जानने के लिये लाखों रुपये खर्च करे या उपवास करे तो भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। (आत्मस्वभाव में) अन्तर्मुख होकर अनुभव करने से ही आत्मा ज्ञात होता है।

यहाँ तो कहते हैं कि मुनि के अट्ठाईस मूलगुण भी धर्म नहीं है। जहाँतक वीतरागदशा न हो वहाँतक कमजोरीवश राग आता है; परन्तु ज्ञानी उस राग का स्वामी नहीं होता। जगत के समस्त पदार्थ सत् हैं। आत्मा उनकी क्रिया नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टि समझता है कि शुभाशुभभाव अधर्म है, इससे रहित आत्मा की दृष्टि होना धर्म है।

आत्मस्वभाव विकार रहित ज्ञानमय है- ऐसे भान बिना (अज्ञानी) सम्मेदशिखर जाये, वर्षोतप करे, यात्रा करे- यह सब रण मे पीठ दिखाने के समान व्यर्थ है। ज्ञान के भण्डार की रुचि नहीं करे और पुण्य की रुचि करे तो कभी कल्याण नहीं होता- ऐसा द्रव्यानुयोग में उपदेश करते हैं; परन्तु इसका आशय पुण्य छोड़कर पाप करना नहीं है।

भगवान की पूजा-भक्ति आदि में पुण्य है, धर्म नहीं। जड़ की क्रिया जड़ के कालक्रम में होती है। ज्ञानी समझता है कि अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है; परन्तु वह उसमें धर्म नहीं मानता। अज्ञानी जीव यात्रा आदि में धर्म मानता है; परन्तु उसमें कषाय की मंदता करे तो पुण्य है। न तो क्रिया से पुण्य है और न पुण्य से धर्म है। मन्दिर में जाकर धन का लालच करे तो पापबंध होता है। जो जीव भक्ति आदि में निमग्न है उसको आत्मश्रद्धा कराने के लिये देह में देव है, मन्दिर में देव नहीं- इत्यादि उपदेश देते हैं। योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं कि-

नहिं देव मन्दिर विषे, देव न मूर्ति चित्र।
तन मन्दिर में देव जिन, समझ होय समचित्त।।

योगसार, दोहा

यह कहकर जो जीव मन्दिर में अथवा भक्ति के भाव में धर्म मानता है उसको आत्मा की

श्रद्धा करने को कहते हैं। चिदानंद आत्मदेव तुझमें है, मन्दिर में तेरा देव नहीं है। देवपूजा में एकान्त धर्म मानना भूल है और पूजा-भक्ति का एकान्त निषेध भी मिथ्या है। धर्मी जीव जानता है कि रागदशा में प्रतिमा के प्रति लक्ष्य जाता है; परन्तु वह पुण्य है। जबकि अज्ञानी जीव उसमें धर्म मानता है। अत: द्रव्यानुयोग में आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान कराने के लिये भगवान की भक्ति आदि को हीन बतलाते हैं। उसकी रुचि छोड़ने को कहते हैं; परन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस भक्ति को छोड़कर खाने-पीने के भाव (पापभाव) करना चाहिये। वहाँ आशय यह है कि तेरे आत्मा की भक्ति (अन्तर्लीनता) के बिना भगवान की सच्ची भक्ति नहीं होती। पुण्य-पाप की क्रिया से रहित आत्मा की श्रद्धा करना निश्चय भक्ति है और शुभराग व्यवहार भक्ति है- ऐसी समझ कराते हैं।

कोई कहता है कि पंचकल्याणक कराने से आठ भव में जीव की मुक्ति हो जाती है; तो यह भी भ्रम है। पंचकल्याणक कराने से मुक्ति नहीं होती। वहाँ भी जड़ की क्रिया जड़ से होती है और राग की मंदता की हो तो वह पुण्य है; परन्तु उससे रहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करना धर्म है। भाई! यह बात समझे बिना भव का अन्त नहीं आ सकता है। ज्ञानस्वभाव आत्मा रागादिक के परिणामों से भिन्न है- इस भेदज्ञान के बिना सब रण मे पीठ दिखाने के समान है। चैतन्यवस्तु सत् निर्विकारी शुद्ध है; जिसको उस वस्तु का पता नहीं है उसको धर्म नहीं हो सकता है। शुभराग से परम्परा धर्म नहीं होता। जैसे प्याज खाने से अमृत की डकार नहीं आती है; इसीप्रकार शुभराग करते-करते धर्म नहीं होता है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग में भक्ति आदि के शुभराग की रुचि छुड़ाकर आत्मा की दृष्टि कराने के लिये भक्ति की हीनता बतलाते हैं; परन्तु वहाँ भक्ति के शुभभाव छुड़ाकर पाप कार्य कराने का अभिप्राय नहीं है।

आत्मा की पर्याय में दया, दानादि के परिणाम होते हैं वे आस्रव हैं, बंध के कारण हैं, धर्म के कारण नहीं । इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रमादी होना।

द्रव्य की और पर्याय की परमेश्वरता अपने-अपने में है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवता ही परमेश्वरता है। जड़ भी परमेश्वर (जड़ेश्वर) है। सत् है वह सत्य है, सत्य ही परमेश्वर है। फिर उस (सत्) के ज्ञानानंद परमेश्वर और जड़ परमेश्वर - यह दो भाग पड़ते हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रभु है, अपनी ध्रुवता रखकर नयी-नयी पर्याय होती है और पुरानी पर्याय का नाश होता

है। प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वयं से होती है, जीव से अथवा अन्य परमाणु से नहीं होती। यह सत् है। सत्य का स्वीकार ही सच्चे परमेश्वर का स्वीकार है। आत्मा पर से भिन्न है; अपनी पर्याय में होने वाले विकार से स्वाभाविक परमेश्वरता उत्पन्न नहीं होती। दया, दानादिक में भी पर्याय की प्रभुता है; परन्तु स्वाभाविक प्रभुता बताने के लिये उस पर्याय की हीनता बताते हैं। अपने उत्पाद-व्यय- ध्रुव अपने में हैं। अपने सत् की अपेक्षा से समस्त पदार्थ असत् हैं। अपनी प्रभुता अपने में है। जीव विकार भी स्वयं के कारण करता है, दया, दानादिकभाव स्वयं करता है; परन्तु शान्ति प्रगट कराने और स्वभाव की रुचि कराने के लिये राग को हीन बताया है। विकार भी प्रभु है; क्योंकि अपनी प्रभुता से होता है; परन्तु वह अशुद्ध प्रभुता है। ज्ञायक स्वभाव की प्रभुता कराने के लिये रागादि परिणामों को हीन बताया है। राग अन्य दु:खी जीवों के कारण नहीं होता, अपनी पर्याय में अपने कारण से शुभराग होता है।

अज्ञानी जीव विकार होना पर के कारण मानता है; परन्तु पर के कारण विकार नहीं होता। अपनी दशा में होनेवाला शुभराग पर से नहीं, स्वयं से होता है- ऐसा स्वीकार करने के बाद स्वभाव की रुचि कराने के लिये उसे हीन बताते हैं।

समस्त पदार्थ सत् हैं। प्रत्येक द्रव्य मे पूर्व पर्याय का व्यय होता है, उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है और गुण ध्रुव रहते हैं। यह सब अपने-अपने कारण है, पर के कारण नहीं। तथा आत्मा में होनेवाला राग भी सत् है, वह निमित्त के कारण नहीं है- ऐसी स्वीकृति के अभाव वाले को धर्म की योग्यता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अशुद्धता के अंश में पूरा स्वभाव नहीं आ जाता। राग पलट जाता है। पर की अपेक्षा से वर्तमान राग सत् है; परन्तु त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से वर्तमान राग असत् है। अर्थात्! व्यवहार (राग) आदरणीय नहीं है। क्षणिक सत् (राग) अशुद्ध है, अशुद्धता से शान्ति नहीं मिलती; इसलिये राग को हेय समझकर ध्रुव स्वभाव की दृष्टि कर तो शान्ति की प्राप्ति होगी।

आत्मा पर की क्रिया तो कर ही नहीं सकता। रागादि परिणाम (भी) पर्याय में होते हैं; उस राग का निषेध करके स्वभाव की श्रद्धा कराते हैं। -यह बात समझने के लिये सच्ची रुचि होना चाहिये। इसमें ज्यादा बुद्धि का काम नहीं है, रुचि का काम है।

पदार्थ है- ऐसा कहना और फिर यह कहना कि वह मेरे से है- दोनो बातें विरुद्ध हैं। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं से सत् है।

मेढ़क को ज्ञान का अधिक क्षयोपशम नहीं है; परन्तु मैं आत्मा स्व से हूँ, पर से मैं नहीं; पर्याय में होने वाले विकार जितना ही मैं नहीं हूँ, मै ज्ञान हूँ- ऐसे भान से वह धर्म प्राप्त कर लेता है। भगवान के समवसरण में चकवा भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत् है। मेरा सत् मुझसे है, पर से नहीं; मेरे पुण्य-पाप मुझसे है, पर से नहीं तथा रागादि परिणाम होते हैं वे आकुलतारूप हैं इसलिये वे मुझे अपेक्षित नहीं है। निज आत्मस्वभाव अनाकुल है। इसप्रकार अनाकुल स्वभाव की रुचि करना सम्यग्दर्शन है।

मैं हूँ, पर है, क्षेत्र है, भाव है, ऐसा कहना और पर से मैं हूँ तथा मुझसे पर है- ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है। ऐसा कहने वाला वास्तव में सत् को समझा ही नहीं है। अपना सत् परसत् से नहीं है। दया, दानादि के परिणाम होते हैं वह भी कायम वस्तु नहीं हैं, वह पलटकर अशुभभाव हो जाता है। ये शुभाशुभ- दोनों भाव क्रत्रिम हैं, शक्ति की उल्टी परिणति है, उसका निषेध करके यहाँ सुलटे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान कराते हैं। त्रिकाली सत् की रुचि कराने के लिये क्षणिक सत् का निषेध कराते हैं।

....तथा उन्हीं शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादिक को बन्ध का कारण नहीं कहा, निर्जरा का कारण कहा; परन्तु यहाँ भोगो का उपादेयपना नहीं जान लेना। वहाँ सम्यग्दृष्टि की महिमा बतलाने को जो तीव्रबन्ध के कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे, उन भोगादिक के होने पर भी श्रद्धानशक्ति के बल से मन्द बन्ध होने लगा उसे गिना नहीं और उसी बल से निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिये उपचार से भोगों को भी बन्ध का कारण नही कहा, निर्जरा का कारण कहा। विचार करने पर भोग निर्जरा के कारण हों तो उन्हे छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपद का ग्रहण किसलिये करे? यहाँ इस कथन का इतना ही प्रयोजन है कि देखो, सम्यक्त्व की महिमा! जिसके बल से भोग भी अपने गुण को नहीं कर सकते हैं।

इसीप्रकार अन्य भी कथन हों तो उनका यथार्थपना जान लेना।....

मैं शुद्ध चिदानंद हूँ- इसप्रकार ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करनेवाला तथा रागादि परिणाम को हेय माननेवाला सम्यग्दृष्टि जीव संसार में होने पर भी निर्जरा करता है; और द्रव्यलिंगी मुनि को प्रथकता का भान नहीं होने से निर्जरा नहीं है।

किसी समय सम्यग्दृष्टि को लड़ाई, भोग आदि के परिणाम होने पर भी निर्जरा का कारण कहा है; क्योंकि उसकी दृष्टि वर्तमान अशुभराग पर नहीं है, बल्कि ज्ञानानंद स्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है। इसकारण अशुभ खिर जाता है और स्वभाव की शुद्धि बढ़ती है।

मुझसे पर प्रथक् है, उसकी क्रिया उसके कालक्रम में होती है। मैं अशुभराग जितना नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ- ऐसी रुचि हुई है, इसलिये अशुभराग होने पर भी निर्जरा के कारणरूप कहा है। वहाँ भोगादि अंगीकार करने योग्य हैं- ऐसा नहीं समझना चाहिये। भरत-चक्रवर्ती के छियानवैं हजार स्त्रियां थी। तथापि उनको अन्तर में त्रिकाली सत् का आदर था, निमित्त और विकार की दृष्टि नहीं थी- इसकारण क्षण-क्षण निर्जरा कही है; परन्तु इससे अशुभभाव को उपादेय नहीं समझना चाहिये। सम्यग्ज्ञानी को संयोग और राग की दृष्टि छूटकर ज्ञायक स्वभाव की रुचि हुई है, इसलिये (उक्त कथन में) सम्यग्ज्ञान की महिमा बतलाई है। उसको अशुभ परिणाम होने पर भी केवल श्रद्धा शक्ति के बल से मंद बंध होने लगा है। अनंत परपदार्थों में मेरा अधिकार नहीं है और मेरी सत्ता में पर का अधिकार नहीं है- इसप्रकार अनंत परपदार्थों पर से दृष्टि छूट गई है और रागादिक क्षणिक हैं, मैं उनके जितना ही नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक हूँ- इसप्रकार त्रिकाली शक्ति का आदर वर्तता होने से अशुभ के मंद बंध को नहीं गिना है। इसप्रकार श्रद्धा के बल से सम्यग्दृष्टि के भोगों को बंध का कारण न कहकर निर्जरा का कारण कहा है; परन्तु वास्तविक विचार करने पर यदि भोग निर्जरा का कारण हो तो उन्हें छोड़कर सम्यग्दृष्टि जीव मुनिपद क्यों अंगीकार करता है।

सम्यग्दृष्टि भावना भाता है कि मैं कब स्वभाव में स्थिर होऊँ! वह मानता है कि मेरा सुख पर में नहीं है, मैं ज्ञायक चिदानंद हूँ; वह ऐसे स्वभाव का आदर करता है, इसलिये मुनिपद में अशुभभाव छूट जाता है। अत: कहा जाता है कि जिसको ज्ञान-स्वभाव का स्वीकार है उसको अशुभभाव मिट जाता है।

यहाँ तो इस कथन का इतना ही प्रयोजन है कि देखो, सम्यक्त्व का माहात्म्य! कि जिसके

बल से भोग भी अपने गुण को नहीं कर सकते। भगवान आत्मा सत् परमेश्वर है, उसका स्वीकार करने से भोग भी अपने गुण को नहीं कर सकते। अर्थात् वे बंध नहीं कर सकते। ज्ञानी अस्थिरताजन्य राग का स्वामी नहीं होता, त्रिकाली स्वभाव का स्वामी होता है।- इसप्रकार नहीं देखनेवाला बाह्यदृष्टिवंत बहिरात्मा है। अन्तरदृष्टिवंत ही अन्तरात्मा है।

इसीप्रकार अन्य कथन भी हों तो उनका यथार्थ आशय समझ लेना चहिये।

....तथा द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है; इसलिये छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहाँ कथन करते हैं। इतना विशेष है कि चरणानुयोग में तो बाह्यक्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं; परन्तु करणानुयोगवत् सूक्ष्मवर्णन नहीं करते। उसके उदाहरण देते हैं:-

उपयोग के शुभ,अशुभ,शुद्ध- ऐसे तीन भेद कहे हैं; वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापनुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग - ऐसा कहा है; सो इस छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा यह कथन है; करणानुयोग में कषायशक्ति की अपेक्षा गुणस्थानादि में संक्लेशविशुद्ध परिणामों की अपेक्षा निरूपण किया है वह विवक्षा यहाँ नहीं है।

करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिये वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते उसकाल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मरागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है।

इसीप्रकार स्व-पर श्रद्धानादिक होनेपर सम्यक्त्वादि कहे, वह बुद्धिगोचर अपेक्षा से निरूपण है; सूक्ष्म भावों की अपेक्षा गुणस्थानादि में सम्यक्त्वादि का निरूपण

करणानुयोग में पाया जाता है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

इसलिये द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिसप्रकार यथाख्यातचारित्र होनेपर तो दोनो अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचलीदशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसीप्रकार अन्य कथन जान लेना।....

तत्त्वज्ञान के अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय के अधिकार में (द्रव्यानुयोग में) चरणानुयोग की तरह शुद्ध का ग्रहण और शुभ के त्याग कराने का प्रयोजन है, इसलिये वहाँ छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा से ही कथन किया जाता है।

इतना विशेष है कि चरणानुयोग में बाह्य क्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं और द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से वर्णन करते हैं। अर्थात् अन्दर के परिणाम की बात करते हैं। पदार्थों के कथन के समय यह कहते हैं कि शुभभाव छोड़कर शुद्धभाव करो। वहाँ करणानुयोग की अपेक्षा समय-समय के परिणाम की बात नहीं है। करणानुयोग की अपेक्षा से शुद्धता बारहवें गुणस्थान में है और द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से शुद्धता चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है।

यहाँ आचरण के भेद की अपेक्षा से उपयोग की बात है। दया, दानादि शुभ परिणाम है। विपरीत मान्यता, द्वेषादि अशुभ परिणाम है और आत्मा के भानपूर्वक लीनता शुद्ध परिणाम है। यह आचरण की अपेक्षा से उपयोग की बात है। शुभ-अशुभ दोनों अशुद्धोपयोग है और स्वभाव का ज्ञान करके स्थिरता करना शुद्धोपयोग है।

मैं ज्ञान हूँ, मेरा स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है। इसप्रकार स्वभाव सन्मुख होकर, पुण्य-पाप का भाव छूटकर आंशिक शुद्धता होती है। उसको शुद्धोपयोग कहते हैं। इसप्रकार यहाँ करणानुयोग की अपेक्षा से शुद्धोपयोग की बात नहीं है। करणानुयोग की अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान को शुद्धोपयोग कहते हैं, उसका कथन यहाँ नहीं है। यहाँ द्रव्यानुयोग में बुद्धि पूर्वक राग को छोड़कर शुद्ध को ग्रहण करना शुद्धोपयोग है। शुद्ध उपयोग धर्म है और शुभ-अशुभ दोनों अधर्म है। धर्म-अधर्म परिणामों से है। यहाँ छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा

से कथन है। अत: बुद्धिपूर्वक राग छोड़कर स्वभाव में एकाग्रता करने को शुद्ध उपयोग कहते हैं। इसप्रकार द्रव्यानुयोग की पद्धति समझना चाहिये।

चौथे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग छूट जाने पर शुद्धोपयोग होता है- ऐसा द्रव्यानुयोग कहता है। करणानुयोग की अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान में बुद्धि-अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर शुद्धोपयोग होता है। करणानुयोग की अपेक्षा से अंश भी राग रहे वहाँतक शुद्धोपयोग नहीं कहलाता है। वह शुद्धोपयोग निचलीदशावाला नहीं कर सकता। आत्मा के धर्म की व्याख्या चलती हो वहाँ शुद्धोपयोग धर्म है, दया-दानादि के परिणाम धर्म नहीं है। आत्मा जड़पदार्थों को त्याग नहीं सकता। उपवासादि में आहार के प्रति राग की मंदता होना पुण्य है- धर्म नहीं और मैने आहार-पानी छोड़ा ऐसी विपरीत मान्यता करे तो मिथ्यात्व का महापाप साथ ही है।

ज्ञानी शुद्धोपयोग की भावना करता है। अपूर्णदशा में व्रतादिक का राग आ जाता है; परन्तु निमित्त लाने अथवा राग करने की भावना धर्मी को नहीं होती; कारण कि वह तो आस्रव की भावना है। राग, राग के काल में आता है, किन्तु ज्ञानी राग की भावना नहीं करता।

आत्मा ज्ञानानंद है, उसकी रुचि करना सम्यग्दर्शन है। तत्पश्चात् आत्मा में लीनता होने को शुद्धोपयोग कहते हैं। समकिती के तीन कषाय, श्रावक के दो कषाय और मुनि के एक कषाय चौकड़ी शेष है। अन्दर में अव्यक्त राग होता है; परन्तु बुद्धिपूर्वक राग का अभाव करके आत्मा में स्थिरता करना शुद्धोपयोग है। ऐसा उपयोग करुँ ऐसी हठ (ज्ञानी के) नहीं है। यह दशा समकिती के सहज आती है। 'ऐसा उपयोग लाऊँ'- इस इच्छा से शुद्धोपयोग नहीं आता।

प्रश्न:- समकिती जब शुद्धोपयोग लाना चाहे तब ला सकता है न?

उत्तर:- 'मैं शुद्धोपयोग लाऊँ'- समकिती के ऐसी इच्छा नहीं है, इच्छा राग है और उससे शुद्धोपयोग नहीं आता। स्वभाव सन्मुख होने पर इच्छा छूट जाती है। समकिती को सदा अकषाय परिणमन है। छठवें गुणस्थान में अकषाय परिणमन है; परन्तु शुद्धोपयोग नहीं है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में शुद्धपरिणति तो सदा है; परन्तु शुद्धोपयोग सदा नहीं है। स्वरूप में लीन होनेपर बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होना शुद्धोपयोग है। स्वभाव सन्मुख दृष्टि हुई, फिर

कालक्रम में शुद्धोपयोग आता है। समकिती को शुद्धोपयोग की भावना है; परन्तु इच्छा पूर्वक शुद्धोपयोग को लाऊँ- ऐसा लोभ नहीं है। उसको आत्मा की दृष्टि सदा है; परन्तु शुद्धोपयोग सदा नहीं है। स्वभाव सन्मुख होने पर शुद्धोपयोग होता है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-397 मे लोभ के चार प्रकार कहे गये हैं। उनमें उपयोग के लोभ को भी लोभ कहा है। ज्ञानी को उपयोग का भी लोभ नहीं होता। शुद्धोपयोग सहज होता है। इच्छा होना भावना नहीं है, बल्कि आस्रव है। ज्ञान में एकाग्रता होना भावना है। मैं पर्याय के क्रम को बदलूँ- यह दृष्टि मिथ्यादृष्टि की है। इससे पर्याय का क्रम नहीं पलटता है। ज्ञानी पुरुषार्थ गुण को अलग पाड़कर (करके) कार्य नहीं करते हैं। उनको तो ज्ञानानंद स्वभाव के आश्रय से शुद्धोपयोग सहज ही हो जाता है। जो पर्याय जिस कालक्रम में होने वाली है वह होती ही है।

'पंचाध्यायी' गाथा-862 में कहा है कि 'हे महाप्रज्ञ! ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। पर में उपयोग वर्तता है उसको छोड़कर स्व में लाने का हठ मत करना। दृष्टि पलटना ही पुरुषार्थ है। स्वयं अपने में स्थिति करने के लिये परवस्तु से हटकर अंतर में एकाकार होने की इच्छा से हे महाप्रज्ञ! तुझे दु:ख ही होगा।'

स्व में आऊँ तो ही लाभ होगा- ऐसी हठ नहीं करना। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। क्या पर को जानने से विशेष राग होता है? नहीं, ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है। शुद्धोपयोग सहज आ जाता है। इच्छा के कारण शुद्धोपयोग आता है- ऐसा नहीं है। इच्छा राग है, शुद्धोपयोग उसका कार्य नहीं है।

बुद्धिपूर्वक शुभाशुभ छूटकर आत्मा में सहज लीनता होना शुद्धोपयोग है। वैसा सर्वथा शुद्ध उपयोग बारहवें गुणस्थान में है; परन्तु निचली भूमिकावाला जीव बुद्धिपूर्वक राग छोड़कर अन्तर में लीनता करता है इसलिये स्थूल अपेक्षा से उसको भी शुद्धोपयोग कहा है। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्पदशा मे शुद्ध उपयोग है; परन्तु राग का सर्वथा अभाव नहीं है; अबुद्धिपूर्वक तीन प्रकार के कषाय बाकी हैं। चौथे, पाँचवे, सातवें गुणस्थान में जब जीव आत्मा का आनंद लेता हो तब शुद्धोपयोग कहा है। यद्यपि वहाँ अबुद्धिपूर्वक राग तो है; परन्तु उसका कथन नहीं किया है। बुद्धिपूर्वक राग को छोड़ता है इस अपेक्षा से वहाँ कथन है।

ज्ञानी राग का तथा निमित्त का तो कर्ता नहीं है; परन्तु राग में अटकता था; सो नही अटकने पर स्वभाव में लीनता करता है वह शुद्धोपयोग है। एक समय के परिणाम छद्मस्थ पकड़ नहीं सकता। आत्मा और राग का भेद स्थूल अपेक्षा से पाड़ता है। करणानुयोग की अपेक्षा से वर्णित सूक्ष्म राग को नहीं जान सकता।

जिसमें द्रव्य-गुण-पर्याय की यथार्थ बात हो ऐसे द्रव्यानुयोग में स्थूल अपेक्षा से कथन है। समय-समय के परिणाम करणानुयोग में जानना।

कोई द्रव्यानुयोग और करणानुयोग के शुद्ध उपयोग की विधि मिलाना चाहे तो नहीं मिलती। बारहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग दोनों अनुयोग अपेक्षा से होता है; परन्तु द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से चौथे-पाँचवे में कदाचित् (कभी-कभी) और सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है। चौथे गुणस्थान में एक कषाय (अनंतानुबंधी) का, पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय (अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण) का और छठवें गुणस्थान में तीन कषाय (अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण) का अभाव करके जो शुद्ध परिणति हुई है वह तो सदा है; परन्तु स्वभाव में लीन होनेपर ही शुद्धोपयोग होता है वह (छठवें के अलावा) कभी ही होता है।

यहाँ यह कहना है कि द्रव्यानुयोग के अनुसार शुद्ध उपयोग का आचरण चौथे-पाँचवें गुणस्थान में कदाचित होता है और सातवें में शुद्धोपयोग होता है; परन्तु करणानुयोग के अनुसार चौथे, पाँचवें और सातवें में राग रहता है, इसलिये शुद्धोपयोग नहीं है। करणानुयोग के अनुसार शुद्धोपयोग ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में होता है। इसप्रकार:-

* कोई कहता है कि चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही नहीं है- तो वह मूढ़ है। द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से वहाँ शुद्धोपयोग है।

* कोई कहता है कि चौथे, पाँचवे और सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग सदा होता है तो ऐसा भी नहीं है। चौथे-पाँचवे में कदाचित् (कभी-कभी) होता है। तथा

* करणानुयोग की अपेक्षा से चौथे-पाँचवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग हो गया- तो ऐसा भी नहीं है। करणानुयोग की अपेक्षा से ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग है।

शुद्धोपयोग हठ के लाना नहीं है। वस्तु सहज है, क्रम फेर नहीं है। ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि होकर पर्यायदृष्टि छूटने से स्वभाव तरफ गमन होता है। मुनिराज की समाधि के समय अन्य मुनिराज ऐसा उपदेश देते हैं कि-

हे मुनि! समाधिमरण समीप है। आहार अनंतबार लिया, पानी अनंतबार पिया, अब उसका लक्ष्य छोड़ो।' -ऐसा उपदेश देते हैं। यद्यपि उन मुनिराज को आत्मा का भान है; परन्तु सहनशीलता नहीं देखे तो अन्य मुनि उपदेश देकर जागृत करते हैं। अनंत अवतार धारण किये, यह देह शीघ्र छूट जायेगी; इसलिये अन्तर में लीन होओ। मुनि को समझाने का विकल्प आता है और शिष्य को समझने का विकल्प आता है, दोनों कालक्रम से आते है; परन्तु उपदेश ऐसा आता है।

प्रश्न:- पुरुषार्थ तो क्रमबद्ध होता है न?

उत्तर:- क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभावसन्मुख होनेपर होता है। तब पर की कर्त्ताबुद्धि और राग की कर्त्ताबुद्धि छूट जाती है। स्वभावसन्मुख दशा सहज होती है। उपदेश की पद्धति अमुक प्रकार से आती है; परन्तु मर्म दूसरा है। स्वभाव के पुरुषार्थ में केवली भगवान का निर्णय भी आ जाता है और यही मोक्षमार्ग है। स्वभावसन्मुख दशा होना ही धर्म है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग में कहा है कि द्रव्यदृष्टि होने के पश्चात् बुद्धिपूर्वक राग छूटकर स्वभाव में लीनता होना शुद्ध उपयोग है।

....तथा द्रव्यानुयोग में परमत में कहे हुए तत्त्वादिक को असत्य बतलाने के अर्थ उनका निषेध करते हैं; वहाँ द्वेषबुद्धि नहीं जानना। उनको असत्य बतलाकर सत्य श्रद्धान कराने का प्रयोजन जानना।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के द्रव्यानुयोग में व्याख्यान का विधान है।

इसप्रकार चारों अनुयोग के व्याख्यान का विधान कहा । वहाँ किसी ग्रन्थ में एक अनुयोग की किसी में दो की, किसी में तीन की और किसी में चारों की प्रधानता सहित व्याख्यान होता है; सो जहाँ जैसा सम्भव हो वहाँ वैसा समझ लेना।....

द्रव्यानुयोग में सर्वज्ञ भगवान द्वारा जाने हुए तत्त्व का निरूपण करते हुए अन्यमत के

तत्त्वों का निषेध करते हैं। भगवान ने छह द्रव्य, नौ पदार्थ आदि देखे हैं। इससे विरूद्ध कहनेवाला अज्ञानी हैं। एक ही आत्मा मानने, पर्याय में अशुद्धता न माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। सर्वज्ञ परमात्मा के मार्ग के अतिरिक्त अन्य सभी परमत में समाहित हैं।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है, पर्याय में विकार है; विकार रहित आत्मा का भान होनेपर धर्म होता है –यह बात अन्यमत में नहीं है; इसलिये उसका निषेध करते हैं।

भगवान किसी को पार नहीं कर देते। यदि भगवान ने परिभ्रमण कराया हो तब तो भगवान का दोष हुआ; परन्तु जीव स्वयं अपने अपराध से परिभ्रमण करता है और आत्मभान करके तिरता है। यहाँ अज्ञानियों के मत के निषेध में द्वेषबुद्धि नहीं है; परन्तु वस्तुस्थिति जैसी है वैसी स्थापित करना चाहिये (यह अभिप्राय है।) इसमें सम्यग्ज्ञान की प्रभावना है। आत्मा, आत्मारूप से है और कर्मरूप से नहीं है– ऐसा निर्णय किये बिना वस्तु को नहीं समझा जा सकता। शरीर शरीररूप से है, आत्मारूप से नहीं। शक्कर मीठी है और चिरायता कड़वा है। शक्कर चिरायते की तरह कड़वी नहीं है। अत: शक्कर का ज्ञान कराने के लिये चिरायते का भी ज्ञान कराना पड़ता है। इसीतरह सत्यश्रद्धा में मिथ्याश्रद्धा नहीं होती– इसकारण मिथ्याश्रद्धा का निषेध करना पड़ता है। जड़पदार्थ आत्मा में नहीं है। परलोक है। आत्मा आदि द्रव्य अनादि–अनंत हैं। परलोक को नहीं मानने वाला नास्तिक है– ऐसा कहना पड़ता है। आत्मा स्वरूप से है और पर रूप से नहीं– ऐसा स्पष्टीकरण करना पड़ता है। जैसे मुम्बई जाते हुए पुत्र से कहते हैं कि मुम्बई में जेबकतरे बहुत हैं, ध्यान रखना। वे साहूकार के वेष में तेरे समीप बैठेंगे इत्यादि पहिचान कराते हैं। इसीप्रकार जो धर्म के नाम पर वस्त्र धारण करके मिथ्याज्ञान की प्ररूपणा करते हैं उनकी पहिचान कराते हैं। यह कहना पड़ता है कि वे विपरीत प्ररूपणा कर रहे हैं। यह कहने में उस व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है (अपितु अपने को संभलना है– यह अभिप्राय है)।

चैतन्य भगवान को भूलकर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है– ऐसा मानना; पुण्य से धर्म मानना– ये सब मिथ्या प्ररूपणायें है। ऐसी प्ररूपणा करनेवालों का व्यक्तिगत अनादर नहीं करना; परन्तु विपरीत प्ररूपणा का निषेध हैं। साधक गुरु को विकल्प आता है और सहज ही ऐसा उपदेश हो जाता है। शास्त्र में ऐसा भी आता है कि मिथ्या प्ररूपणा

करनेवाले का निषेध नहीं करनेवाले को मिथ्यादृष्टि समझना। पुण्य और शरीर की क्रिया से धर्म मानना अनंत संसार का कारण है। द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का प्रयोजन सत्य को समझाना है। यद्यपि आत्मा भाषा का कर्त्ता नहीं है; परन्तु यहाँ तो उपदेश का स्वरूप बतातें हैं, उसके प्रयोजन को बताते हैं। यहाँ असत्य के निषेध और सत्य की स्थापना में मिथ्यात्व के अभाव का प्रयोजन है।

इसप्रकार चारों अनुयोगों के व्याख्यान का विधान कहा है। वहाँ किसी ग्रंथ में एक अनुयोग, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चारों अनुयोगों की प्रधानता होती है। अत: जहाँ जैसा संभव है वहाँ वैसा समझ लेना चाहिये।

अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति

....अब, इन अनुयोगो में कैसी पद्धति की मुख्यता पायी जाती है सो कहते हैं:-

प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि अलंकारादि से मन रंजायमान होता है, सीधी बात कहने से ऐसा उपयोग नहीं लगता जैसा अलंकारादि युक्तिसहित कथन से उपयोग लगता है। तथा परोक्ष बात को कुछ अधिकतापूर्वक निरूपण किया जाये तो उसका स्वरूप भली-भाँति भासित होता है।

तथा करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रमाणादिक का निरूपण करते हैं; सो गणित ग्रन्थों की आम्नाय से उसका सुगम जानपना होता है।

तथा चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ आचरण कराना है; इसलिये लोकप्रवृत्ति के अनुसार नीतिमार्ग बतलानेपर वह आचरण करता है।

तथा द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है और न्यायशास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है।

इसप्रकार अनुयोगों में मुख्य पद्धति है और भी अनेक पद्धतिसहित व्याख्यान इनमें पाये जाते हैं।....

प्रथमानुयोग में जो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, गणधरादि महापुरुष हो गये हैं उनकी कथा आती है, उसमें अलंकार बहुत करते हैं। स्त्री, पुरुष व देशादि के वर्णन में किया जाने वाला अलंकारिक वर्णन साधारण मनुष्यों को रुचिकर होता है। आदिपुराण में जयकुमार की कथा आती है। उसमें बहुत अलंकार आता है। कोई कहता है कि छठवें-सातवें गुणस्थान मे झूलनेवाले मुनियों ने ऐसा अलंकारिक वर्णन क्यों किया? भाई! यह सब बात आती है। चक्रवर्ती के पुण्य की बात आती है तब पुण्य की बहुत महिमा करते है। भरतचक्रवर्ती के छियानवें हजार रानियां, चौसठ हजार पुत्र थे- यह सब पुण्य का फल है। जो पुण्य को त्यागता है उसको पुण्य मिलता है। सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा पुण्य बंधता है, ऐसा पुण्य मिथ्यादृष्टि को नहीं बंधता। मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर अथवा बलदेव नहीं होता।

यहाँ प्रथमानुयोग की पद्धति क्या है- यह बतला रहे हैं। इस अनुयोग में काव्य रचना में अलंकार करते हैं। सीधी बात करने पर उसमें साधारण मनुष्यों का उपयोग वैसा नहीं लगता कि जैसा उपयोग अलंकारादिरूप वर्णन करने से लगता है।

दूसरे, परोक्ष बात का कुछ अधिकता पूर्वक निरूपण करते हैं। कम-ज्यादा बात को विस्तृत करके निरूपण करते हैं। आचार्यों ने (मुनियों ने) पुराणों में स्त्रियों का वर्णन किया है; तथापि मुनि ब्रह्मचर्य से खण्डित नहीं होते। किसी मुनि को कैसा विकल्प आता है, किसी को कैसा विकल्प आता है; वहाँ जैसा विकल्प आया उसी को जानता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ है और सामनेवाले जीव भी वैसी ही योग्यता वाले हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मुनियों को राग का रस होने के कारण ऐसी कथा करते हैं। मुनि तो राग और वाणी को जाननेवाले हैं, वे राग अथवा वाणी के कर्त्ता नहीं होते। ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष को विकल्प स्वयं के कारण आता है, सभा के कारण ज्ञान और विकल्प नहीं है। अपने ज्ञान के स्वकाल में ऐसा ज्ञान आया है और स्वयं के कारण विकल्प आया है। अलंकाररूप वर्णन किया है इसलिये तीव्र राग है- ऐसा नहीं समझना चाहिये।

यहाँ ज्ञानी की बात है, अज्ञानी की बात नहीं है। जगत कैसे प्रसन्न हो, सभा में भीड़ कैसे हो- ऐसे अभिप्रायवाले को कर्ताबुद्धि है, उसकी बात यहाँ नहीं है। ज्ञानी को अपनी योग्यतानुसार ज्ञान होता है और सामने वैसा निमित्त होता है। सभा के कारण ज्ञान माननेवाला अथवा ऐसे

जीवों की सभा है इसलिये ऐसा उपदेश देना ऐसी मान्यतावाला तो कर्ताबुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी ऐसा नहीं मानता है। ज्ञानी भी सभा में उपदेश देते हैं। वहाँ ज्ञानगुण की पर्याय प्रतिसमय अपनी योग्यता अनुसार होती है; परन्तु निमित्त आवे तो ज्ञान होता है- ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। कोई कहता है कि हम तो समय देखकर बात करतें है; परन्तु समय तो पर है। ज्ञानपर्याय क्रमसर होती है और राग भी क्रमसर आता है; यह क्रम निमित्त के कारण नहीं आता है। जैसे राग-द्वेष होते हैं वैसे ही राग-द्वेष को जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। सर्दी में श्रीखण्ड का भोजन नहीं कराया जाता, अपितु ऋतुनुकूल भोजन कराया जाता है- ऐसा दृष्टान्त देकर अज्ञानी कहता है कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार प्ररूपणा करनी चाहिये, समय देखकर धर्मोपदेश करना चाहिये; परन्तु भाई! क्या धर्म समय के कारण होता है? जैसा अपने ज्ञान में आता है वैसा कहते हैं। वैसा ज्ञान अन्य जीवों के कारण होता है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। (मुनियों को) कथा कहने का विकल्प पर के कारण नहीं आता। मुनिराज ऐसी वार्ता-उपदेश पर के लिये नहीं करते। देखो! कुन्दकुन्दाचार्य को द्रव्यानुयोग का और जिनसेनाचार्य को प्रथमानुयोग का विकल्प आया। तो प्रथमानुयोग का विकल्प आया इसलिये वे हल्के और द्रव्यानुयोग का विकल्प आया इसलिये कुन्दकुन्दाचार्य ऊँचें है- ऐसा नहीं है। प्रथमानुयोग में मुनिराज स्त्री के अंगों का वर्णन करते हैं, वे सब पुद्गल के भाग हैं, लकड़ी के समान है; वे सब ज्ञान में ज्ञेय है। इसप्रकार मुनिराज अधिकतापूर्वक अलंकार सहित कथा कहते हैं- ऐसी कथा की पद्धति है।

करणानुयोग में कर्म और आत्मा के सूक्ष्म परिणामों की मुख्यता है; कारण कि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव प्रमाणादि का निरूपण करते हैं। गणित ग्रंथों की आम्नाय से उसका जानपना सुगमरूप से होता है।

चरणानुयोग में व्रत,तप आदि की बात आती है, वहाँ सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ आचरण कराना है, इसलिये लोकप्रवृत्ति अनुसार नीतिमार्ग दर्शाने से वह आचरण करता है। इसप्रकार चरणानुयोग में राग घटाने का उद्देश्य है।

द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य है; कारण कि वहाँ निर्णय कराने का प्रयोजन है। विकार से धर्म नहीं होता, धर्म द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही होता है- ऐसा वहाँ वर्णन है।

निश्चय अबाधित युक्ति लागू पड़ने को न्याय कहते हैं। पर से बंधन नहीं होता, परिणामों से बंधन होता है। तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना धर्म है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। न्यायशास्त्र में निर्णय करने का उपदेश देते हैं, न्यायशास्त्र में परतन्त्रता नहीं बताते। अज्ञानी कहता है कि अष्ट्सहस्त्री में 'छायावाद' भरा पड़ा है अर्थात् उसमें आता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर असर करता है। ठंडी दवा के कारण आत्मा पर असर होता है, संगमरमर पर पैर रखने पर वह पैर की गर्मी चूस लेता है और ठंडक देता है- ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु वास्तव में किसी पर किसी का प्रभाव पड़ता है यह बात जैनदर्शन में नहीं है। इसप्रकार न्यायशास्त्रों में निर्णय कराया गया है।

इसप्रकार इन अनुयोगों में पद्धति की मुख्यता है तथा अन्य भी अनेक पद्धति सहित व्याख्यान इनमें होता है।

....यहाँ कोई कहे- अलंकार, गणित, नीति, न्याय का ज्ञान तो पण्डितों के होता है; तुच्छबुद्धि समझे नहीं, इसलिये सीधा कथन क्यों नहीं किया?

उत्तरः- शास्त्र हैं सो मुख्यरूप से पण्डितों और चतुरों के अभ्यास करने योग्य हैं, यदि अलंकारादि आम्नाय सहित कथन हो तो उनका मन लगे। तथा जो तुच्छबुद्धि हैं उनको पण्डित समझा दें, और जो नहीं समझ सकें तो उन्हें मुँह से सीधा की कथन कहें। परन्तु ग्रन्थों में सीधा कथन लिखने से विशेष बुद्धि जीव उनके अभ्यास में विशेष नहीं प्रवर्ते, इसलिये अलंकारादि आम्नाय सहित कथन करते हैं।

इसप्रकार इन चार अनुयोगों का निरूपण किया।

तथा जैनमत में बहुत शास्त्र तो इन चारों अनुयोगों में गर्भित हैं।....

प्रश्नः- अलंकार, गणित, नीति और न्याय का ज्ञान तो पण्डितों को होता है, तुच्छबुद्धि जीव यह सब नहीं समझ सकते। तब- धर्मकथा में अलंकार, करणानुयोग में गणित के सूक्ष्म हिसाब, चरणानुयोग में नीति के वचन और द्रव्यानुयोग में न्याय से सब सिद्ध करना क्यों किया?- यह सब तो पण्डित जानते हैं, सामान्य व्यक्ति तो नहीं जान सकते, इसलिये सीधा ही कथन क्यों नहीं किया?

उत्तरः- शास्त्र हैं वे मुख्य तो पण्डित और चतुर पुरुषों के अभ्यास करने योग्य हैं। अतः यदि अलंकारादि न हो तो उनका मन अभ्यास में नहीं लग सकता, और जिनकी बुद्धि थोड़ी है उनको पण्डित समझा दे, न समझ सकें तो मुँह से कहें; परन्तु ग्रन्थों में सीधा कथन करने से विशेष बुद्धिमान जीव उनके अभ्यास में नहीं प्रवर्तते- इसकारण अलंकारादि आम्नाय सहित कथन करते हैं।

बहुत से लोग समयसार की टीका आदि पढ़ते हैं, परन्तु मर्म नहीं समझते। द्रव्यानुयोग के न्याय ज्यों के त्यों न समझे तो क्या काम का?

इसप्रकार चारों अनुयोगों का निरूपण किया। जैनमत में बहुत शास्त्र तो इन चार अनुयोगों में गर्भित हैं। तथा व्याकरण, न्याय, छंद, कोष, वैद्यक, ज्योतिष और मंत्रादि शास्त्र भी जैनमत में होते हैं, उनका क्या प्रयोजन है वह सुनो:-

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों का प्रयोजन

....तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है सो सुनो :-

व्याकरण-न्यायादिक का अभ्यास होनेपर अनुयोगरूप शास्त्रों का अभ्यास हो सकता है; इसलिये व्याकरणादि शास्त्र कहे हैं।

प्रश्नः- भाषारूप सीधा निरूपण करते तो व्याकरणादि का क्या प्रयोजन था?

उत्तरः- भाषा तो अप्रभंशरूप अशुद्धवाणी है, देश-देश में और-और हैं; वहाँ महंत पुरुष शास्त्रों में ऐसी रचना कैसे करें? तथा व्याकरण न्यायादि द्वारा जैसे सूक्ष्म अर्थका निरूपण होता है वैसा सीधी भाषा में नहीं हो सकता; इसलिये व्याकरणादिकी आम्नाय से वर्णन किया है। सो अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना।

तथा वैद्यकादि चमत्कार से जिनमत की प्रभावना हो व औषधादिक से उपकार भी बने; अथवा जो जीव लौकिक कार्यों मे अनुरक्त हैं वे वैद्यकादि चमत्कार से जैनी होकर पश्चात् सच्चा धर्म प्राप्त करके अपना कल्याण करें- इत्यादि प्रयोजन सहित वैद्यकादि शास्त्र कहे हैं।

यहाँ इतना है कि ये भी जैनशास्त्र है ऐसा जानकर इनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से अपने रागादिक विकार बढ़ते न जाने, तो इनका भी जानना होओ। अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं है, इसलिये इनके अभ्यास का विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो गणधरादिक ने इनकी रचना किसलिये की?

उत्तरः- पूर्वोक्त किंचित् प्रयोजन जानकर इनकी रचना की है। जैसे- बहुत धनवान कदाचित् अल्पकार्यकारी वस्तु का भी संचय करता है; परन्तु थोड़े धनवाला उन वस्तुओं का संचय करे तो धन तो वहाँ लग जाये, फिर बहुत कार्यकारी वस्तु का संग्रह काहे से करे? उसी प्रकार बहुत बुद्धिमान गणधरादिक कथंचित् अल्पकार्यकारी वैद्यकादि शास्त्रों का भी संचय करते हैं; परन्तु थोड़ा बुद्धिमान उनके अभ्यास में लगे तो बुद्धि तो वहाँ लग जाये, फिर उत्कृष्ट कार्यकारी शास्त्रों का अभ्यास कैसे करे?

तथा जैसे- मंदरागी तो पुराणादि में श्रृंगारादि का निरूपण करे तथापि विकारी नहीं होता; परन्तु तीव्र रागी वैसे श्रृंगारादि का निरूपण करे तो पाप ही बाँधेगा। उसी प्रकार मंदरागी गणधरादिक हैं वे वैद्यकादि शास्त्रों का निरूपण करें तथापि विकारी नहीं होते; परन्तु तीव्र रागी उनके अभ्यास में लग जाये तो रागादिक बढ़ाकर पापकर्म को बाँधेंगे- ऐसा जानना।

इसप्रकार जैनमत के उपदेश का स्वरूप जानना।....

व्याकरण-न्यायादि का अभ्यास होनेपर अनुयोगरूप शास्त्रों अभ्यास हो सकता है, इसलिये व्याकरणादि शास्त्र कहे गये हैं। कोई कहे कि भाषारूप सरल निरूपण किया होता तो व्याकरणादि का क्या प्रयोजन रहता? उसका समाधान यह है कि भाषा तो अप्रभंशरूप वाणी देश-देश में अन्य-अन्य है। गुजराती भाषा वाले हिन्दी नहीं समझते और हिन्दी भाषा वाले गुजराती नही समझते- इसकारण महापुरुषों ने एक ही भाष में शास्त्रों की रचना की है। तथा उनमें व्याकरणादि की आम्नाय से वर्णन किया है। इसलिये अपनी बुद्धि अनुसार उनका थोड़ा-बहुत अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये।

तथा वैद्यकादि चमत्कार से जैनमत की प्रभावना होती है। कोई सम्यग्ज्ञानी मुनि हो और प्रभावना का अंग जानकर दवा बतावे; परन्तु मुनि विकल्प के स्वामी नहीं है। सहज ही वैद्यक का अभ्यास हुआ जिससे अन्यमतवाले का मान गलाने का प्रसंग बन जाता है। पूज्यपादस्वामी को ऐसा अभ्यास था। बाहर में प्रभावना का कारण हो तो बनता है। मुनि जंगल में बैठे हों और कह दें कि अमुक जाति का पत्ता अमुक भाग तरफ रखने से फोड़ा पक जाता है और अमुक भाग तरफ रखने से फूट जाता है –इत्यादि वैद्यक बात किसी समय कह देते हैं। औषध आदि से उपकार भी होता है तथा जो जीव लौकिक कार्यों में अनुरक्त हैं वे इस दवा के चमत्कार से जैनी होकर फिर सत्यधर्म पाकर अपना कल्याण करते हैं। इत्यादि प्रयोजन सहित वैद्यकादि शास्त्र कहे गये हैं। यहाँ इतना अवश्य है कि ये भी जैन शास्त्र हैं ऐसा जानकर उनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना चाहिये। यदि बहुत बुद्धि से उनका सहज जानना हो तथा उनको जाननेपर अपना राग बढ़ता न जाने तो उनका जानना भी भले हो जाये; परन्तु अनुयोगशास्त्रवत् वे शास्त्र कार्यकारी नहीं है। इसलिये उनके अभ्यास का विशेष प्रयत्न करना योग्य नहीं है।

प्रश्न– यदि ऐसा है तो गणधरादि पुरुषों ने उनकी रचना क्यों की है?

उत्तर:– पूर्वोक्त किंचित् प्रयोजन जानकर उनकी रचना की है। जैसे बहुत धनवान पुरुष किसीसमय अल्पकार्यकारी वस्तु का संचय करता है; परन्तु यदि अल्पधनवान उस वस्तु का संचय किया करे तो धन तो वहीं खर्च हो जायेगा और कार्यकारी वस्तु का संग्रह नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार बहुत ज्ञानवाले अल्पकार्यकारी शास्त्र पढ़ते हैं; परन्तु जिसकी बुद्धि अल्प हो वह यदि अप्रयोजनभूत में बुद्धि लगायेगा तो बुद्धि वहीं रुक जायेगी तब फिर उत्कृष्ट कार्यकारी शास्त्रों का अभ्यास किस प्रकार करेगा?

जैसे मंदरागी महामुनि आदिपुराण में श्रृंगार का कथन करते हैं; परन्तु विकारी नहीं होते; परन्तु यदि तीव्ररागी श्रृंगार का निरूपण करे तो पाप ही बांधेगा। इसी प्रकार मंदरागी गणधरादि हैं वे वैद्यकादि शास्त्रों का निरूपण करनेपर भी विकरी नहीं होते; परन्तु यदि तीव्ररागी उनके अभ्यास में लग जाये तो राग बढ़ाकर पापकर्मों का ही बंधन करेगा– ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार जैनमत में उपदेश का स्वरूप जानना चाहिये।

अनुयोगों में दोष-कल्पनाओं का निराकरण

अब, उनमें कोई दोष-कल्पना करता है, उसका निराकरण करते हैं:-

प्रथमानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

....कितने ही जीव कहते हैं- प्रथमानुयोग में श्रृंगारादिक व संग्रामादिक का बहुत कथन करते हैं, उनके निमित्त से रागादिक बढ़ जाते हैं, इसलिये ऐसा कथन नहीं करना था, व ऐसा कथन सुनना नहीं।

उनसे कहते हैं- कथा कहना हो तब तो सभी अवस्थाओं का कथन करना चाहिये; तथा यदि अलंकारादि द्वारा बढ़ाकर कथन करते हैं, सो पण्डितों के वचन तो युक्ति सहित ही निकलते हैं।

और यदि तुम कहोगे कि सम्बन्ध मिलाने को सामान्य कथन किया होता, बढ़ाकर कथन किसलिये किया?

उसका उत्तर यह है कि परोक्ष कथन को बढ़ाकर कहे बिना उसका स्वरूप भासित नहीं होता तथा पहले तो भोग-संग्रामादि इस प्रकार किये, पश्चात् सबका त्याग करके मुनि हुए; इत्यादि चमत्कार तभी भासित होंगे जब बढ़ाकर कथन किया जाये।

तथा तुम कहते हो- उसके निमित्त से रागादिक बढ़ जाते है; सो जैसे कोई चैत्यालय बनवाये, उसका प्रयोजन तो वहाँ धर्मकार्य कराने का है; और पापी वहाँ पापकार्य करे तो चैत्यालय बनवानेवाले का तो दोष नहीं है। उसीप्रकार श्रीगुरु ने पुराणादि में श्रृंगारादि का वर्णन किया; वहाँ उनका प्रयोजन रागादिक कराने का तो है नहीं, धर्म में लगाने का प्रयोजन है; परन्तु कोई पापी धर्म न करे और रागादिक ही बढ़ाये तो श्रीगुरु का क्या दोष है?....

कोई जीव कहता है कि प्रथमानुयोग में श्रृंगार का निरूपण किया है, युद्धादि का निरूपण किया है इसलिये ऐसा कथन करना योग्य नहीं है, क्योकि उसके निमित्त से राग होता है। उससे कहते हैं कि कथा कहना हो तब तो सभी अवस्थाओं का कथन करना चाहिये। तथा जो

अलंकार सहित कथन करते हैं वहाँ पण्डितों के वचन तो युक्ति सहित ही निकलते हैं ।

प्रश्नः- संबंध मिलाने के लिए सामान्य कथन करना था; किन्तु बढ़ाकर किसलिए किया ?

उत्तरः- परोक्ष कथन को बढ़ाकर कहे बिना उसका स्वरूप भासित नहीं होता। कथा के समय बहुत विस्तार करते हैं। पहले तो ऐसे-ऐसे भोग और संग्राम किये, फिर सबका त्याग करके मुनि हुए।

हनुमान कामदेव पुरुष थे। उनका शरीर बहुत सुंदर था। आसमान में तारे को खिरता हुआ देखकर उनको वैराग्य हो गया । वे विचारने लगे सुंदर शरीर की तो राख होगी, अबतक मेरा समय शरीर की रक्षा में व्यर्थ जा रहा है। अतः में अब मुनिपना अंगीकार करके केवलज्ञान प्रगट करूँगा-ऐसा विचार करके वैराग्य अंगीकार करते हैं। राजकुमार की कथा आती है तो अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ऐसी सिद्धि होवे तो ! परन्तु वह कथा राग के पोषण के लिये नही है। ऐसी सिद्धि होनेपर भी उसका परित्याग करके वैराग्य अंगीकार करते हैं यह दर्शाने के लिये है। सुंदर शरीर नाशवान है, उसके परमाणु तो बिखर जायेंगे, आत्मा नित्यानंद ध्रुव है इत्यादि बतलाने के लिये अलंकाररूप निरूपण किया है। वहाँ प्रयोजन वैराग्य कराने का है। चक्रवर्ती के 96 करोड़ सेना, 96 करोड़ ग्राम और 96 हजार रानियां थी तेरे यहाँ तो 96 हजार बैल भी नहीं है -ऐसा कहकर वैराग्य उत्पन्न कराने का प्रयोजन है।

तू कहता है कि इसके निमित्त से रागादिक बढ़ जाते हैं? सो भाई! जैसे कोई चैत्यालय बनाता है तो वहाँ उसका प्रयोजन तो धर्मकार्य कराने का है; परन्तु कोई उसी मकान में पापकार्य करे तो मंदिर बनवानेवाले का क्या दोष है? इसीप्रकार श्रीगुरु पुराणों में जो वर्णन करते हैं उसमें प्रयोजन धर्म में लगाने का है, तथापि कोई पापी पाप करे तो उसमें श्रीगुरु का क्या दोष है।

....यदि तू कहे कि रागादिक का निमित्त हो ऐसा कथन ही नहीं करना था।

उसका उत्तर यह है- सरागी जीवों का मन केवल वैराग्यकथन में नहीं लगता। इसलिये जिस प्रकार बालक को बताशे के आश्रय से औषधि देते हैं; उसी प्रकार सरागी को भोगादि कथन के आश्रय से धर्म में रुचि कराते हैं।

यदि तू कहेगा- ऐसा है तो विरागी पुरुषों को तो ऐसे ग्रन्थों का अभ्यास करना योग्य नहीं है?

उसका उत्तर यह है- जिनके अन्तरंग में रागभाव नहीं हैं, उनको श्रृंगारादि कथन सुननेपर रागादि उत्पन्न ही नहीं होते। वे जानते हैं कि यहाँ इसी प्रकार कथन करने की पद्धति है।

फिर तू कहेगा- जिनको श्रृंगारादि का कथन सुननेपर रागादि हो आयें, उन्हें तो वैसा कथन सुनना योग्य नहीं है?

उसका उत्तर यह है- जहाँ धर्म ही का तो प्रयोजन है और जहाँ-तहाँ धर्म का पोषण करते हैं- ऐसे पुराणादिक में प्रसंगवश श्रृंगारादिक का कथन किया है। उसे सुनकर भी जो बहुत रागी हुआ तो वह अन्यत्र कहाँ विरागी होगा? वह तो पुराण सुनना छोड़कर अन्य कार्य भी ऐसे ही करेगा जहाँ बहुत रागादि हों; इसलिये उसको भी पुराण सुनने से थोड़ी-बहुत धर्मबुद्धि हो तो हो। अन्य कार्यों से तो यह कार्य भला ही है।....

प्रश्नः- जो रागादिक के निमित्त हों ऐसे कथन करना ही नहीं थे?

उत्तरः- सरागी जीवों का मन केवल वैराग्य में नहीं लगता। जैसे बालक को चिरायता (दवा) देना हो तो पेड़ा देने की बात कहकर चिरायता दिया जाता है, इसीप्रकार सरागी जीवों को भोगादि के कथन के आश्रय से धर्म में रुचि कराते हैं। उससे कहते हैं कि ऐसे पुण्य से जीव राजकुमार होता है और फिर वैराग्य धारण करके मुनि होता है-ऐसा कहकर धर्म की रुचि कराते हैं।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो वैरागी पुरुषों को तो इन ग्रंथों का अभ्यास करना योग्य नहीं है?

उत्तरः- जिसके अंतरंग में राग नही है उसे तो श्रृंगारादि के कथन सुननेपर भी राग नहीं होता। कारण कि निमित्त राग नहीं कराता है। राग अथवा वैराग्य कराने में अन्य कोई समर्थ नहीं है, इसलिये उसे (श्रृंगारादि) कथन के कारण राग नहीं होता। वह तो जानता है कि प्रथमानुयोग में कथन करने की यही पद्धति है।

प्रश्नः- जिसको श्रृंगारादिक के कथन सुनकर राग हो जाता है उसको तो ऐसे कथन सुनना योग्य नहीं है,

उत्तरः- जहाँ धर्म का ही प्रयोजन है ऐसे जैनशास्त्रों में भी प्रसंगवश श्रृंगारादिक का कथन किया है; जो उसको सुनकर भी बहुत रागी हुआ वह अन्यत्र कहाँ विरागी होगा ? उसे छोड़कर दुकान पर बैठेगा अथवा अन्य सांसारिक कार्यों में लगेगा तो बहुत राग होगा। इसलिये उसको भी पुराण सुनने पर थोड़ी-बहुत धर्मबुद्धि हो तो हो; अन्य कार्यों से तो यह भला ही है।

....तथा कोई कहे- प्रथमानुयोग में अन्य जीवों की कहानियाँ हैं, उनसे अपना क्या प्रयोजन सधता है ?

उससे कहते हैं- जैसे कामी पुरुषों की कथा सुननेपर अपने को भी काम का प्रेम बढ़ता है; उसीप्रकार धर्मात्मा पुरुषों की कथा सुनने पर अपने को धर्म की प्रीति विशेष होती है। इसलिये प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।....

प्रश्नः- प्रथमानुयोग में तो अन्य जीवों की कथायें है उससे हमें क्या..... ?

उत्तरः- जैसे कामीपुरुष को कामी की वार्ता सुनने से काम के प्रति प्रेम बढ़ता है, इसीप्रकार धर्मीपुरुष को धर्मात्माओं की कथा सुननेपर धर्म के प्रति विशेष प्रीति बढ़ती है। तीर्थंकर नेमिनाथ ब्रह्मचारी थे। उन्होंने पशुओं का क्रंदन देखकर विवाह के विकल्प का त्याग करके मुनिपना अंगीकार कर लिया, रथ को वापिस मोड़कर गिरनार की तरफ गमन कर दिया। यह बात सुनकर वैराग्य होता है। भगवान महावीर का जीव पूर्व के दसवें भव में सिंह था । शास्त्र में उनकी कथा आती है। वह सिंह क्रूर था, माँस भक्षक था। उस जंगल में मुनिराज पधारते हैं। उन्हें देखकर सिंह विचार मे पड़ गया कि यह कौन है? मुनिराज उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू दसवें भव में तीर्थंकर होगा, तुझको यह माँस भक्षण शोभा नही देता। मुनिराज का ऐसा उपदेश सुनकर सिंह की आंखों में आंसु आ जाते हैं और वह वैराग्य को प्राप्त करता है। यह कथानक सुनकर वैरागी जीवों को वैराग्य आता है। इसप्रकार वैराग्य आदि प्रेरणाप्रदायक प्रथमानुयोग का अभ्यास करना चाहिये।

करणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

....तथा कितने ही जीव कहते हैं- करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणादिक का व कर्मप्रकृतियों का कथन किया व त्रिलोकादिक का कथन किया; सो उन्हें जान लिया कि 'यह इस प्रकार है', इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ? या तो भक्ति करें, या व्रत-दानादि करें, या आत्मानुभवन करें- इससे अपना भला हो।

उनसे कहते हैं- परमेश्वर तो वीतराग है; भक्ति करने से प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं है। भक्ति करने से कषाय मन्द होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्यनिमित्त के साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करनेपर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंगनिमित्त का साधन है; इसलिये यह विशेष कार्यकारी है। व्रतादिक धारण करके अध्ययनादिक करते हैं। तथा आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है; परन्तु सामान्य अनुभव में उपयोग टिकता नहीं है, और नहीं टिकता तब अन्य विकल्प होते हैं; वहाँ करणानुयोग का अभ्यास हो तो उस विचार में उपयोग को लगाता है।

यह विचार वर्त्तमान भी रागादिक घटाता है और आगामी रागादिक घटाने का कारण है, इसलिये यहाँ उपयोग लगाना।

जीव-कर्मादिक के नानाप्रकार से भेद जाने, उनमें रागादिक करने का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रागादिक बढ़ते नहीं है वीतराग होने का प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है, इसलिये रागादि मिटाने का कारण है।....

प्रश्नः- करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणास्थान और कर्मप्रकृति तथा तीन लोक का कथन किया है -तो उसको जानने से क्या होता है? परन्तु यदि कुछ व्रत करें भक्ति करें, अथवा आत्मा का अनुभव करें तो भला होता है?

समाधानः- परमेश्वर तो वीतराग हैं। अतः भक्ति करने से भगवान प्रसन्न नही होते; परन्तु भक्ति करने से अपने परिणाम मंदकषायरूप होते हैं और उसका उत्तम फल स्वयं से ही

होता है। करणानुयोग के अभ्यास में तो भक्ति की अपेक्षा भी अधिक मंदकषाय होती है - इसकारण इसका फल उत्तम है।

तथा व्रतादिक तो कषाय घटाने के बाह्य निमित्त साधन हैं। जीव स्वयं कषाय की मंदता करता है तो व्रतादि को बाह्य साधन कहा जाता है और करणानुयोग का अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं, इसलिये वह अंतरंग निमित्त साधन है। इसलिये करणानुयोग का अभ्यास विशेष कार्यकारी है। तथा व्रत लेकर भी यदि शास्त्र अध्ययन नहीं करे तो मंदकषाय भी बराबर नहीं होती। इसलिये (शास्त्राभ्यास में) प्रमाद करना योग्य नहीं है। करणानुयोग के अभ्यास में प्रमाद नहीं रहता।

तथा आत्मा का अनुभव तो धर्मी का मुख्य कार्य है। इस कार्य को करनेवाले को करणानुयोग का अभ्यास करना ही चाहिये ऐसा नहीं कहना है; परन्तु निर्विकल्प उपयोग में विशेष काल नहीं रहा जा सकता और इस कारण अन्य विकल्प आये बिना नहीं रहते, अत: करणानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।

तत्त्वज्ञान के बिना अकेले करणानुयोग के अभ्यास में रुक जाये तो धर्म नहीं होता।

करणानुयोग के अभ्यास से श्रद्धा विशेष निर्मल होती है। करणानुयोग का अभ्यास वर्तमान रागादिक घटाता है और भविष्य में रागादिक घटने का कारण भी होता है। इसलिये करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग लगाना चाहिये।

मोह और योग के निमित्त से चौदह गुणस्थान के भेद पड़ते हैं- ऐसा गोम्मटसार में आता है। यह जानकर आत्मा ज्ञायक चैतन्यमूर्ति है ऐसा निर्णय करना योग्य है। अज्ञानी कहता है कि शास्त्र पढ़-पढ़कर क्या करना है? शास्त्र का सार तो अहिंसाधर्म है; इसलिये अहिंसा का पालन करना चाहिय, जीओ और जीने दो; यह शास्त्र का सार है -ऐसा वह मानता है; परन्तु (वस्तुस्थिति यह है कि) कोई जीव किसी को बचा नही सकता, तथा न हिंसा ही कर सकता है। आत्मा की दृष्टिपूर्वक जितना राग घटता है वह अहिंसा है। पर की दया पालन व्यवहार अहिंसा है। निश्चय से तो वह हिंसा है। जिसको इसका पता नहीं है वह करणानुयोग में दोष निकालता है। करणानुयोग में भी वीतरागता कराने का प्रयोजन है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसकी दृष्टि करके अंतर स्थिरता करने के लिये यहाँ भी कहा जाता है।

प्रश्नः- अंतिम परावर्तन शेष रहे तभी मार्गानुसारीपना आता है न ?

उत्तरः- जिसकी दृष्टि संसार पर है उसकी दृष्टि धर्म पर नहीं हैं; उसको अनंत संसार में परिभ्रमण का भाव है। अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानकर कि मेरा संसार दीर्घकाल तक रहेगा, अहित के कारणों का सेवन करता है उसके लिये यह बात नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे भान बिना राग और कर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। केवलज्ञानी का निर्णय करनेपर ज्ञानगुण की प्रतीति होती है। अर्थात् स्वभाव की प्रतीति होती है।

जिसको मेरा संसार दीर्घकाल तक है ऐसे भाव की प्रतीति वर्तती है; परन्तु इस भाव से रहित स्वभाव की प्रतीति नहीं है वह अनंत संसारी है।

गोम्मटसार आदि ग्रंथों में मोहनीय आदि कर्मों की स्थिति बहुत बतलाई हो तो भी उतनी स्थिति में अटकाने का उद्देश्य नहीं है; परन्तु वहाँ तो कर्म की स्थिति को जाननेवाले की महिमा बतलाना है। इसप्रकार उसका अभ्यास भी रागादि मिटाने का कारण है। स्व का ज्ञान करे तो कर्मादिक का ज्ञान सच्चा है। स्व का ज्ञान करनेपर कर्म की स्थिति अल्प रह जाती है। जीव प्रचुर भावकलंक परिणाम के कारण निगोद में रहता है और वहाँ से मंदकषाय करके कोई जीव मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है- इसप्रकार उसका ज्ञान स्वज्ञान करने के लिये है।

....यहाँ कोई कहे- कोई कथन तो ऐसा ही है, परन्तु दीप-समुद्रादिक के योजनादि का निरूपण किया उनमें क्या सिद्धि है?

उत्तरः- उनको जाननेपर उनमें कुछ इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये पूर्वोक्त सिद्धि होती है।

फिर वह कहता है- ऐसा है तो जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसे पाषाणादिक को भी जानते हुए वहाँ इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानते, इसलिये वह भी कार्यकारी हुआ।

उत्तरः- सरागी जीव रागादि प्रयोजन बिना किसी को जानने का उद्यम नहीं करता; यदि स्वयमेव उनका जानना हो तो अंतरंग रागादिक के अभिप्रायवश वहाँ से

उपयोग को छुड़ाना ही चाहता है। यहाँ उद्यम द्वारा द्वीप-समुद्रादिक को जानता है, वहाँ उपयोग लगाता है; सो रागादि घटने पर ऐसा कार्य होता है। तथा पाषाणादिक में इस लोक का कोई प्रयोजन भासित हो जाये तो रागादिक हो आते हैं और द्वीपादिक में इस लोक सम्बन्धी कार्य कुछ नहीं है इसलिये रागादिक का कारण नहीं है।

यदि स्वर्गादिक की रचना सुनकर वहाँ राग हो, तो परलोक सम्बन्धी होगा; उसका कारण पुण्य को जाने तब पाप छोड़कर पुण्य में प्रवर्ते इतना ही लाभ होगा; तथा द्वीपादिक को जाननेपर यथावत् रचना भासित हो तब अन्यमतादिक का कहा झूठ भासित होने से सत्य श्रद्धानी हो और यथावत् रचना जानने से भ्रम मिटने पर उपयोग की निर्मलता हो; इसलिये वह अभ्यास कार्यकारी है।....

प्रश्नः- कोई कथन तो ऐसा ही है; परन्तु जो द्वीप समुद्रादि और योजनादि का निरूपण किया है उससे क्या सिद्धि है? अर्थात असंख्यात द्वीप समुदादि का ज्ञान करने से क्या काम है?

उत्तरः- अहो! भगवान ने असंख्यद्वीप, समुद्र जाने हैं, उन्होंने लोकालोक देखा है, तो मेरा ज्ञान भी इतनी ही सामर्थ्य वाला है-ऐसी प्रतीति कराते हैं। उन्हें जाननेपर इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं होती। जीव असंख्यद्वीप समुद्रों में जन्म धरता है। वहाँ तिर्यंच भी आत्मा का अनुभव प्राप्त कर लेता है, अतः मैं भी आत्मअनुभव प्राप्त कर सकता हूँ। वहाँ कोई नये सम्यग्ज्ञानी होते हैं, पूर्व संस्कार के स्मरण से ज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त करते हैं- यह सब कथन सुनना राग घटने का कारण होता है। उनका ज्ञान करने में भी राग द्वेष नहीं होते, अपितु इस लोक की ममता छूटकर परलोक की बुद्धि (आत्महित करने की बुद्धि) होती है, इसलिये उसमें दोष नहीं है।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं ऐसे पाषाणादिक को जाननेपर भी वहाँ इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानते इसलिये वह भी कार्यकारी हुआ।

उत्तरः- सरागी जीव रागादि प्रयोजन बिना किसी को भी जानने का उद्यम नहीं करता; परन्तु यदि स्वयं उनका जानना हो तो अंतरंग रागादि अभिप्राय के वश से वहाँ से उपयोग को छुड़ाना ही चाहता है। और यहाँ तो उद्यमपूर्वक द्वीप-समुद्रादि को जानता है और वहाँ (जानने में) उपयोग लगता है; इसलिये रागादि घटें ऐसा कार्य होता है। अतः पाषाणादि के ज्ञान में रागादि होते हैं और द्वीप आदि के ज्ञान में रागादि घटते हैं -ऐसा समझना।

असंख्यात द्वीप व समुद्रादि को जाननेपर उनमें असंख्यात पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हैं- ऐसा जानने से उनकी महिमा आती है। आत्मज्ञानी, अवधिज्ञानी, जातिस्मरण ज्ञान वाले असंख्यात है- ऐसा जानने में राग-द्वेष का कारण नही है और पत्थरादि में तो अपना प्रयोजन भासे तो राग होता है। कोई अच्छा गोल पत्थर देखनेपर राग हो जाता है कि अपने काम आयेगा; परन्तु समुद्र आदि का पानी या पत्थर आदि का यहाँ कोई उपयोग नहीं है। इसलिये द्वीप-समुद्र के ज्ञान से राग नही होता। तथा स्वर्गादिक का वर्णन सुनकर यह मंद कषाय का फल है -ऐसा जाने और पुण्य कार्य के सन्मुख हो तो यह भी राग बढ़ने का कारण नहीं है। यहाँ तो पाप की अपेक्षा पुण्य परिणाम करता है, इतना भी करणानुयोग से लाभ है यह कहना है।

तथा द्वीपादि को जाननेपर यथावत् रचना भासित होती है तब अन्यमतादिक का कहा हुआ मिथ्या है ऐसा ज्ञात होता है और 'यही सत्य है'। इसप्रकार सत्य श्रद्धानी होता है तथा भ्रम मिट जाता है। महा विदेहक्षेत्र में एक साथ बीस तीर्थंकर होते हैं। यहाँ तो एक के बाद एक तीर्थंकर होते हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेहक्षेत्र हैं - यह सव सर्वज्ञ भगवान कथित है, इसमें भूल नहीं है- ऐसा जानने से उपयोग निर्मल होता है। इसलिये करणानुयोग का अभ्यास भी कार्यकारी है।

....तथा कितने ही कहते हैं- करणानुयोग में कठिनता बहुत है, इसलिये उसके अभ्यास में खेद होता है।

उनसे कहते हैं- यदि वस्तु शीघ्र जानने में आये तो वहाँ उपयोग उलझता नहीं है; तथा जानी हुई वस्तु को बारम्बार जानने का उत्साह नहीं होता तब पापकार्यों में उपयोग लग जाता है; इसलिये अपनी बुद्धि अनुसार कठिनता से भी जिसका अभ्यास होता जाने उसका अभ्यास करना, तथा जिसका अभ्यास हो ही न सके उसका कैसे करे?

तथा तू कहता है- खेद होता है। परन्तु प्रमादी रहने में तो धर्म है नहीं; प्रमाद से सुखी रहे वहाँ तो पाप ही होता है; इसलिये धर्म के अर्थ उद्यम करना ही योग्य है।

ऐसा विचार करके करणानुयोग का अभ्यास करना।....

प्रश्नः- करणानुयोग में कठिनता बहुत है, इसलिये उसके अभ्यास में खेद होता है?

उत्तरः- जो वस्तु शीघ्र जानने में आती है वहाँ उपयोग भलेप्रकार नहीं लगता तथा जानी हुई वस्तु को बारंबार जानने का उत्साह भी नहीं होता है। इसलिये कठिन होनेपर भी अभ्यास करना योग्य है। जिसका अभ्यास नहीं हो सकता उसकी बात नहीं हैं। मात्र प्रमाद करते रहने के बजाय विचार करने से, शास्त्राभ्यास करने से मंदकषाय तो होती है, परन्तु यदि अभ्यास नहीं करें तो अकेला पापभाव होता है। इसलिये करणानुयोग का अभ्यास करना चाहिये।

तथा तू कहता है कि करणानुयोग के अभ्यास में खेद होता है; परन्तु प्रमादी रहने में तो पाप होता है। इसलिये धर्म के लिये तो उद्यम करना योग्य है। अपनी शक्ति और बुद्धि अनुसार अभ्यास करना योग्य है।

चरणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

....तथा कितने ही जीव ऐसा कहते हैं- चरणानुयोग में बाह्य व्रतादि साधन का उपदेश है, सो इनसे कुछ सिद्धि नहीं है; अपने परिणाम निर्मल होना चाहिये, बाह्य में चाहे जैसे प्रवर्तो; इसलिये इस उपदेश से पराङ्मुख रहते हैं।

उनसे कहते हैं- आत्मपरिणामों के और बाह्यप्रवृत्ति के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ा है। क्योंकि छद्मस्थ के क्रियाएँ परिणामपूर्वक होती हैं; कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, सो परवशता से होती है। अपने वश से उद्यमपूर्वक कार्य करे और कहे कि 'परिणाम इसरूप नहीं हैं' सो यह भ्रम है। अथवा बाह्य पदार्थ का आश्रय पाकर परिणाम हो सकते हैं; इसलिये परिणाम मिटाने के अर्थ बाह्य वस्तु का निषेध करना समयसारादि में कहा हैं; इसीलिये रागादिभाव घटने पर अनुक्रम से बाह्य ऐसे श्रावक-मुनिधर्म होते हैं। अथवा इसप्रकार श्रावक- मुनिधर्म अंगीकार करनेपर पाँचवे-छठवें आदि गुणस्थानों में रागादि घटनेपर परिणामों की प्राप्ति होती है- ऐसा निरूपण चरणानुयोग में किया है।

तथा यदि बाह्यसंयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है, सो क्या कारण है? तथा तीर्थंकरादिक गृहस्थपद छोड़कर

किसलिये संयम ग्रहण करें? इसलिये यह नियम है कि बाह्य संयम-साधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते; इसलिये बाह्य साधन का विधान जानने के लिये चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।....

कोई जीव कहता है कि चरणानुयोग में बाह्य व्रतादि साधन का उपदेश है, इसलिये उससे कुछ सिद्धि नहीं है। अपने परिणाम निर्मल होने चाहिये, फिर बाह्य में तो इच्छानुसार प्रवर्तो-ऐसा विचारकर वह इस उपदेश से विमुख रहता है।

उससे कहते हैं कि आत्मपरिणाम के और बाह्य प्रवृति के निमित्त- नैमित्तिक संबंध है। बाह्य क्रिया अपने भाव पूर्वक होती है और तू ऐसा मानता है कि मेरा भाव नहीं था, तो यह भ्रम है। अंदर में रात्रि भोजन का त्याग हो और बाहर में पानी पीने का योग हो- ऐसा नहीं होता। छद्मस्थ जीव के भाव और परक्रिया के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। किसीसमय आत्मा के परिणाम बिना भी क्रिया होती है। जैसे कि आत्मा के गिरने के भाव न होने पर भी किसीसमय शरीर गिर जाता है। इसलिये परिणाम के कारण जड़ की क्रिया होती है- ऐसा नहीं है; परन्तु जीव को अशुभभाव-हरितकाय (सब्जी आदि) काटने का भाव होता है तब बाहर में हरितकाय आदि के कटने की क्रिया होती है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। चोरी करनेवाला किसी वस्तु को हाथ में लेता है उससमय किसी को देख ले तो कहता है कि मैंने इस वस्तु को देखने के लिये लिया है और किसी को पता नहीं पड़े तो जेब में रख लेता है, तो यह क्रिया परिणाम पूर्वक हुई है। बाह्य क्रिया तो जड़ से हुई है, आत्मा से नही हुई; परन्तु उस समय वैसे भाव होने पर भी हमारा भाव नहीं था ऐसा कहनेवाला मिथ्यादृष्टि है। समयसार आदि में परिणाम छुड़ाने के लिये परवस्तु के छोड़ने का उपदेश आया है। कारण कि जीवभाव के और बाह्यक्रिया के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

मुनि के परिणाम निर्दोष आहार ग्रहण करने के होते हैं और बाह्य में सदोष आहार की क्रिया होती है-ऐसा नहीं होता। अहिंसामय परिणाम हों और बाहर में छहकाय के जीवों को मारने की क्रिया हो ऐसा नहीं होता। जिसको हिंसा का भाव न हो उसको बाह्य में किसी को न मारनेरूप बाह्य क्रिया निमित्तरूप होती ही है। कोई कहता है कि मुझे सच्चे देवादि की श्रद्धा वर्तती है, परन्तु बाह्य में कुदेवादिक को मानने की क्रिया होती है - तो क्या आपत्ति है? उनके

पैर पड़ने की क्रिया तो जड़ की है? अत: क्या आपत्ति है? तो यह बात सत्य नहीं है। अंतर के परिणाम और बाह्य क्रिया के (निमित्त-नैमित्तिक) संबंध है।यद्यपि बाह्य क्रिया के कारण परिणाम नहीं होते, परन्तु परिणाम और बाह्य क्रिया के निमित्त-नैमित्तिक संबंध का मेल है।

हम श्रावक हैं; परन्तु दवा में मद्य आदि लेने की क्रिया का परित्याग नहीं हुआ है, तो ऐसा नहीं हो सकता। बाह्य क्रिया अच्छी हुई इसलिये परिणाम अच्छे हुए ऐसा नहीं है; परन्तु परिणाम अच्छे होतें हैं इसलिये बाह्य क्रिया भी लगभग वैसी ही सहज हो जाती है। परिणाम पूर्वक क्रिया करे उसके निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

कोई मुनि प्रमाद रहित होने पर भी उनके पैर के नीचे आकर कोई जीव मर जाए तो वह परवशता से होता है; परन्तु जहाँ अपने उद्यम पूर्वक कार्य किया जाता है और फिर भी यह कहा जाता है कि परिणाम उसरूप नहीं हैं तो यह भ्रम है। कोई परवशता (जबरदस्ती) से सिर झुका दे, यह बात अलग है; परन्तु (स्ववशता से) सम्यग्दृष्टि कुदेवादिक को नमन नहीं करता और सुदेवादिक को नमन करने का भाव आने पर सिर झुके बिना नहीं रहता। कुदेवादिक को नमन करनेवाले को मिथ्यात्व परिणाम का सद्भाव है। जैन नाम धराकर अन्यमत के देवादि को माननेवाला तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। बाह्य में कुदेवादिक को नमनरूप क्रिया होनेपर भी अपने को सम्यग्दृष्टि कहनेवाले की बात मिथ्या है। इसीतरह श्रावकपने के परिणामवाले को बारह व्रतादि की क्रिया होती है, अव्रत की क्रिया नहीं होती। बाह्य में बारह व्रतादि की क्रिया हो और अंतर में श्रावकपना हो अथवा न भी हो ऐसा होता है; परन्तु अंतर परिणाम और बाह्य क्रिया के संबंध है। अंतर में मुनिपना प्रगटा हो और बाह्य में वस्त्र-पात्र रखे अथवा सदोष आहार ले ऐसा नहीं होता।

जिनमंदिर में यक्ष की मूर्ति स्थापित करनेवाला सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। पहले देवलोक का इन्द्र सम्यग्दृष्टि है तो फिर उसकी मूर्ति स्थापित क्यों नहीं करते? अज्ञानी लोग संसार के लिये क्षेत्रपाल की मान्यता करते हैं, यह स्थूल भूल है। अंतर में परिणाम अच्छे हों और बाहर में क्षेत्रपाल आदि को वंदन की क्रिया हो -यह संभव नहीं है। क्षेत्रपाल की मान्यतावाले को अंतर में संसार की रुचि विद्यमान है। उद्यमपूर्वक कार्य करना और कहना कि परिणाम उसरूप नहीं है, मात्र भ्रम है।

बाह्य पदार्थ निमित्त है और अपने परिणाम नैमित्तिक है। निमित्त के कारण परिणाम नहीं होते; परन्तु निमित्त के आश्रय से परिणाम होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये छह अनायतनों का निषेध किया गया है। श्रावक के लिये मद्य,मांस मधु आदि का निषेध किया है। अंतर परिणाम में बाह्य वस्तु निमित्त पड़ती है, इसलिये बाह्य वस्तु का निषेध किया है। समयसार के बंध अधिकार में आता है कि भावलिंगी मुनिराज को अध:कर्मी आहार नहीं होता। जिनके अंतर में वीतरागता प्रकट हुई है ऐसे मुनिराज के बाहर में वस्त्र-पात्र आदि होते ही नहीं। कोई कहता है कि हमको इस बात का पता नहीं है, तो उसको अज्ञान तथा पाप दोनो विद्यमान हैं। परिणाम तो क्रमसर होते हैं; परन्तु कोई अपने को सम्यग्दर्शन हुआ कहे और मुझको मिथ्यात्व के परिणाम क्रमसर होते हैं। ऐसा माने तो यह महान भूल है। परस्त्री गमन, मद्य, मांसादि छोड़ने को कहा है, वहाँ वे पदार्थ तो छूटे हुए ही हैं, परन्तु उनके निमित्त से जो परिणाम होते हैं; उनको छुड़ाने के लिए निमित्त का निषेध किया गया है। कुसंग छोड़कर सत्समागम करो-ऐसा उपदेश आता है, यद्यपि वहाँ सत्समागम के कारण (भले) परिणाम नहीं होते; परन्तु उपदेश ऐसा आता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी से एक व्यक्ति ने पूछा कि आप व्यवहार को उड़ाते हो? श्रीमद्जी ने उत्तर दिया कि भगवान महावीर जिसको व्यवहार कहते हैं उसको हम नहीं उड़ाते; परन्तु तुम परिचय (समागम) करो तो तुम्हे इस बात का पता पड़ेगा। अब परिचय करने से अर्थात् पर से उसकी समझ में आयेगा? नही। वह समझेगा तो अपनी ही योग्यता से; परन्तु हम क्या कहना चाहते हैं यह परिचय करो तो समझोगे- ऐसा कथन आता है। अभेद स्वभाव के भानपूर्वक ऐसे उपदेश वक्तव्य आते हैं। यद्यपि बाहर के एक भी परमाणु का ग्रहण-त्याग आत्मा के अधिकार की बात नहीं है; परन्तु उपदेश ऐसा आता है कि मद्य-मांसादि का त्याग करो। वहाँ कहने का आशय यह है कि सम्यग्दर्शन में ऐसे पदार्थ निमित्त नहीं होते। स्त्रियां जहाँ हो वहाँ ब्रह्मचारी को एकान्त में नही बैठना चाहिये, तो इस कथन में अशुभभाव को मिटाने के लिये स्त्रीसंग का निषेध किया है। ब्रह्मचारी को अधिक भोजन नहीं करना चाहिये, वहाँ भोजन तो जड़ है, उससे कहीं परिणाम नहीं बिगड़ते; परन्तु परिणाम बिगड़ने में (अधिक या गरिष्ट) भोजन निमित्त है, इसलिये ऐसे भोजन का निषेध किया है। (धर्म का) आधार तो परिणाम है; परन्तु इसकारण निमित्त के निषेध का उपदेश ही नहीं आवे-ऐसा नहीं है।

तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक बाह्य में बारह व्रतादि ले और तत्पश्चात पाँचवा गुणस्थान आवे-ऐसा हो सकता है, (ज्ञानी) स्वभाव की दृष्टिपूर्वक बारह व्रत अथवा पाँच महाव्रत पहले धारण करते हैं। चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थानवाला जीव गुरु के समीप जाकर कहता है कि प्रभु, मेरे आत्मा के उपकार के लिये मुझे भावलिंग और द्रव्यलिंग प्रदान करो। द्रव्यलिंग धारण कर ले, पश्चात भावलिंगपना-मुनिपना आता है। अभी मुनिपना प्रगट नहीं हुआ; परन्तु मुनिपना अंगीकार करने का विकल्प प्रथम आता है। जिस जीव को देहादिक की क्रिया मेरी नहीं है, विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा भान है, उस जीव को ध्यान के समय अंतर में वीतरागता बढ़ती है। उसने अपनी सहनशीलता देखी है। बाह्य में निमित्त का विवेक वर्तता है, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखता है; पश्चात मुनिपने का विकल्प उत्पन्न होता है। इसप्रकार बाह्य से मुनिपना लेने के पश्चात अंतर में सातवां गुणस्थान आता है। इसप्रकार चरणानुयोग निमित्त-नैमित्तिक का मेल कराता है।

सर्वार्थसिद्धि के देव एकावतारी हैं, बारह अंग के ज्ञानी हैं, अवधिज्ञानी हैं; तथापि उनको संयम नहीं है। और किसी गृहस्थ श्रावक को बारह अंग का ज्ञान हो अथवा न हो; तथापि राग घटाने से पाँचवाँ गुणस्थान आता है। यदि बाह्य संयम का निमित्तपना न हो तो सर्वार्थसिद्धि के देव को पाँचवाँ गुणस्थान आ जाना चाहिये। तथा शांतिनाथ आदि तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती थे, वे यह मानते थे कि हमारा धन तो ज्ञानानंद स्वरूप है, स्त्री-पुत्रादि हमारी वस्तु नहीं है, हम उनके स्वामी नहीं है; तथापि बाह्य से मुनिपना न ले तबतक छठवाँ गुणस्थान नहीं आता।

बाह्य संयम साधन बिना अंतरंग परिणाम निर्मल नही होते। बाह्य प्रवृति वैसी की वैसी हो और अंतर परिणाम सुधर गये हों ऐसा नहीं होता। बाह्य में संसार के समस्त कार्य करनेपर भी कहे कि हमको मुनिपना है, तो यह संभव नहीं है। मुनि लौकिक काम करते, कराते नहीं हैं न अनुमोदन करते हैं। चतुर्थ गुणस्थानवाले को अनंतानुबंधी कषाय का नाश हुआ है, उसको मद्य-मांसादि के भक्षण की क्रिया नहीं होती है।

अंतर में रागादि घट जानेपर बाहर में भी उसके योग्य क्रिया होती है। अंतर में पाँचवां गुणस्थान हुआ हो और बाहर में श्रावकपना न हो-यह संभव नहीं है और छठवें गुणस्थान में भी पाँच महाव्रतादि के परिणाम होते हैं। तथा तीर्थंकरादि महापुरुषों नें भी गृहस्थपना छोड़कर

संयम ग्रहण किया है। इसलिये यह नियम है कि बाह्य साधन के और परिणामों के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। सच्चे मुनि के बाह्य में वस्त्रादि होना संभव नहीं है।

इसप्रकार चरणानुयोग का अभ्यास भी करना योग्य है।

द्रव्यानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

....तथा कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है। सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादिक को निर्जरा का कारण कहा है- इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्द होकर पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तेंगे, इसलिये इनका पढ़ना सुनना योग्य नहीं है।

उससे कहते हैं- जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे; उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जाये तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। इतना करे कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिस प्रकार वह स्वच्छन्द न हो उस प्रकार उपदेश दे। तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं, इसलिये जो भली-भाँति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नही; परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, उस जीवहीका दोष है।

तथा यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है; उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे-मेघवर्षा होनेपर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो, तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसीप्रकार सभा में अध्यात्म-उपदेश होनेपर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते, तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्मग्रंथो से कोई स्वच्छन्द हो; सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होनेपर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का

अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है; इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।....

कोई जीव कहता है कि द्रव्यानुयोग में व्रतादि का हीनपना बताया है इसलिये उसका अभ्यास नहीं करना चाहिये। समयसार आदि में तो व्रतादि का उड़ाया है। (निषेध किया है) व्यवहार आता है, परन्तु उसका तिरस्कार किया है। व्यवहार हेय है, इसलिये वह धर्म नहीं है। तथा सम्यग्दृष्टि के विषय-भोग को निर्जरा का कारण कहा है। सम्यग्दर्शन के बिना होनेवाली समस्त क्रियायें संसार के लिये है और आत्मा के भानपूर्वक (ज्ञानी) संसार में हो तो भी उसको निर्जरा होती है-इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छंदी होता है और पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तित होता है, इसलिये द्रव्यानुयोग के शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं है-इसप्रकार अज्ञानी जीव द्रव्यानुयोग में दोष बताता है।

देखो! पण्डितजी ने यह बात लिखी है, अर्थात् उनके समय में भी द्रव्यानुयोग का विरोध करने वाले जीव थे और अभी भी त्यागी नाम धराकर कहते हैं कि अभी समयसार आदि ग्रंथ नही पढ़ना चाहिये, अपितु महाबंध ग्रंथ पढ़ना चाहिये, कारण कि बंध का ज्ञान करने से बंध का नाश होता है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग का दोष निकालते हैं। जबकि यहाँ तो पण्डितजी कहेंगे कि सर्वप्रथम द्रव्यानुसार का अभ्यास करना चाहिये।

जैसे गधा मिश्री खाने से मर जाये, तो इससे कहीं मनुष्य मिश्री खाना नहीं छोड़ देते। इसीप्रकार कोई विपरीतदृष्टि जीव अध्यात्म ग्रंथ सुनकर स्वच्छंदी हो जाये तो इससे विवेकी जीव तो अध्यात्म ग्रंथों का अभ्यास नहीं छोड़ता। समयसार आदि द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में आत्मज्ञान की मुख्यता से रागादिक का अभाव करने का ही उपदेश होता है, वहाँ स्वच्छन्दता कराने का अभिप्राय नहीं है।

आत्मा के परिणाम में अज्ञानी स्वच्छंदी होकर पापभाव करे, तो उसको छुड़ाने का उपदेश भी देतें हैं और यदि यथार्थरूप से द्रव्यानुयोग का अभ्यास करे तो स्वच्छंदी नहीं होता; परन्तु (अपने अपराध से) कोई जीव स्वच्छंदी होवे तो इसमें शास्त्र का कुछ दोष नहीं है।

जैसे किसी महिला ने अपने पड़ौसी के बालक को सीड़ी पर चढ़ते देखकर कहा कि यदि 'पड़ेगा तो मरेगा' ऐसा कहने में उसका आशय बचाने का था; परन्तु उस बालक की माँ

ने 'मरेगा' यह शब्द पकड़कर झगड़ा किया, तो वह उस महिला के आशय को नही समझी; इसीप्रकार कोई जीव द्रव्यानुयोग के कथन को यथार्थरूप से नहीं समझे और एक बात को स्वच्छंदता से पकड़ ले तो इससे शास्त्र का दोष नहीं है, उस जीव का ही दोष है।

यदि मिथ्यादोष-कल्पना से अध्यात्म शास्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध किया जाये तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ ही है, इसलिये उनका निषेध करने से तो मोक्षमार्गरूप मूल धर्म का निषेध होता है। समयसार आदि में ही मूलधर्म का उपदेश है, अन्य तीन अनुयोगो मे मूलधर्म का उपदेश नहीं है। अब जहाँ यथार्थ धर्म का निरूपण किया हो; उसका निषेध करने वाले ने तो मोक्षमार्ग का ही निषेध किया कहलायेगा। इसलिये सभा में अध्यात्म शास्त्र पढ़ना चाहिये।

शिष्य का प्रश्न है कि द्रव्यानुयोग में तो व्रतादि का निषेध किया है, अतः वहाँ तो स्वच्छंदी होना संभव है, इसलिये उन ग्रंथों का पढ़ना-सुनना योग्य नहीं है। उससे कहते हैं कि भाई! जो द्रव्यानुयोग सम्यग्दर्शन का मुख्य कारण है उसका निषेध करना योग्य नहीं है, क्योकि उसका निषेध करने से मोक्षमार्ग का निषेध होता है। व्रतादि के परिणाम में पुण्य होता है, धर्म नही होता।

लोग यह मानते हैं, कि क्रियाकाण्ड मोक्षमार्ग का एक अंग है; परन्तु वस्तुतः वह मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मा ज्ञानानंद मूर्ति है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है और उसका उपदेश तो द्रव्यानुयोग में ही मुख्य है। जैसे किसी की मुट्ठी में सोना था वह उसे भूलकर बाहर में खोजता था; इसीप्रकार अज्ञानी चिदानंद स्वरूप आत्मा को भूल गया है, उसे अपने ज्ञान से जाने तो प्राप्त हो। समयसारादि ग्रंथों में तीर्थकर के मुख से प्रवाहित वाणी का सार है। उसमें कहा गया है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, कोई परवस्तु का त्याग अथवा ग्रहण नहीं कर सकता। वर्तमान रागादि चिदानंद आत्मा का स्वरूप नहीं है। दया, दान, भक्ति का भाव आता है; परन्तु उससे धर्म नहीं होता और वह आदरणीय भी नहीं है-ऐसा जानना व श्रद्धा करना धर्म है। अध्यात्म ग्रंथों का अध्ययन करनेपर ही यह बात ख्यात में आती है; परन्तु मात्र कथायें पढ़ने अथवा क्रियाकाण्ड करने से इस बात का परिज्ञान नहीं होता।

बहुत से लोग तो कहते हैं कि समयसारादि अध्यात्म ग्रंथ सातवें गुणस्थानवालों के लिये है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यानुयोग से आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है, इसलिये द्रव्यानुयोग का उपदेश करना योग्य है। जैसै वर्षा होनेपर बहुत से जीवों का हित होता है और कदाचित किसी को हानि होती हो तो कहीं वर्षा का निषेध नहीं होता; इसीप्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश देने से बहुत जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। कदाचित कोई जीव अपनी स्वच्छन्दता से पाप में प्रवर्ते तो इससे अध्यात्म उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है।

जैसे वर्षा से बहुत से जीवों का कल्याण होता है; इसीतरह अध्यात्म उपदेश से बहुत से जीवों का कल्याण होता है। सच्चे उपदेश से श्रद्धा-ज्ञान और चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति होती है। तथापि अज्ञानी कहता है कि यह बात सुनना नहीं।

'आत्मा बोल नहीं सकता' जब यह बात बाहर आई तो अज्ञानी मूढ़ कहता है कि आत्मा नहीं बोलता तो क्या इसका बाप बोलता है? ऐसा कषाय भाव करता है। परन्तु आत्मा शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है। वह वाणी तो बोल सकता ही नहीं, परन्तु जो दया, दान भक्ति आदि के परिणाम होते हैं उनसे भी आत्मा को लाभ नहीं है- ऐसा उपदेश द्रव्यानुयोग में आता है, इसे यथार्थरूप से समझने पर कल्याण होता है। कोई स्वच्छंदी इसे सुनकर पाप प्रवृति करता है, तो वह पहले भी मिथ्यादृष्टि ही था और अभी भी मिथ्यादृष्टि ही है, तो उसमें तो मिथ्यात्व की अपेक्षा से कुछ अन्तर नहीं पड़ा; परन्तु हाँ इतना होता है कि शुभपरिणाम के बदले अशुभपरिणाम करता है तो स्वर्गादिक न होकर हल्की गति होती है।

अध्यात्म उपदेश न होनेपर तो बहुत जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इससे बहुत जीवों का अहित होता है, इसलिये मुख्यरूप से अध्यात्म उपदेश देना योग्य है। अज्ञानी उपदेश देता है कि पुण्य करो, दान करो, यात्रा करो, बाह्य तपश्चर्या करो ऐसा करते-करते धर्म हो जायेगा; परन्तु इससे तो बहुत जीवों का बुरा होता है। सत्य उपदेश नहीं दिया जाये तो बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्मरूप सत्य उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है।

....तथा कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म-उपदेश है वह उत्कृष्ट है; सो उच्चदशा को प्राप्त हों उनको कार्यकारी है; निचली दशावालों को व्रतसंयमादिक का ही उपदेश देना योग्य है।

उनसे कहते हैं- जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होनेपर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग अभ्यास करनेपर होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। - इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं; इसलिये ऊँची दशावालों को अध्यात्म-अभ्यास योग्य है ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

तथा यदि कहोगे कि ऊँचे उपदेश का स्वरूप निचली दशावालों को भासित नहीं होता।

उसका उत्तर यह है- और तो अनेक प्रकार की चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रगट करे, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप भली-भाँति भासित होता है, अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा-बहुत भासित हो; परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करे वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

तथा यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है, इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

तो उनसे कहते हैं- यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है; इसलिये आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।

वही षट्पाहुड़ (मोक्षपाहुड़ में) कहा है :-

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा भाऊण जंति सुरलोए।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।77।।

अर्थ :- आज भी त्रिरत्न से शुद्ध जीव आत्मा को ध्याकर स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं व लौकान्तिक में देवपना प्राप्त करते हैं; वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाते हैं।

बहुरि.....। इसलिये इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्य चाहिये।....

प्रश्नः- द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है वह उत्कृष्ट है और वह उच्चदशा को प्राप्त जीवों को ही कार्यकारी है, परन्तु निचलीदशावाले जीवों को तो व्रत, संयमादि का उपदेश देना योग्य है। जैसे जिसकी जठराग्नि मंद हो और अनाज भी न पचता हो उसको मिठाई दी जाये, तो उसका नुकसान होता है, इसीप्रकार इस अध्यात्म उपदेश को पचाने की हमारी सामर्थ्य नहीं है, अतः यह उपदेश देना योग्य नहीं है। यह उपदेश ऊँचीदशावालों के काम का है, परन्तु निचलीदशावालों को तो पुण्य आदि करने का उपदेश देना योग्य है।

समाधानः- जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। सम्यग्दर्शन हुए बिना व्रत,संयमादि यथार्थ नहीं होते। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के पंथ में तो यह क्रम है कि पहले तो सम्यग्दर्शन होता है और फिर व्रत होते हैं। जिसको सच्चे देवादिक का पता नहीं है उसको तो व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं है। जिसको निश्चय आत्मा का भान हुआ हो उसको ही सच्चे व्रतादि होते हैं। वीतराग के मार्ग में तो समकित की मुख्यता प्रथम है। पहले भेदज्ञान होना चाहिये।

वह सम्यक्त्व स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान होनेपर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करनेपर होता है। इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार अभ्यास करके सम्यग्दृष्टि होता है, वह प्रथम धर्म है और फिर व्रतादि होते हैं।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होता है और तत्पश्चात चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती होता है।

आत्मा में राग होता है वह कर्म के कारण नहीं होता-ऐसा भेदज्ञान करना चाहिये और वह अध्यात्म ग्रंथो के अभ्यास से ही होता है। व्रतादि की क्रिया तो अभव्य भी करता है, उसमें कोई नवीनता नहीं है; परन्तु भेदज्ञान करना अपूर्व है। इसलिये भेदज्ञान के निमित्तभूत अध्यात्म ग्रंथो का अभ्यास प्रथम करना योग्य है। अनादि अज्ञानी अप्रतिबुद्ध है उसको यह उपदेश दिया जाता है। यह उपदेश ऊँचीदशावालों के लिये है-ऐसा नहीं है। तीनो काल यह एक ही उपदेश करना योग्य है। अमुक काल (चौथे काल) में यह हो और हल्लेकाल (पाँचवे काल) में अन्य हो-ऐसा नहीं है।

इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचलीदशावाले को ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। ऐसा होनेपर भी कोई लौकिक बात कहे तो उसके सुननेवाले तो बहुत होते हैं, परन्तु यह सब तो अनादि से अनंतबार किया है। यह सब संसार की रुचि वाले को रुचता है; परन्तु आत्मा को कुछ भी कार्यकारी नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि निचलीदशावाले को भी अध्यात्म उपदेश कार्यकारी है। इसलिये यही उपदेश देना योग्य है। परन्तु जो यह मानता है कि अध्यात्म उपदेश सुनना ही नहीं वह तो सम्यग्दर्शन का निषेध करता है।

जो सम्यग्दर्शन के लायक ही न हो- ऐसा जाने तो उसको व्रतादि का उपदेश देते हैं; परन्तु उससे कल्याण नही होता। जिसको धर्म समझने की ही दरकार न हो और अकेले व्यवहार का आग्रह करता हो, तो फिर उससे कहते हैं कि भाई! कषाय की मंदता करेगा तो पुण्य होगा; परन्तु धर्म नही होगा।

अत: उच्चदशावालों को अध्यात्म उपदेश कार्यकारी है ऐसा जानकर मिथ्यादृष्टियों को अध्यात्म उपदेश से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है। ज्ञानी के समीप द्रव्यानुयोग का उपदेश सुनना चाहिये।

प्रश्न:- उत्कृष्ट उपदेश का स्वरूप निचलीदशावालों को भासित नहीं होता। अत: ऐसी बात हमको समझ में नही आती। यह एल.एल.बी. और एम.ए. की ऊँची बात हमारे लिये नहीं है। इसलिये अध्यात्म का उपदेश करना योग्य नहीं है, क्योकि वर्तमान में हमारी ऐसी योग्यता नहीं है।

उत्तर:- अन्य तो अनेक प्रकार की चतुराई जाने और यहाँ मूर्खपना प्रगट करे यह योग्य नहीं है। संसार की, खाने-पीने की बातों में तो चतुराई बतावे, व्यवहार की बातें करे तो यह चलता है, यह नहीं चलता इत्यादि चतुराई बतावे (और यहाँ मूर्खपना प्रगट करे तो यह योग्य नहीं है)

संसार की रुचिवाला होने से संसार के सब काम जानता है और यहाँ हम समझ नहीं सकते-ऐसा कहता है।घर में लड़के की सगाई की बात चलती होवे तो घर के सभी सदस्य चतुराई बताते हैं। बही-खातों के हिसाब में चक्रवर्ती ब्याज निकालता है। कैसा भी अटपटा कार्य होने पर भी उसका हल निकालता है- इसप्रकार वहाँ तो उपयोग को लगाता है और यहाँ

कहता है कि समझमें नहीं आता, तो वस्तुत: ऐसा कहनेवाले को धर्म की रुचि ही नहीं है। जहाँ रुचि होती है वहाँ तो चतुराई करता है और होशियारी बताता है और यहाँ तत्त्वज्ञान समझना हो तो वह हमे समझमें नहीं आता ऐसा कहता है। संसार के अन्य कार्य करते हुए तो भला बताने के लिये मेहनत करता है, परन्तु यहाँ तत्त्वज्ञान में विचार ही नहीं करता। यदि विचार करे तो अपने ज्ञान के क्षयोपशमानुसार तत्त्व भासित हुए बिना न रहे। जो अध्यात्म शास्त्रों के अभ्यास का ही निषेध करता है वह भगवान के मार्ग का द्वेषी है–ऐसा इससे सिद्ध होता है।

द्रव्यानुयोग में कहते हैं कि द्रव्य–गुण–पर्याय का यथार्थ ज्ञान हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। तब शिष्य ने शंका की कि यह तो ऊँचा उपदेश है, इसलिये यह उपदेश निचलीदशावालों के लिये नहीं है। उसका उत्तर दिया कि तू संसार की बात में रुचि करता है और वहाँ चतुराई बताता है और यहाँ आत्मा की बात में हमें समझमें नहीं आती–ऐसा मानता है यह मिथ्यात्व है।

संसार में महिलायें एक घड़ा लेने जाये या कपड़ा लेने जाये तो वहाँ भलीभांति परीक्षा करती हैं। मकान लेना हो तो वहाँ भी बराबर खोजबीन करते है, नया है या पुराना है,कच्चा काम है या पक्का काम है– इत्यादि प्रकार से ठीक तरह से खोजबीन करते हैं । इसप्रकार संसार के काम मे तो चतुराई बताता है और धर्म के काम में भी बाहर में दया, दान, भक्ति आदि करने में चतुराई बताता है; परन्तु आत्मा का यथार्थ ज्ञान करना हो तो वहाँ कठिनता बताता है। वस्तुत: वह तो अपनी अरुचि बताता है।भले ही सबका ज्ञान का उघाड़ समान न हो; परन्तु जितना उघाड़ हो, आत्मा की रुचि करके उस अनुसार पुरुषार्थ करे तो समझमें आ सकता है, परन्तु सर्वथा निरूद्यमी होकर प्रमाद करनेवाला तो जैनमार्ग का द्वेषी है।

वस्तु को यथार्थ समझने के लिए अध्यात्मादि ग्रंथो का अभ्यास नहीं करनेवाला प्रमादी है। वह भगवान के मार्ग का विरोधी है। तत्त्वज्ञान का निषेध करनेवाला तो जैनमार्ग का द्वेषी हुआ है। द्रव्यानुयोग के सिवाय अन्य तीन अनुयोगों में जैनमार्ग का मुख्य अधिकार नहीं हैं। इसलिये प्रथम जिसमें तत्त्वज्ञान है ऐसे द्रव्यानुयोग का अभ्यास मुख्यरूप से करना चाहिये।

प्रश्न:– यह काल निकृष्ट अर्थात हल्का है, इसलिये इसमें अध्यात्म के उपदेश की मुख्यता करना योग्य नहीं है। अभी आजीविका का ठिकाना न हो–ऐसी स्थिति में अध्यात्म उपदेश करो, यह योग्य नही है?

देखो! अज्ञानी सारे दिन पर की चिंता किया करता है,परन्तु बाहर में पुण्य के बिना कुछ नही मिलता। बाहर में तो जो होना हो वह होता है, उसमें तीनकाल में भी परिवर्तन नहीं हो सकता- ऐसा वस्तु का स्वभाव है। यह सब तत्त्वज्ञान द्रव्यानुयोग में वर्णित है, उसे समझने से समाधान होता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यासी को यह करो और यह मत करो,-ऐसी खलबलाहट नही होती है। यहाँ तो शिष्य की शंका है कि इस काल में अध्यात्म का उपदेश नही करना चाहिये।

उत्तर:- यह काल साक्षात मोक्ष न होने की अपेक्षा से हल्का है, परन्तु आत्मानुभव के लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होना अभी निषिद्ध नहीं है, इसलिये आत्मानुभव के लिये द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। वर्तमान में भावलिंगी मुनियों का भी निषेध नहीं है। सम्यग्दर्शन भी वर्तमान काल में हो सकता है, इसलिये उसके लिये तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना योग्य है। छह द्रव्य स्वतंत्र है, सात तत्त्व स्वतंत्र है- इत्यादि द्रव्यानुयोग में कहा गया है, इसलिये उसका अवश्य अभ्यास करना योग्य है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में कहा है कि आज भी त्रिरत्न से शुद्ध जीव आत्मा को ध्याकर स्वर्गलोक अथवा लौकांतिक देव पद प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। अर्थात् अभी इस काल में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा को ध्याकर स्वर्गादि में जा सकते हैं, एकावतारीपना हो सकता है। लौकांतिक देव हो सकते हैं और स्वर्ग से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं-इसका निषेध नहीं है। इसलिये द्रव्यानुयोग का अभ्यास मुख्य करना चाहिये। इस काल में यही करने योग्य है। सभा में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश ही मुख्य देना चाहिये-ऐसा कहते हैं।

यह बात सुनकर भी अज्ञानी ऐसा कहता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता-ऐसा मानने से तो एकांत हो जाता है। अग्नि से पानी गर्म नही होता ऐसा मानने से एकांत हो जाता है, तो उसको द्रव्यानुयोग का यथार्थ ज्ञान नहीं है। वह पुन: शंका करता है।

....कोई कहता है- द्रव्यानुयोग में अध्यात्म-शास्त्र हैं; वहाँ स्व-पर भेदविज्ञानादिक का उपदेश दिया वह तो कार्यकारी भी बहुत है और समझमें भी शीघ्र आता है; परन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायादिक का व प्रमाण-नयादिक का व अन्यमत के कहे तत्त्वादिक के

निराकरण का कथन किया, सो उनके अभ्यास से विकल्प विशेष होते हैं और वे बहुत प्रयास करनेपर जानने मे आते हैं; इसलिये उनका अभ्यास नहीं करना।

उनसे कहते हैं- सामान्य जानने से विशेष जानना बलवान है। ज्यों-ज्यों विशेष जानता है त्यों-त्यों वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं; इसलिये उस अभ्यास में प्रवर्त्तना योग्य है।

इसप्रकार चारों अनुयोगो में दोष-कल्पना करके अभ्यास से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।....

प्रश्नः- स्व-पर का भेदविज्ञान करना तो सरल है परन्तु द्रव्य गुण पर्याय का सूक्ष्म ज्ञान करना कठिन पड़ता है। तथा वीतराग ऐसा कहते हैं और दूसरे ऐसा कहते हैं-ऐसा कहा है वहाँ भी विकल्प बहुत होते हैं। वीतराग के मार्ग में तो सब बात आती है। उसका ज्ञान करने में विकल्प आते हैं - ऐसा मानकर निषेध करता है, परन्तु ऐसे विकल्प आए बिना नहीं रहते। यह सत्यमार्ग है अर्थात इससे विरूद्ध सब असत्यमार्ग है-यह दोनों बातें अस्ति-नास्तिपूर्वक अध्यात्म शास्त्रों में आये बिना नहीं रहती।

कारणशुद्धपर्याय, क्रमबद्धपर्याय, की सूक्ष्म बात भी द्रव्यानुयोग में आती है। यह बात सुनकर अंदर में प्रमोद आना चाहिये, उसके बदले विकल्प हो जाता है, और बहुत सूक्ष्म पड़ती है इसलिये जानने योग्य नहीं है- ऐसा मानता है। ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि हैं। एक परमाणु का क्षेत्र अत्यन्त छोटा है और आकाश का क्षेत्र बहुत बड़ा है, परन्तु दोनो का अस्तित्व गुण समान है। आकाश क्षेत्र अपेक्षा से बड़ा है इसलिये भाव से भी बड़ा है-ऐसा नहीं है। द्रव्य अपेक्षा से दोनों समान है, क्षेत्र अपेक्षा से अंतर है,भाव अपेक्षा से समान है और पर्याय अपेक्षा अंतर है। इन सबका ज्ञान करने में अज्ञानी को अरुचि होती है, परन्तु संसार की बातों में तो अरुचि नहीं होती। ज्ञान का विकास होनेपर भी यह बात समझने के लिए निवृत नही होता, इसलिये समझना कठिन पड़ता है। इसीकारण उसका तर्क है कि द्रव्यानुयोग का अभ्यास नहीं करना चाहिये। अब उसका उत्तर देते हैं।

समाधानः- सामान्य जानने से विशेष जानना बलवान है। यहाँ जानने की अपेक्षा सामान्य से विशेष बलवान है ऐसा कहा है। यह बात दृष्टि की अपेक्षा से नहीं की गयी है।

तात्पर्य यह है कि संक्षिप्त जानने की अपेक्षा विस्तार से भलीभांति समझा हो तो निर्णय में विशेष दृढ़ता होती है।

द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का जितना-जितना अधिक ज्ञान होता है उतना ज्ञान विशेष निर्मल होता है, श्रद्धा दृढ़ होती है और राग घट जाता है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों की बात ली है।

इसप्रकार चारों अनुयोगों के शास्त्रों का अभ्यास करना, परन्तु उनमें दोष निकालना योग्य नहीं है।

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों की उपयोगिता

....तथा व्याकरण-न्यायादिक शास्त्र हैं, उनका भी थोड़ा-बहुत अभ्यास करना; क्योंकि उनके ज्ञान बिना बड़े शास्त्रों का अर्थ भासित नहीं होता। तथा वस्तु का स्वरूप भी इनकी पद्धति जाननेपर जैसा भासित होता है वैसा भाषादिक द्वारा भासित नहीं होता; इसलिये परम्परा कार्यकारी जानकर इनका भी अभ्यास करना; परन्तु इन्ही में फँस नहीं जाना। इनका कुछ अभ्यास करके प्रयोजनभूत शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्त्तना।

तथा वैद्यकादि शास्त्र हैं उनसे मोक्षमार्ग में कुछ प्रयोजन नहीं है; इसलिये किसी व्यवहारधर्म के अभिप्राय से बिना खेद के इनका अभ्यास हो जाये तो उपकारादि करना, पापरूप नहीं प्रवर्तना; और इनका अभ्यास न हो तो मत होओ, कुछ बिगाड़ नहीं है।

इसप्रकार जिनमत के शास्त्र निर्दोष जानकर उनका उपदेश मानना।....

व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों का भी थोड़ा-बहुत अभ्यास करना, कारण कि इनके ज्ञान बिना महान शास्त्रों का अर्थ भासित नही होता । आचार्यों ने संस्कृतादि ग्रंथों मे अनेक न्याय प्रतिपादित किये हैं। यहाँ समयसार आदि के अभ्यास को साक्षात कार्यकारी और व्याकरणादि के अभ्यास को परम्परा कार्यकारी कहा है; परन्तु उनमें ही फँस नही जाना चाहिये। व्याकरणादि का किंचित अभ्यास करके प्रयोजनभूत शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्तना चाहिये। द्रव्यानुयोग के अभ्यास बिना अकेला न्याय-व्याकरण का अभ्यास कार्यकारी नहीं है।

दूसरे वैद्यकादि शास्त्र हैं, उनका तो मोक्षमार्ग में कुछ प्रयोजन ही नहीं है। इसलिये किसी व्यवहारधर्म के अभिप्राय से खेद रहितपने से उनका अभ्यास बन जाये तो उपकारादि करना परन्तु पापरूप नही प्रवर्तना। तथा यदि उनका अभ्यास न हो तो नहीं हो, उससे कुछ बिगाड़ नहीं है।

इसप्रकार सनातन मार्ग के शास्त्रों को निर्दोष जानकर उनका उपदेश मानना चाहिये। तथा चारों अनुयोगों में कहीं दोष नहीं निकालना चाहिये।

अनुयोगों में दिखाई देनेवाले परस्पर विरोध का निराकरण

....अब, शास्त्रों में अपेक्षादिक को न जानने से परस्पर विरोध भासित होता है, उसका निराकरण करते हैं।

प्रथमादि अनुयोगों की आम्नाय के अनुसार यहाँ जिसप्रकार कथन किया हो, वहाँ उसप्रकार जान लेना; अन्य अनुयोग के कथन को अन्य अनुयोग के कथन से अन्यथा जानकर सन्देह नहीं करना। जैसे- कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टि के ही शंका, कांक्षा, विचिकित्सा का अभाव कहा; कहीं भय का आठवें गुणस्थान पर्यन्त, लोभ का दसवें पर्यन्त, जुगुप्सा का आठवें पर्यन्त उदय कहा; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। सम्यग्दृष्टि के श्रद्धानपूर्वक तीव्र शंकादिक का अभाव हुआ है अथवा मुख्यतः सम्यग्दृष्टि शंकादि नहीं करता, उस अपेक्षा चरणानुयोग में सम्यग्दृष्टि के शंकादिक का अभाव कहा है; परन्तु सूक्ष्मशक्ति की अपेक्षा भयादिक का उदय अष्टमादि गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है, इसलिये करणानुयोग में वहाँ तक उनका सद्भाव कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

पहले अनुयोगों के उपदेश विधान में कई उदाहरण कहे हैं, वह जानना अथवा अपनी बुद्धि से समझ लेना।....

अब, शास्त्रों की अपेक्षा नहीं समझने के कारण परस्पर विरोध भासित होता है उसका निराकरण करते हैं

प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगों में आम्नाय अनुसार जहाँ जैसा कथन किया हो वहाँ वैसा जानलेना चाहिये, परन्तु अन्य अनुयोग के कथन से अन्यथा जानकर वहाँ संदेह नहीं

करना चाहिये। द्रव्यानुयोग में कहते हैं कि पुण्य को मन से भला नहीं मानना,वचन से भला नहीं कहना और काया से चेष्टा बताकर भला है ऐसा नहीं मानना। समयसार में पुण्य को कुशील कहा गया है। पुण्य-पाप दोनों समान हैं, करने योग्य नही हैं- ऐसा मानना और प्रथमानुयोग में पुण्य करने योग्य है यह बात आती हैं ,तो इन दोंनों कथनों में विरोध नही जानना। चरणानुयोग में शुभभाव करना ऐसा कहा है। यदि इन कथनों का मेल करना नही आवे तो भ्रम हुए बिना नहीं रहता। जिस -जिस अनुयोग में जिस प्रकार कथन किया हो उसे भलीभांति समझ लेना चाहिये। चरणानुयोग में शुभपरिणाम करने का अनुमोदन नहीं हैं,परन्तु अज्ञानी अकेले अशुभभाव में प्रवर्तता हो और सम्यग्दर्शन को समझता न हो तो उसे शुभभाव करने का कथन किया होता है, इसलिये वहाँ संदेह नहीं करन चाहिये।

जैसे कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टि को शंका,कांक्षा,विचिकित्सा का अभाव कहा और कही भय का और जुगुप्सा का आठवें गुणस्थान तक उदय कहा और लोभ का उदय दसवें गुणस्थान तक कहा, तो वहाँ विरोध नही जानना चाहिये। कारण कि सम्यग्दृष्टि के श्रद्धानपूर्वक तीव्र शंकादि का अभाव हुआ है और मुख्यरूप से सम्यग्दृष्टि शंका आदि नहीं करता-इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि के शंकादि का अभाव है। चरणानुयोग में स्थूल परिणामों की अपेक्षा से कथन किया होता है, इसलिये इन दोनों कथनों को यथावत विरोध रहित समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि के बुद्धिपूर्वक जुगुप्सा नही होती। इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना।

इस आत्मा को पूर्ण शुद्धदशा होना मोक्ष है और अपूर्णशुद्धदशा मार्ग अर्थात् उपाय है। उन्हें यथावत समझाने के लिये शास्त्रों में अपेक्षा के कथन किया होता है उसे यथार्थरूप से समझना चाहिये।

आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति है। वह देह से भिन्न है। उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। अज्ञानी जीव देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को ही सम्यग्दर्शन मानता है,वह सही नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टि को तीव्र शंकादि नहीं होते-यह बात चलती है। अथवा सम्यग्दृष्टि मुख्यपने शंकादि नहीं करता है। आत्मा सुखरूप है, उसे दु:खरूप मानना अथवा दया, दान, भक्ति से धर्म होगा-ऐसी तीव्र शंका सम्यग्दृष्टि को नहीं होती। वह यह मानता है कि आत्मा इस देह से भिन्न है और पर्याय में रागादि होते हैं वह आत्मा का वास्ताविक स्वरूप नही है। दया,दान,भक्ति आदि से पुण्य होता है। सम्यग्दृष्टि को उस पुण्य की इच्छा भी नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि को चरणानुयोग की अपेक्षा मुख्यपने शंकादि नहीं होते, परन्तु करणानुयोग की अपेक्षा से आठवें गुणस्थान तक भयादि के परिणाम होते हैं - तो इसमे विरोधता नहीं समझना चाहिये। इसीप्रकार पूर्व में चारों अनुयोग के उपदेश के विधान में कितने ही दृष्टान्त कहे हैं वे अपेक्षा पूर्वक अपनी बुद्धि से समझ लेना चाहिये।

....तथा एक ही अनुयोग में विवक्षावश अनेकरूप कथन करते हैं। जैसे-करणानुयोग में प्रमादों का सातवें गुणस्थान में अभाव कहा, वहाँ कषायादिक प्रमाद के भेद कहे; तथा वहीं कषायादिक का सद्भाव दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि यहाँ प्रमादों में तो जिन शुभाशुभभावों के अभिप्राय सहित कषायादिक होते हैं उनका ग्रहण है, और सातवें गुणस्थान में ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है; इसलिये उनका वहाँ अभाव कहा है। तथा सूक्ष्मादिभावों की अपेक्षा उन्हीं का दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त सद्भाव कहा है।

तथा चरणानुयोग में चोरी, परस्त्री आदि सप्तव्यसन का त्याग पहली प्रतिमा में कहा है, तथा वहीं उनका त्याग दूसरी प्रतिमा में कहा है, वहाँ विरुद्ध नही जानना; क्योंकि सप्तव्यसन में तो चोरी आदि कार्य ऐसे ग्रहण किये हैं जिनसे दंडादिक पाता है, लोक में अति निन्दा होती है। तथा व्रतों में ऐसे चोरी आदि त्याग करने योग्य कहे हैं कि जो गृहस्थ धर्म से विरुद्ध होते हैं व किंचित् लोकनिंद्य होते हैं- ऐसा अर्थ जानना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा नाना भावों की सापेक्षता से एक ही भाव का अन्य-अन्य प्रकार से निरूपण करते हैं। जैसे - कहीं तो महाव्रतादिक को चारित्र के भेद कहा, कहीं महाव्रतादिक होनेपर भी द्रव्यलिंगी को असंयमी कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि सम्यग्ज्ञान सहित महाव्रतादिक तो चारित्र हैं और अज्ञानपूर्वक व्रतादिक होनेपर भी असंयमी ही है।

तथा जिसप्रकार पाँच मिथ्यात्वों में भी विनय कहा है और बारह प्रकार के तपों में भी विनय कहा है वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि जो विनय करने योग्य नहीं हैं उनकी भी विनय करके धर्म मानना वह तो विनय मिथ्यात्व है, और धर्मपद्धति से जो विनय करने योग्य हैं उनकी यथायोग्य विनय करना सो विनय तप है।

तथा जिसप्रकार कहीं तो अभिमान की निन्दा की, और कहीं प्रशंसा की वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि मान कषाय से अपने को ऊँचा मनवाने के अर्थ विनयादि न करे वह अभिमान तो निंद्य ही है, और निर्लोभपने से दीनता आदि न करे वह अभिमान प्रशंसा योग्य है।

तथा जैसे कहीं चतुराई की निन्दा की, कहीं प्रशंसा की वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि माया कषाय से किसी को ठगने के अर्थ चतुराई करे वह तो निंद्य ही है, और विवेक सहित यथासम्भव कार्य करने में चतुराई हो वह श्लाघ्य ही है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा एक ही भाव की कहीं तो उससे उत्कृष्ट भाव की अपेक्षा निन्दा की ही, और कहीं उससे हीन भाव की अपेक्षा से प्रशंसा की हो वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। जैसे - किसी शुभक्रिया की जहाँ निन्दा की हो वहाँ तो उससे ऊँची शुभक्रिया व शुद्धभाव की अपेक्षा जानना, और जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ उससे नीची क्रिया व अशुभक्रिया की अपेक्षा जानना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा इसीप्रकार किसी जीव की ऊँचे जीव की अपेक्षा निन्दा की हो वहाँ सर्वथा निन्दा नहीं जानना और किसी की नीचे जीव की अपेक्षा से प्रशंसा की हो सो सर्वथा प्रशंसा नहीं जानना; परन्तु यथासम्भव उसका गुण-दोष जान लेना।

इसीप्रकार अन्य व्याख्यान जिस अपेक्षा सहित किये हों उस अपेक्षा से उनका अर्थ समझना....

एक ही अनुयोग में विवक्षावश से अनेकरूप कथन किये जाते हैं। जैसेकि करणानुयोग में,भावलिंगी मुनिराज के सातवें गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता-ऐसा कहा है; परन्तु अबुद्धिपूर्वक कषाय दसवें गुणस्थान तक होती है- ऐसा कहा है-तो वहाँ विरोध नहीं समझना चाहिये।छठवें गुणस्थान में भी जितना व्रतादि का भाव आता है वह भी प्रमाद है-राग है ऐसा कहा गया है।

आत्मा में अहिंसादि के व उपदेशादि के परिणाम होते हैं वह प्रमाददशा है और रागभाव है अज्ञानी उस रागभाव को धर्म मानता है; परन्तु वह धर्म नहीं हैं। सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक प्रमाद नहीं होता है। छठवें गुणस्थान मे शुभभाव होते हैं और सातवें गुणस्थान में

स्थूल राग नहीं होता। इसलिये वहाँ अभिप्रायपूर्वक राग नहीं होने के कारण वह प्रमाद और कषाय नहीं हैं- ऐसा कहा है,परन्तु सूक्ष्म कषाय की अपेक्षा से दसवें गुणस्थान तक कषाय होती है। इसप्रकार इन कथनों में विरोध नहीं समझना चाहिये।

तथा चरणानुयोग में चोरी,परस्त्रीगमनादि सात व्यसनों का त्याग पहली प्रतिमा में कहा हैं तथा वहाँ ही उनका त्याग दूसरी प्रतिमा में भी कहा है। इन दोनों कथनों में विरोध नहीं समझना चाहिये। श्रावकदशा में सम्यग्दर्शन पूर्वक सातों व्यसनों का त्याग होता है और दूसरी प्रतिमा में भी उनका त्याग कहा है। सप्त व्यसन में तो ऐसी चोरी आदि का ग्रहण किया है जिससे दंडादिक प्राप्त होते हैं, लोक में बहुत निन्दा होती है। तथा व्रतों में ऐसी चोरी आदि त्याग करने योग्य कहे गये हैं कि जो गृहस्थधर्म से विरूद्ध हों अथवा किंचित् लोकनिंदा हो- ऐसा अर्थ समझना।इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

तथा नाना प्रकार के भावों की सापेक्षता से एक ही भाव को अन्य प्रकार से निरूपण किया जाता है । जैसे कि कहीं तो महाव्रतादि को चारित्र का भेद कहा है तथा कहीं-कहीं महाव्रतादि होने पर भी द्रव्यलिंगी को असंयमी कहा है। वहाँ भी विरोध नहीं समझना, कारण कि सम्यग्दर्शन सहित व्रतादिक को चारित्र कहा, परन्तु अज्ञान पूर्वक व्रतादि होने पर भी वह असंयमी ही है। क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि शरीरादि की क्रिया को धर्म मानता है, शुभभाव करते-करते धर्म हो जायेगा-ऐसी उसकी मान्यता होने से वह त्यागी होने पर भी मूढ़,अज्ञानी,असंयमी है। इसके पंचमहाव्रत की क्रिया होती है; परन्तु वह धर्म नहीं है। राग रहित अंतर स्वरूप में लीनता हुई हो वही चारित्र है। इन दोनों कथनों को अपेक्षा से यथावत् समझना चाहिये।

शास्त्र में आता है कि जीव अनंतबार जिनेश्वर भगवान के समीप गया है और व्रतादि क्रिया भी अनंतबार की है, इससे धर्म का कुछ लाभ नहीं हुआ है।और सम्यग्दृष्टि के व्रतादि नहीं होने पर भी वह द्रव्यलिंगी की अपेक्षा अनंतगुना ऊँचा हैं। जो जड़ को चैतन्य और चैतन्य को जड़ मानता है,जिसके सात तत्त्वों में भूल है। वह अज्ञानी व्रतादि करनेपर भी मूढ़ है।

अज्ञानी अनादिकाल से मैं शरीर हूँ, पैसा वाला हूँ इत्यादि मान्यता करता है यह जीव तत्त्व संबंधी भूल है। शरीर ही मैं हूँ, मैं शरीर को चला सकता हूँ, यह अजीव तत्त्व सबंधी भूल

है। जीव अजीव का कुछ भी कर सकता है–यह अज्ञानी की मिथ्या मान्यता है। वह त्यागी होने पर भी असंयमी है।

मोह–राग–द्वेष प्रत्यक्ष दु:खदायक हैं, तो भी उन्हें सुखरूप मानता है–यह आस्रवतत्त्व संबंधी भूल है। पंचमहाव्रतादि का शुभभाव प्रकट दु:खदायक होनेपर भी उसे अच्छा और लाभदायक माननेवाले को आस्रव तत्त्व का पता नही हैं।

अज्ञानी पुण्पभाव को भला और पापभाव को बुरा मानता है–यह बंध तत्त्व संबंधी भूल है। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र सुखरूप होने पर भी दु:खरूप लगते हैं – यह संवर तत्त्व संबंधी भूल है। आत्मा में शान्तिरूप चारित्रदशा सुखरूप है। उसको अज्ञानी दु:खरूप मानता है और घानी के बेल की तरह मानता है, उसको संवर तत्त्व का पता नहीं है। धर्म दु:खदायक नहीं होता, सुखरूप ही होता है। अज्ञानी वीतराग धर्म को दु:खरूप मानकर उसकी आसातना करता है।

आत्मा में रमणता करना चारित्र है। जिसको उसका पता नहीं है वह बाहर में कष्ट सहन करने को चारित्र मानता है। पाँच इन्द्रियों के झुकाव से हटकर स्वभाव में नहीं जाने वाले को निर्जरा तत्त्व की भूल है। मोक्ष में निराकुल सुख है, उसे नहीं मानता,परन्तु वहाँ आकुलता मानता है। मोक्ष में पाँच इन्द्रियों का सुख नहीं हैं, वहॉ लाडी–बाडी आदि साधन नहीं है, इसलिये वहाँ सुख नहीं हैं– ऐसा अज्ञानी मानता है। सिद्ध किसी का भला नहीं करते, अत: हमें ऐसे सिद्ध नहीं चाहिये– ऐसा कहता है। सिद्ध प्रभु आकुलता रहित है– सुखी है – जिसको यह पता नहीं है वह मोक्ष तत्त्व संबंधी भूल करता है।

तथा जैसे पांच मिथ्यात्व में भी विनय कहा है और बारह प्रकार के तपों में भी विनय कहा है, तो वहाँ विरोध नहीं समझना चाहिये। कारण कि विनय करने योग्य न हो उनकी भी विनय करके उसमें धर्म मानना तो विनय मिथ्यात्व है तथा जो धर्म पद्धति से विनय करने योग्य हैं उनका यथायोग्य विनय करना विनयतप है। बारह प्रकार के तप में विनयतप है और अन्यत्र विनयमिथ्यात्व भी कहा है। सभी देव सच्चे हैं, सभी धर्म सच्चे हैं – यह मान्यता विनयमिथ्यात्व है। वीतराग सर्वज्ञदेव के धर्म के साथ किसी भी अन्य धर्म का मेल नहीं होनेपर भी सभी धर्मों के साथ समन्वय करना विनयमिथ्यात्व है। यह बात किसी का विरोध करने की नही है;

परन्तु अभी जिसका गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटा हैं ऐसों का विनय करना गृहीत मिथ्यात्व हैं।

आत्मा का धर्म तो अपूर्व है। अनंतकाल में नहीं प्राप्त किया ऐसा है। अभी क्रियाकाण्ड आदि में धर्म मानता है; परन्तु ऐसा धर्म तो अनंतबार किया है, इसलिये वह अपूर्व नहीं है। जिसको वीतरागमार्ग की व्यवहार से भी श्रद्धा नहीं है, देव-गुरु-शास्त्र का भी जिसको पता नहीं है। ऐसे त्यागी का विनय करना विनय मिथ्यात्व है। यह विनय तो महापाप है। और धर्मी जीवों की यथायोग्य विनय करना विनयतप है, वह गुण है। इसलिये दोनों विनय का अर्थ अपेक्षा से यथावत् समझना चाहिये। इन कथनों में विरोध नहीं हैं। विनयमिथ्यात्व अधर्म है और विनयतप धर्म है- ऐसी सच्ची पहिचान करना चाहिये; परन्तु शास्त्र के कथन से उलझन में नहीं पड़ना चाहिये, यथार्थ परीक्षा करके अपेक्षा समझनी चाहिये।

तथा जैसे कहीं तो अभिमान की निन्दा की है और कहीं प्रशंसा की है, वहाँ भी विरोध नहीं समझना चाहिये। कारण कि मान कषाय से अपने को उच्च मनवाने के लिये विनयादि नहीं करना तो अभिमान है और वह तो निंद्य ही है; परन्तु निर्लोभपने से दीनता आदि नहीं करनेरूप अभिमान प्रशंसनीय है। हम उत्तम कुल के हैं, हमारे अनीति नहीं होती-

' रघुकुल रीति ऐसी चली आई
प्राण जाय पर वचन न जाई '

ऐसी उत्तम कुल की रीति है- यह लौकिकनीति है। श्रीरामचन्द्रजी को राजगद्दी के स्थान पर वनवास हो जाता है। दशरथ राजा कहते हैं कि हमारे रघुकुल की रीति ऐसी है कि दिया हुआ वचन परिवर्तित नहीं होता। इसीतरह धर्म की नीति है कि पर को अपना नहीं मानना,राग से धर्म नहीं मानना-यह रीति है। यह अभिमान प्रशंसनीय है। अज्ञानी मान कषाय के पोषण के लिये चतुराई करे तो वह निंद्य है। इसलिये जो कथन हो उसे भलीभांति समझ लेना चाहिये; परन्तु उलझन में नहीं पड़ना चाहिये।

शास्त्र में अनेक प्रकार के कथन आते हैं,यदि उनकी अपेक्षा नहीं समझे तो भूल होती है। दीनता नहीं करनेरूप अभिमान प्रशंसनीय है; क्योंकि वह अभिमान न होकर दृढ़ता है। मैं मिथ्यादृष्टि को नमस्कार नहीं करूंगा- ऐसा अभिमान (दृढ़ता) प्रशंसनीय हैं।

कोई स्वच्छन्दी किसी को धक्का मारकर कहे कि यह तो शरीर की अवस्था है, मैंने धक्का नहीं मारा है- तो वह विपरीत है, वह ढिठाई करता है। स्वभाव की दृष्टिवंत को पर का अभिमान नहीं होता। ज्ञान ज्ञान में रुकना चाहिये, इसके बदले ज्ञान राग और पर में अटका है वह अपने को ठगता है। वह भाव जीव स्वयं करता है। वस्तुत: तो दृष्टि ज्ञानस्वभाव पर होना चाहिये; पर की पर्याय, शरीर की पर्याय अथवा राग पर्याय पर दृष्टि नहीं होना चाहिये। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, सबको जाननेवाला हूँ- इसप्रकार स्व का निर्णय करने वाले को पर प्रकाशक ज्ञान सच्चा होता है। स्व के ज्ञान बिना अकेला पर प्रकाशक ज्ञान मिथ्या है।

तथा जैसे कही तो चुतुराई की निन्दा की तथा कहीं प्रशंसा की है, वहाँ विरोध नहीं समझना चाहिये। कारण कि माया कषाय से किसी को ठगने के लिये की जाने वाली चतुराई तो निंद्य ही है; परन्तु कार्य में यथासंभव विवेक करनेरूप चतुराई माया नहीं है।

तथा कहीं एक ही भाव की उससे उत्कृष्ट भाव की अपेक्षा से निन्दा की हो और कहीं उससे हीन भाव की अपेक्षा प्रशंसा की हो तो वहाँ विरोध नहीं समझना चाहिये। जैसे किसी शुभ क्रिया की निंदा की हो तो वहाँ ऊँची शुभ क्रिया कराने का हेतु है। जो जीव पूरे दिन भक्ति में लगा रहता हो उसको स्वाध्याय, वाँचन, मनन आदि करने में लगाते हैं अथवा आत्मा का भान कर ऐसा कहते हैं। वहाँ भक्ति को उड़ाने का प्रयोजन नहीं है (अपितु उससे आगे बढ़ाने का प्रयोजन है।) इसलिये कथन की अपेक्षा समझना चाहिये। स्वाध्याय में लगने से विशेष शुभभाव होता है, इसलिये (भक्ति आदि रूप) शुभ की निंदा करते हैं। तथा जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ इससे नीची क्रिया अथवा अशुभ क्रिया की अपेक्षा से वैसा किया है- ऐसा समझना चाहिये। अन्यत्र भी ऐसा समझ लेना चाहिये।

दूसरे उच्च जीव की अपेक्षा किसी जीव की निन्दा की हो तो वहाँ उसकी सर्वथा निंदा नहीं जानना चाहिये। किसी उच्च जीव अथवा मुनि की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान वाले को हलका कहा है। यह कथन उसको ऊँचा चढ़ाने के लिये है। अत: कथन की विवक्षा समझनी चाहिये। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि से कहते हैं कि तेरा अनंत संसार कट गया है, दृष्टि के विषय की अपेक्षा से समकिती को अबंध कह देते हैं। इस तरह उच्च दशावंत की अपेक्षा निन्दा और निम्न दशावंत की अपेक्षा प्रशंसा की हो तो वहाँ यथासंभव गुण-दोष जान

लेना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने को पर्याय में पामर मानता है; परन्तु वस्तु अपेक्षा से मैं प्रभु हूँ- ऐसा मानता है। इसप्रकार यथासंभव जान लेना चाहिये।

....तथा शास्त्र में एक ही शब्द का कहीं तो कोई अर्थ होता है, कही कोई अर्थ होता है; वहाँ प्रकरण पहिचानकर उसका सम्भवित अर्थ जानना। जैसे - मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कहा, वहाँ दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान है और उपयोगवर्णन में दर्शन शब्द का अर्थ वस्तु का सामान्य स्वरूप ग्रहणमात्र है, तथा इन्द्रियवर्णन में दर्शन शब्द का अर्थ नेत्र द्वारा देखना मात्र है। तथा जैसे सूक्ष्म और बादर का अर्थ- वस्तुओं के प्रमाणादिक कथन में छोटे प्रमाणसहित हो उसका नाम सूक्ष्म, और बड़े प्रमाणसहित हो उसका नाम बादर- ऐसा होता है। तथा पुद्गल स्कंधादि के कथन में इन्द्रियगम्य न हो वह सूक्ष्म और इन्द्रियगम्य हो वह बादर- ऐसा अर्थ है। जीवादिक के कथन में ऋद्धि आदि के निमित्त बिना स्वयमेव न रुके उसका नाम सूक्ष्म और रुके उसका नाम बादर - ऐसा अर्थ है। वस्त्रादिक के कथन में महीन का नाम सूक्ष्म और मोटे का नाम बादर- ऐसा अर्थ है।

तथा प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ लोकव्यवहार में तो इन्द्रिय द्वारा जानने का नाम प्रत्यक्ष है, प्रमाण भेदों में स्पष्ट प्रतिभास का नाम प्रत्यक्ष है, आत्मानुभवनादि में अपने में अवस्था हो उसका नाम प्रत्यक्ष है। तथा जैसे-मिथ्यादृष्टि के अज्ञान कहा, वहाँ सर्वथा ज्ञान का अभाव नहीं जानना, सम्यग्ज्ञान के अभाव से अज्ञान कहा है। तथा जिस प्रकार उदीरणा शब्द का अर्थ जहाँ देवादिक के उदीरणा नहीं कही वहाँ तो अन्य निमित्त से मरण हो उसका नाम उदीरणा है, और दस करणों के कथन में उदीरणाकरण देवायु के भी कहा है, वहाँ ऊपर के निषेकों का द्रव्य उदयावली में दिया जाये उसका नाम उदीरणा है। इसीप्रकार अन्यत्र यथासम्भव अर्थ जानना।

तथा एक ही शब्द के पूर्व शब्द जोड़ने से अनेक प्रकार अर्थ होते हैं व उसी शब्द के अनेक अर्थ है; वहाँ जैसा सम्भव हो वैसा अर्थ जानना। जैसे - 'जीते' उसका नाम 'जिन' है; परन्तु धर्मपद्धति में कर्मशत्रु को जीते उसका नाम 'जिन' जानना। यहाँ कर्मशत्रु शब्दको पहले जोड़ने से जो अर्थ होता है वह ग्रहण किया,

अन्य नहीं किया। तथा जैसे 'प्राण धारण करे' उसका नाम 'जीव' है। जहाँ जीवन-मरण का व्यवहार अपेक्षा कथन हो वहाँ तो इन्द्रियादि प्राण धारण करे वह जीव है; तथा द्रव्यादिक का निश्चय अपेक्षा निरूपण हो वहाँ चैतन्यप्राण को धारण करे वह जीव है। तथा जैसे - समय शब्द के अनेक अर्थ है; वहाँ आत्मा का नाम समय है, सर्व पदार्थ का नाम समय है, काल का नाम समय है, समय-मात्र काल का नाम समय है, शास्त्र का नाम समय है, मत का नाम समय है। इसप्रकार अनेक अर्थों में जैसा जहाँ सम्भव हो वैसा अर्थ वहाँ जान लेना।

तथा कहीं तो अर्थ अपेक्षा नामादिक कहते हैं, कहीं रूढ़ि अपेक्षा नामादिक कहते हैं। जहाँ रूढ़ि अपेक्षा नामादिक लिखे हों वहाँ उनका शब्दार्थ ग्रहण नहीं करना; परन्तु उसका जो रूढ़िरूप अर्थ हो वही ग्रहण करना। जैसे-सम्यक्त्वादि को धर्म कहा वहाँ तो यह जीव को उत्तम स्थान में धारण करता है इसलिये इसका नाम सार्थ है; तथा धर्मद्रव्य का नाम धर्म कहा वहाँ रूढ़ि नाम है, इसका अक्षरार्थ ग्रहण नहीं करना, परन्तु इस नाम की धारक एक वस्तु है ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं शब्द का जो अर्थ होता हो वह तो ग्रहण नहीं करना, परन्तु वहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ हो वह ग्रहण करना। जैसे- कहीं किसी का अभाव कहा हो और वहाँ किंचित् सद्भाव पाया जाये तो वहाँ सर्वथा अभाव नहीं ग्रहण करना; किंचित् सद्भाव को गिनकर अभाव कहा है- ऐसा अर्थ जानना। सम्यग्दृष्टि के रागादिक का अभाव कहा, वहाँ इसी प्रकार अर्थ जानना। तथा नोकषाय का अर्थ तो यह है कि 'कषाय का निषेध'; परन्तु यह अर्थ ग्रहण नहीं करना; यहाँ तो क्रोधादि समान यह कषाय नहीं हैं, किंचित् कषाय हैं, इसलिये नोकषाय हैं- ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे कहीं किसी युक्ति से कथन किया हो, वहाँ प्रयोजन ग्रहण करना। समयसार कलश में यह कहा है कि "धोबी के दृष्टान्तवत् परभाव के त्याग की दृष्टि यावत् प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हुई तावत् यह अनुभूति प्रगट हुई"; सो यहाँ यह प्रयोजन

है कि परभाव का त्याग होते ही अनुभूति प्रगट होती है। लोक में किसी के आते ही कोई कार्य हुआ हो, वहाँ ऐसा कहते हैं कि 'यह आया ही नहीं और यह ऐसा कार्य हो गया। ऐसा ही प्रयोजन यहाँ ग्रहण करना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे कहीं कुछ प्रमाणादिक कहे हों, वहाँ वही नहीं मान लेना, परन्तु प्रयोजन हो वह जानना। ज्ञानार्णव में ऐसा कहा है- 'इस काल में दो-तीन सत्पुरुष हैं; सो नियम से इतने ही नहीं है, परन्तु यहाँ थोड़े हैं ऐसा प्रयोजन जानना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

इसी रीति सहित और भी अनेक प्रकार शब्दों के अर्थ होते हैं, उनको यथासम्भव जानना, विपरीत अर्थ नहीं जानना।....

शास्त्र में एक ही शब्द का कहीं कोई तो कहीं कोई अर्थ होता है, तो वहाँ प्रकरण पहिचानकर उसका संभावित अर्थ समझना चाहिये। जैसे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कहा, उस दर्शन का अर्थ श्रद्धान है। यह सामान्य उपयोग नहीं है। उपयोग के वर्णन में दर्शन शब्द का अर्थ वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है। छद्मस्थ को एक ज्ञान होने के बाद दूसरे ज्ञान होने के पूर्व ज्ञेय तरफ सामान्य झुकाव होना दर्शन है अथवा सामान्य प्रतिभास है। सच्ची श्रद्धा का विषय अखण्ड, अभेद सामान्य स्वभाव है और दर्शन (उपयोग) का विषय जो सामान्य कहा है वह किसी वस्तु को भेद पाड़े बिना देखना वह है। ऐसा यथार्थ ज्ञान करनेपर अपनी स्वरूप लक्ष्मी का माहात्म्य आता है। इन्द्रिय के वर्णन में दर्शन शब्द का अर्थ नेत्र द्वारा देखनामात्र है। नेत्र द्वारा भगवान के दर्शन किये वह ज्ञानोपयोग है

तथा सूक्ष्म और बादर का अर्थ भी बहुत प्रकार से आता है। कद की अपेक्षा से छोटा-बड़ा कहते हैं। जो सूक्ष्म प्रमाण सहित हो उसका नाम सूक्ष्म तथा स्थूल प्रमाण सहित हो उसका नाम बादर-ऐसा अर्थ होता है।

पुद्गल स्कंधादि के कथन में जो इन्द्रियगम्य न हो वह सूक्ष्म कहलाता है तथा जो इन्द्रियगम्य हो वह बादर-ऐसा अर्थ होता है। जीव के कथन में ऋद्धि आदि के निमित्त बिना स्वयं नहीं रुके उसका नाम सूक्ष्म है तथा रुके उसका नाम बादर-ऐसा अर्थ होता है। वस्त्र पतला हो तो सूक्ष्म, जैसे रेशम पतला हो तो सूक्ष्म कहते हैं और खादी मोटी है इसलिये उसको

बादर कहते हैं। और करणानुयोग के कथन में पुद्गल स्कंध के निमित्त से नहीं रुके उसका नाम सूक्ष्म है और रुके उसका नाम बादर- ऐसा अर्थ होता है।

अब प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ बताते हैं। लोक व्यवहार में इन्द्रियों से जाने उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। तथा प्रमाण भेदों में अन्तर में स्पष्ट प्रतिभास का नाम प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। तथा आत्मा में पुण्य-पाप रहित दशा होकर आत्मा में स्थिर होने को प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं। वहाँ असंख्य प्रदेश प्रत्यक्ष नहीं दिखते; परन्तु बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष छूटकर आत्मा में स्थिर होकर अनुभव करता है, इसलिये प्रत्यक्ष कहते है। इसप्रकार अपेक्षा जानना चाहिये।

तथा अवधिज्ञान द्वारा इस रूपी पदार्थ को जाना, वहाँ पर का ज्ञान यथार्थ होता है; परन्तु पर को जानना तो व्यवहार है। केवली भगवान ने लोकालोक को प्रत्यक्ष जाना-यह भी व्यवहार है। वस्तुत: तो वे स्व को जानते हैं; परन्तु पर को यथार्थ स्पष्ट जानते हैं इसलिये प्रत्यक्ष कहा है। एक देव स्वर्ग में उत्पन्न हुआ, यदि वह उपयोग लगाये तो जानता है कि सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, तो वह इन्द्रियों से नहीं जानता; परन्तु पर को स्पष्ट जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष कहा है। परन्तु स्व की अपेक्षा पर को जानना व्यवहार है। आत्मा के अनुभव की अपेक्षा स्व में स्थिरता करना प्रत्यक्ष है। इसप्रकार अपेक्षा समझना चाहिये।

तथा मिथ्यादृष्टि के अज्ञान कहा है वहाँ सर्वथा ज्ञान का अभाव नहीं समझना, वह जड़ नहीं हो गया है; परन्तु सच्चा (सम्यक्) ज्ञान नहीं है, इसलिये अज्ञान कहा है।

तथा उदीरणा शब्द का अर्थ जहाँ देवादिक के उदीरणा नहीं कही, क्योंकि देव की आयु की उदीरणा नहीं होती, वहाँ तो अन्य निमित्त से मरण नहीं इसलिये उदीरणा नहीं कही है। तथा दस करणों के कथन में देवों के भी उदीरणा करण कहा है। करण के दस प्रकार है, उत्कर्षण, अपकर्षण, निद्धत, निकाचित आदि; इनमें उदीरणा भी एक करण है। वहाँ ऊपर के निषेकों को उदयावली में डालने का नाम उदीरणा है। वस्तुत: कोई कर्म के परमाणु आगे-पीछे नहीं आते; परन्तु भविष्य के कर्म का उदय पहले आया इसलिये उदीरणा कही है- यह व्यवहार कथन है। वस्तुत: तो वे सब कर्म भी क्रमबद्ध ही हैं, वर्तमान में पुरुषार्थ से स्थिति घटाई-यह बताने के लिये उसे उदीरणा कहा जाता है।

आत्मा कर्म की स्थिति तो घटा देता है ऐसे कथनों की अपेक्षा समझनी चाहिये। 'धवला' में कथन आता है कि भगवान जिनेन्द्र के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्मों का नाश हो जाता है। जो जीव 'मैं शुद्ध हूँ - ऐसी रुचि करके आत्मा की श्रद्धा करता है उस जीव ने स्वभगवान के दर्शन किये हैं और ऐसा जीव, जैसे सिंह किसी हाथी के खंड कर देता है वैसे, निद्धत और निकाचित कर्म के टुकड़े कर देता है। वहाँ तो जीव का पुरुषार्थ बतलाते हैं। तथा किसी समय कर्म की व्याख्या करते समय ऐसा कहते हैं कि निद्धत कर्मों को टाला नहीं जा सकता। वहाँ कर्म की तारतम्यता बताना है। इसीप्रकार अन्यत्र भी यथायोग्य अर्थ समझना चाहिये।

तथा एक ही शब्द के पूर्व शब्द जोड़ने से अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं व उसी शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ हैं। वहाँ यथासंभावित अर्थ घटित करना चाहिये। जैसे कि जीते उसका नाम जिन है; परन्तु धर्म पद्धति में कर्मरूपी शत्रु को जीतनेवाला जिन समझना। वहाँ परजीवों को जीतने की बात नही समझना तथा वास्तव में तो कर्म भी शत्रु नही है; परन्तु अंतरंग में होने वाले मोह-राग-द्वेष ही शत्रु हैं, उन्हे जीते वह जिन है -ऐसा समझना। यहाँ कर्म शब्द जोड़कर अर्थ किया, दूसरा नहीं किया।

तथा प्राण धारण करे उसका नाम जीव है। जहाँ जीवन-मरण का व्यवहार अपेक्षा से कथन हो वहाँ इन्द्रियादि धारण करे वह जीव है, पाँच इन्द्रियाँ धारण करे वह जीव और पाँच इन्द्रियाँ छूट जाये तब जीव नहीं होता-ऐसी व्याख्या करते हैं; परन्तु व्यवहार प्राण से जीव कहो तो सिद्ध जीव ही नहीं ठहरेंगे।

तथा समय शब्द के अनेक अर्थ हैं आत्मा का नाम समय है, सम्यक प्रकार से ज्ञान का परिणमना समय है, जो जानता है और परिणमता है वह आत्मा है-इसप्रकार आत्मा में (यह) लागू पड़ता है। अकेला परिणमन अर्थ लो तो समस्त द्रव्य आ जाते हैं।तथा काल का नाम समय है, शास्त्र का नाम समय है। वीतराग के शास्त्र स्वसमय है और अन्यमत कथित शास्त्र परसमय है- इसप्रकार अर्थ समझना। तथा वीतराग कथित मत स्वमत और अन्य कथित मत परमत है, वहाँ मत का नाम समय है। इसप्रकार अनेक अर्थ में जहाँ-जैसा संभव हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिये।

तथा कहीं अर्थ अपेक्षा, तो कहीं रूढ़ि अपेक्षा से नामादिक कहे जाते हैं। उनमे जहाँ रूढ़ि अपेक्षा से नाम हो वहाँ उसका शब्दार्थ ग्रहण नही करना, उसका रूढ़ि अर्थ ग्रहण करना। जैसे कि आत्मा ज्ञानानंद है, उसकी रुचि, ज्ञान और रागरहित रमणता को धर्म कहा, आत्मा अपनी वीतरागी पर्याय को धार रखता है इसलिये धर्म कहा है। कहीं चारित्र को धर्म कहा है। वहाँ उत्कृष्ट वीतरागता बताई है। कहीं सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान को धर्म कहते हैं। उच्च स्थान में धरे उसका नाम धर्म है। तथा व्यवहार से शुभराग को भी धर्म कहते हैं। तथा जड़ और चेतन द्रव्य गति करे तब धर्मद्रव्य निमित्त है। वहाँ धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं समझना चाहिये वहाँ धर्म नाम रूढ़ि से है।

शास्त्र की कथन की पद्धति को नहीं समझे तो अज्ञान नहीं मिटता है।

कहीं शब्द का जो अर्थ होता हो वह तो ग्रहण नहीं करना, परन्तु वहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ हो वह ग्रहण करना चाहिये। जैसे कहीं किसी का अभाव कहा हो, वहाँ किंचित सद्भाव हो तो सर्वथा अभाव ग्रहण नहीं करना; परन्तु किंचित सद्भाव को नहीं गिनकर वहाँ अभाव कहा है- ऐसा समझना। जैसे शास्त्र में सम्यग्दृष्टि के रागादि का अभाव कहा है, वहाँ उस कथन का अर्थ नहीं समझे तो विपरीतता का अभाव नहीं हो सकता। यहाँ कहा कि सम्यग्दृष्टि के सम्यक् अर्थात प्रशंसनीय दृष्टि है। मेरे में शरीर-मन-वाणी की क्रिया नहीं है, कमजोरीवश होनेवाले शुभाशुभ जितना मैं नहीं हूँ। मैं द्रव्यस्वभाव से शुद्ध हूँ- ऐसा ज्ञाता-दृष्टापना प्रगट है, उसके तीन कषायें होनेपर भी रागादि नहीं हैं- ऐसा दृष्टि अपेक्षा से कहा है। यद्यपि पर्याय में रागादि होते हैं, परन्तु दृष्टि का जोर बताने के लिए राग का अभाव कहा है; परन्तु वहाँ उसके सर्वथा राग नहीं है- ऐसा नही समझना चाहिये।

समकिती किसी समय युद्ध में होता है और राग द्वेष के परिणाम करता दिखता है; परन्तु दृष्टि पलट गई है। द्रव्यस्वभाव अंतर में विद्यमान है, ऐसी गुणदृष्टि अथवा ध्रुवदृष्टि के कारण श्रद्धा सम्यक् हुई है। उस जीव को स्वयं की कमजोरीवश पुण्य-पाप के भाव होते हैं; परन्तु स्वभाव की दृष्टि होने से उनका अभाव कहा है। श्री समयसार में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के संसार नहीं है, उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव में है। वह पंच महाव्रत को भी बंधन मानता है। मै शुद्ध चिदानंद हूँ, ऐसी दृष्टि के बल से अल्पराग को गिना नहीं है; परन्तु वहाँ

राग का सर्वथा अभाव नहीं जानना। किसी समय पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक को भी रौद्रध्यान होता है, वह पर के कारण नहीं है, तो भी वह उस रौद्रध्यान को उपाधि समझता है। मेरा स्वभाव उपाधि रहित है- ऐसी दृष्टि के जोर में कहा है कि ज्ञानी के विकार नहीं होता।

यहाँ कहा है कि शब्द का अर्थ प्रयोजन अनुसार करना चाहिये। तेरहवें गुणस्थान में एक समयमात्र का कर्म परमाणुओं का आस्रव होता है- ऐसा कहा है और चौथे गुणस्थान में आस्रव नहीं हैं- ऐसा कहा है; तो इन दोनो कथनों का सुमेल किसप्रकार है? समकिती पुण्यभाव को भी अधर्म समझता है, उसको आत्मा का भान है- इस दृष्टि की अपेक्षा से समकिती के आस्रव नहीं है यह कहा है और तेंरहवें गुणस्थान में करणानुयोग की अपेक्षा आस्रव कहा है।

अज्ञानी शरीरादि को तथा राग को अपना स्वरूप मानता है, उसको वीतरागी की आज्ञा का पता नहीं है। आ अर्थात् मर्यादा और ज्ञा अर्थात् जानना। पुण्य-पाप के भाव आत्मा की मर्यादा में नहीं हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है - इसतरह आत्मा का भान होने के पश्चात् दया, दानादि के परिणाम आते हैं उन्हें धर्मी बंध का कारण समझता है; परन्तु सम्यग्दर्शन (दृष्टि) की अपेक्षा से उसको आस्रव-बंध नहीं है-ऐसा कह देते हैं। मुनिराज को आहार ग्रहण का राग आता है। पंच महाव्रत का राग आता है, किसी समय आर्त्तध्यान भी हो जाता है, ऐसा होने पर भी उनके राग नही होता-ऐसा कहा है। यह बात स्वभाव की दृष्टि की सामर्थ्य बतलाने के लिये कही है।

धर्मास्तिकाय का शब्दार्थ करो तो यह अर्थ नहीं होगा। पुण्य-पाप रहित वीतरागी शांति को धर्म कहते हैं। धर्म का होनापना है और काय है वह धर्मास्तिकाय में है? नहीं, इसलिये शब्दार्थ के अनुसार धर्मास्तिकाय का अर्थ करे तो अर्थ घटित नहीं होता। (धर्म तो वीतरागी शांति है और धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है जो जीव-पुद्गल की गति में निमित्त है) अतः वहाँ रूढ़ि अनुसार अर्थ समझना चाहिये।

क्रोध,मान,माया, लोभ को कषाय कहते हैं। हास्य, रति, अरति आदि को नो कषाय कहते हैं। वहाँ शब्दार्थ अनुसार अर्थ नहीं समझना चाहिये। नो कषाय का अर्थ कषाय का निषेध नहीं समझना, अपितु वे कषायें क्रोधादि जैसी नहीं हैं, किंचित कषाय है; इसलिये उन्हें नोकषाय कहा है। इसप्रकार शास्त्र का अर्थ करना आना चाहिये और प्रयोजन समझना चाहिये।

तथा कहीं युक्ति द्वारा कथन किया हो वहाँ उसका प्रयोजन ग्रहण करना चाहिये। जैसे श्री समयसार कलश में ऐसा कहा कि धोबी के दृष्टान्तवत् परभाव के त्याग की दृष्टि जहाँ तक प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हुई इतने में तो यह अनुभूति प्रगट होती है। कोई धोबी के यहाँ से भूल से दूसरा वस्त्र ले आया हो, तो वह वस्त्र अन्य का है-ऐसा भान होने पर उस वस्त्र को त्याग देता है; इसी प्रकार अज्ञानी शरीर मन, वाणी, पुण्य-पाप को निज मानकर मिथ्यात्व भाव ओढ़कर सो रहा है; परन्तु भान हुआ कि व्रत-अव्रत दोनों विकार है, यह विकार मेरा नहीं है, तो ऐसा भान होनेपर विकार में परिणमन नहीं हुआ वहाँ सम्यक् दृष्टि हो गई।

वहाँ प्रयोजन यह है कि पहले पुण्य-पाप की रुचि थी, देव-शास्त्र-गुरु के राग से सम्यक्त्व होगा-ऐसी मान्यता थी, उस परभाव का त्याग हुआ इतने में अनुभूति प्रगट हो गई। स्वभाव के सत्कार और राग के त्याग के कालभेद नहीं है। राग का त्याग होते ही अनुभूति प्रगट होती है। अर्थात् स्वभाव में आया इसलिये पुण्य परिणाम की रुचि छूट गई।

लोक में भी किसी के आने के साथ ही कोई कार्य हुआ हो तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि तुम आये नहीं वहाँ तो यह कार्य हो गया! इसीतरह विभाव परिणमन नही हुआ वहाँ स्वभाव का कार्य हो गया। वहाँ विभाव पर दृष्टि नही; परन्तु स्वभाव की रुचि होनेपर विभाव की रुचि छूट जाती है- ऐसा समझना चाहिये। आत्मा का भान होनेपर भी किंचित विभाव होता है; परन्तु उसकी रुचि नहीं होने से उसका अभाव कहा जाता है।

तथा कहीं कुछ प्रमाणादि कहे हों वे ही प्रमाणादि नहीं मान लेना; परन्तु उस कथन का जो प्रयोजन हो उसे जानना। जैसे श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं कि इस पंचमकाल में दो तीन सम्यक्त्वी होते हैं। वहाँ दो-तीन कहने से उतना ही प्रमाण (संख्या) नहीं मान लेना। नियमपूर्वक इतने ही नहीं हैं; परन्तु थोड़े हैं -ऐसा प्रयोजन जानना। इसीप्रकार सर्वत्र शास्त्र के कथन का आशय समझना चाहिये।

इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये। इसी पद्धति पूर्वक तथा अन्य भी अनेक प्रकार से शब्दों के अर्थ होते हैं, उन्हे यथासंभव जानना; परन्तु विपरीत अर्थ नही जानना।

....तथा जो उपदेश हो, उसे यथार्थ पहिचानकर जो अपने योग्य उपदेश हो उसे अंगीकार करना। जैसे- वैद्यक शास्त्रों में अनेक औषधियाँ कही हैं, उनको जाने;

परन्तु ग्रहण उन्हीं का करे जिनसे अपना रोग दूर हो। अपने को शीत का रोग हो तो उष्ण औषधि का ही ग्रहण करे, शीतल औषधि का ग्रहण न करे; यह औषधि औरों को कार्यकारी है, ऐसा जाने। उसी प्रकार जैनशास्त्र में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जाने; परन्तु ग्रहण उसीका करे जिनसे अपना विकार दूर हो जाये। अपने को जो विकार हो उसका निषेध करने वाले उपदेश को ग्रहण करे, उसके पोषक उपदेश को ग्रहण न करे; यह उपदेश औरो को कार्यकारी है, ऐसा जाने।

यहाँ उदाहरण कहते हैं- जैसे शास्त्रों में कही निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है। वहाँ अपने को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते, और अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते। तथा पहले तो व्यवहार श्रद्धान के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा था, पश्चात् व्यवहार उपदेश ही की मुख्यता करके आत्मज्ञान का उद्यम न करे; अथवा पहले तो निश्चयश्रद्धान के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्दी हो रहा था, पश्चात् निश्चय उपदेश ही की मुख्यता करके विषय-कषाय का पोषण करता है। इसप्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करने से बुरा ही होता है।

तथा जैसे आत्मानुशासन में ऐसा कहा है कि "तू गुणवान होकर दोष क्यों लगाता है? दोषवान होना था तो दोषमय ही क्यों नहीं हुआ?" सो यदि जीव आप तो गुणवान हो और कोई दोष लगता हो वहाँ वह दोष दूर करने के लिए उस उपदेश को अंगीकार करना। तथा आप तो दोषवान है और इस उपदेश का ग्रहण करके गुणवान पुरुषों को नीचा दिखलाये तो बुरा ही होगा। सर्वदोषमय होने से तो किंचित! दोषरूप होना बुरा नहीं है, इसलिये तुझसे तो वह भला है। तथा यहाँ यह कहा है कि 'तू दोषमय ही क्यों नहीं हुआ?' सो यह तर्क किया हैं, कहीं सर्वदोषमय होने के अर्थ यह उपदेश नहीं है। तथा यदि गुणवान की किंचित दोष होनेपर भी निन्दा है तो सर्व दोषरहित तो सिद्ध हैं; निचलीदशा में कोई गुण, कोई दोष होता ही है।

यहाँ कोई कहे- ऐसा है तो "मुनिलिंग धारण करके किंचित् परिग्रह रखे वह भी निगोद जाता है"- ऐसा षट्पाहुड़ में कैसे कहा है?

उत्तरः- ऊँची पदवी धारण करके उस पद में सम्भवित नहीं हैं ऐसे नीचे कार्य करे तो प्रतिज्ञाभंगादि होने से महादोष लगता है, और नीची पदवी में वहाँ सम्भवित ऐसे गुण-दोष हों तो हों, वहाँ उसका दोष ग्रहण करना योग्य नहीं है- ऐसा जानना।

तथा उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला में कहा है- 'आज्ञानुसार उपदेश देनेवाले का क्रोध भी क्षमा का भंडार है;' परन्तु यह उपदेश वक्ता को ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस उपदेश से वक्ता क्रोध करता रहे तो उसका बुरा ही होगा। यह उपदेश श्रोताओं के ग्रहण करने योग्य है। कदाचित् वक्ता क्रोध करके भी सच्चा उपदेश दे तो श्रोता गुण ही मानेंगे। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे किसी को अति शीतांग रोग हो उसके अर्थ अति उष्ण रसादिक औषधियाँ कही हैं; उन औषधियों को जिसके दाह हो व तुच्छ शीत हो वह ग्रहण करे तो दुःख ही पायेगा। उसीप्रकार किसी के किसी कार्य की अति मुख्यता हो उसके अर्थ उसके निषेध का अति खींचकर उपदेश दिया हो; उसे जिसके उस कार्य की मुख्यता न हो व थोड़ी मुख्यता हो वह ग्रहण करे तो बुरा ही होगा।

यहाँ उदाहरण- जैसे किसी के शास्त्राभ्यास की अति मुख्यता है और आत्मानुभव का उद्यम ही नहीं है, उसके अर्थ बहुत शास्त्राभ्यास का निषेध किया है। तथा जिसके शास्त्राभ्यास नहीं है व थोड़ा शास्त्राभ्यास है, वह जीव उस उपदेश से शास्त्राभ्यास छोड़ दे और आत्मानुभव में उपयोग न रहे तब उसका तो बुरा ही होगा।

तथा जैसे किसी के यज्ञ-स्नानादि द्वारा हिंसा से धर्म मानने की मुख्यता है, उसके अर्थ- 'यदि पृथ्वी उलट जाये तब भी हिंसा करने से पुण्यफल नहीं होता' - ऐसा उपदेश दिया है। तथा जो जीव पूजनादि कार्यों द्वारा किंचित् हिंसा लगाता है और बहुत पुण्य उपजाता है, वह जीव इस उपदेश से पूजनादि कार्य छोड़ दे और हिंसा रहित सामायिकादि धर्म में लगे नहीं तब उसका तो बुरा ही होगा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे कोई औषधि गुणकारी है; परन्तु अपने को जबतक उस औषधि से हित हो तबतक उसका ग्रहण करे; यदि शीत मिटने पर भी उष्ण औषधि का सेवन

करता ही रहे तो उल्टा रोग होगा। उसीप्रकार कोई धर्मकार्य है; परन्तु अपने को जबतक उस धर्म कार्य से हित हो तबतक उसका ग्रहण करे; यदि उच्चदशा होनेपर निचलीदशा सम्बन्धी धर्म के सेवन में लगे तो उल्टा विकार ही होगा।

यहाँ उदाहरण- जैसे पाप मिटाने के अर्थ प्रतिक्रमणादि धर्मकार्य कहे हैं; परन्तु आत्मानुभव होनेपर प्रतिक्रमणादि का विकल्प करे तो उल्टा विकार बढ़ेगा; इसी से समयसार में प्रतिक्रमणादिक को विष कहा है। तथा जैसे अव्रती को करने योग्य प्रभावनादि धर्मकार्य कहे हैं, उन्हें व्रती होकर करे तो पाप ही बाँधेगा। व्यापारादि आरम्भ छोड़कर चैत्यालयादि कार्यों का अधिकारी हो यह कैसे बनेगा? इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना।

तथा जैसे पाकादिक औषधियाँ पुष्टिकारी हैं, परन्तु ज्वरवान् उन्हें ग्रहण करे तो महादोष उत्पन्न हो, उसीप्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है, परन्तु अपने विकार भाव दूर न हों और ऊँचे धर्म का ग्रहण करे तो महान दोष उत्पन्न होगा। यहाँ उदाहरण- जैसे अपना अशुभ विकार भी नहीं छूटा हो और निर्विकल्प दशा को अंगीकार करे तो उल्टा विकार बढ़ेगा; तथा भोजनादि विषयों में आसक्त हो और आरम्भत्यागादि धर्म को अंगीकार करे तो दोष ही उत्पन्न होगा। तथा जैसे व्यापारादि करने का विकार तो छूटे नहीं और त्याग के भेषरूप धर्म अंगीकर करे तो महान दोष उत्पन्न होगा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

इसीप्रकार और भी सच्चे विचार से उपदेश को यथार्थ जानकर अंगीकार करना। बहुत विस्तार कहाँ तक कहें; अपने को सम्यग्ज्ञान होनेपर स्वयं ही को यथार्थ भासित होता है। उपदेश तो वचनात्मक है तथा वचन द्वारा अनेक अर्थ युगपत् नहीं कहे जाते; इसलिये उपदेश तो एक ही अर्थ की मुख्यतासहित होता है।

तथा जिस अर्थ का जहाँ वर्णन है, वहाँ उसी की मुख्यता है; दूसरे अर्थ की वहीं मुख्यता करे तो दोनों उपदेश दृढ़ नहीं होंगे; इसलिये उपदेश में एक अर्थ को दृढ़ करे; परन्तु सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है और 'स्यात्' पदका अर्थ 'कथंचित्' है; इसलिये जो उपदेश हो उसे सर्वथा नहीं जान लेना। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ

इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है? इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे। पश्चात् अपनी दशा देखे। जो उपदेश जिसप्रकार अपने को कार्यकारी हो उसे उसी प्रकार अंगीकार करे; और जो उपदेश जानने योग्य ही हो तो उसे यथार्थ जान ले। इसप्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करे।

यहाँ कोई कहे- जो तुच्छबुद्धि इतना विचार न कर सके वह क्या करे?

उत्तर :- जैसे व्यापारी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे सो थोड़ा या बहुत व्यापार करे, परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। उसी प्रकार विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे सो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है- इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये। सो कार्य तो इतना है कि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके रागादि घटाना। सो यह कार्य अपना सिद्ध हो उसी उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे; विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो नहीं भूले; इतनी तो सावधानी अवश्य होना चाहिये। जिसमें अपने हित की हानि हो, उस प्रकार उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं है।

इसप्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।....

तथा जो उपदेश होता है उसे यथार्थरूप से पहिचानना चाहिये। एक निश्चयपोषक उपदेश और एक व्यवहारपोषक उपदेश-इस तरह उपदेश दो प्रकार का है। समकिती को भक्ति आदि के शुभ परिणाम आते हैं, इन्द्र भी भक्ति से नृत्य करता है। वह समझता है कि मैं ज्ञाता हूँ, राग का स्वामी नहीं हूँ, शरीर की क्रिया का स्वामी नहीं हूँ। पहले देवलोक का इन्द्र और इन्द्राणी एकावतारी होते हैं, नंदीश्वरद्वीप में शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, वहाँ (अष्टान्हिका पर्व में) आठ दिन तक भक्ति करते हैं-नृत्य करते हैं। उसकी दो सागर की आयु होती है। आयु स्थिति लम्बी होने से महाविदेह में असंख्य तीर्थंकरों के कल्याणक महोत्सव मनाते हैं, तथापि समझते हैं कि यह राग है। भगवान का जन्म होने पर सिंहासन कंपित होने से नीचे उतर जाते हैं, भगवान को वंदन करते हैं। वहाँ शुभभाव आता है-इत्यादि सब व्यवहार का कथन

है। निश्चय कथन में आता है शुभराग के काल में उस जाति का राग आता है, राग लाने से नहीं आता –इत्यादि निश्चय का उपदेश आता है। इसप्रकार अपने योग्य उपदेश को अंगीकार करना।

जैसे वैद्यक शास्त्रों में अनेक औषधियां कही है, उन्हें जाने तो सही, परन्तु अपना रोग दूर हो वैसी औषधि को ग्रहण करे, अपने को सर्दी हो तो उष्ण औषधि ग्रहण करे, परन्तु शीत औषधि न ले । वह अन्य को कार्यकारी है–ऐसा जाने। इसीप्रकार जैन शास्त्रों के अनेक प्रकार के उपदेश को जाने; परन्तु अपना विकार दूर हो और स्वभाव की दृष्टिपूर्वक स्थिरता हो उस उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु विकार के पोषक उपदेश का ग्रहण न करे, वह उपदेश अन्य को कार्यकारी है ऐसा जाने।

उदाहरण यह है कि शास्त्र में कहीं तो निश्चयपोषक उपदेश है तथा कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है। निश्चय की बात चलती हो तब कहते हैं कि आत्मा देह की क्रिया नहीं कर सकता। दूसरी ओर बात आती है कि भगवान की पूजा करनी, दया, दानादि करना–वहाँ समझना कि यह पुण्य है।व्यवहार का अधिकपना हो तो निश्चयपोषक उपदेश ग्रहण करना। मैं शुद्ध आत्मा हूँ–ऐसा समझना। जो स्वच्छंदी है और विषयों में लगा है उससे कहते हैं कि भाई! अशुभ परिणाम तेरे हैं, अशुभ में पाप है, शुभ में पुण्य है। शुभ से अशुभ खराब है। ऐसा कहकर स्वच्छंदता का निषेध करते हैं। इसप्रकार वस्तु की स्थिति समझकर योग्य उपदेश ग्रहण करना चाहिये।

वीतराग कथित शास्त्रों की कथन पद्धति किसप्रकार की है वह जानना चाहिये। व्यवहार किसे कहना ? दया,दान,व्रत,पूजा आदि के भाव होते हैं, वे पुण्य परिणाम हैं, वह व्यवहार है। आत्मा आनंदकंद ध्रुव है उसकी श्रद्धा–ज्ञान और रमणता वह निश्चय है– इसप्रकार शास्त्रों में दो प्रकार का उपदेश आता है। सच्चे–देव–शास्त्र–गुरु को पहिचानने का राग पुण्य है। उसको व्यवहार कब कहते हैं ? आत्मा राग रहित, ज्ञानादि गुणों का भण्डार है, उसके अनाकुल स्वभाव का अनुभव होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद के शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

जैसे पानी की सपाटी किनारे और मध्य में समान लगती है, परन्तु किनारे और मध्य की गहराई में बहुत अंतर होता है; इसीप्रकार ऊपरीरूप सें मानी हुई बात में और अंदर की

वास्तविकता में बहुत अंतर है। शरीर की अवस्था व्यवहार नहीं है, वह तो जड़ की पर्याय है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग, पाँच महाव्रतों का राग भी जहर है; वह चैतन्य के अमृत के स्वाद को लूटनेवाला है- इसप्रकार राग को जानना व्यवहार है और राग रहित आत्मा की पहिचान होना निश्चय है। निश्चय स्वाश्रित है और व्यवहार पराश्रित है। आत्मा गुणी हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि उसके गुण है-ऐसा गुण-गुणी का भेद व्यवहार है, पुण्य है। वह व्यवहार भी किसको ? राग रहित आत्मा की श्रद्धा -ज्ञान करके उसमें लीनता करनेवाले के राग को व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार निश्चय -व्यवहार को यथार्थरूप से समझना चाहिये।

अनंतकाल में जीव निश्चय-व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा है। यदि यथार्थ समझता तो अंतर आनंद का अनुभव होता ही। देह,मन,वाणी, कर्म आदि जड़ हैं - पर है; वे जगत के सत् पदार्थ हैं; वे उनके स्वयं के कारण पलटते और टिकते हैं। मेरे में भी पलटना (परिणमन) होता है। उसमें जो राग आता है वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह विकार है, इसलिये दु:खदायक है। मेरा स्वरूप राग रहित है। अनाकुल शांति का वेदन होना निश्चय है। गुण-गुणी के भेद का विचार रहना व्यवहार है।

दया-दानादि व्यवहार है, वह करते-करते निश्चय प्रगट होगा- ऐसा मानने वाला निश्चय से भ्रष्ट है। व्यवहार से निश्चय नहीं होता। लोग व्यवहार से धर्म मानते हैं, पहले व्यवहार करेंगे तो आत्मज्ञान होगा- ऐसा माननेवाले आत्मज्ञान से भ्रष्ट हैं। व्यवहार के अवलम्बन से कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं रोटी छोड़ सकता हूँ, गर्म पानी पी सकता हूँ - इसप्रकार जगत की वस्तुओं का ग्रहण-त्याग कर सकना माननेवाला मूढ़ है। वह जीव जगत का ईश्वर बनता है; वह जीव विष्णु को जगत का कर्ता माननेवाले की तरह मिथ्यादृष्टि है।

जैन कोई बाड़ा (सम्प्रदाय) नहीं है। जीतनेवाला जैन है। मै शुद्ध ज्ञायक ध्रुव हूँ - ऐसी श्रद्धा करने से भ्रांति और स्थिरता करनेपर अस्थिरता का अभाव होता है वह जैन है। जैसे चिरायते की थैली पर शक्कर नाम लिख देनेमात्र से चिरायता मीठा नहीं हो जाता; इसीप्रकार मात्र जैननाम धराने से जैन नहीं हुआ जा सकता। आत्मा परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। जगत के पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। प्रत्येक पदार्थ पूर्व पर्याय से नष्ट

होता, नयी पर्याय से उपजता और गुणरूप से कायम रहता है; तथापि जो यह मानता है कि मैं परपदार्थ की अवस्था बदल दूँ वह मूढ़ है-मिथ्यादृष्टि है।

जड़ पदार्थों का रूपांतर होना - क्रियांतर होना वह उनकी सत्ता की बात है।जड़ की सत्ता में चैतन्य की सत्ता का अभाव है और चैतन्य की सत्ता में जड़ की सत्ता का अभाव है; तथापि कोई किसी का कुछ कर सकता है-ऐसा माननेवाला मिथ्यात्व को घोटता है-पोषण करता है।

भाषा जड़ की अवस्था है। आत्मा से भाषा नहीं बोली जा सकती। ओठ आहारवर्गणा से निर्मित है। जैसे चने के बारीक आटे से मेसुरपाक बनते हैं और मोटे आटे से अन्य मिठाईयां; इसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं की अनेक जातियां है। एक जाति शरीर बने ऐसी है और एक जाति भाषा बने ऐसी है। आत्मा जड़ की पर्याय को नहीं बना सकता। आहारवर्गणा से भी भाषा नहीं होती और न भाषावर्गणा से शरीर होता है, तब फिर आत्मा भाषा को करे यह तो संभव ही नहीं है। आत्मा से भाषा होना माननेवाला जड़ के अस्तित्व को उड़ाता है-नष्ट करता है, उसको निश्चय-व्यवहार का पता नहीं है।

भाषा जड़ की पर्याय है । आत्मा अरूपी है। दोनों के बीच अत्यन्ताभाव की दीवार है। आत्मा से भाषा बोलना माननेवाला विष्णु जगतकर्ता की मान्यतावाले की तरह मिथ्यादृष्टि है। भाषावर्गणा के परमाणु शब्दरूप परिणमते हैं। अज्ञानी आत्मा के कारण भाषा होना मानता है। अत: उसके व्यवहार नहीं होता। भाषा और इच्छारहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करना निश्चय है और राग आता है उसको जानना व्यवहार है।

जीव अनादि से व्यवहारमूढ़ है। शास्त्र में व्यवहार की बात आती है वहाँ व्यवहार में लीन होता है, राग से धर्म मानता है -ऐसे जीव को निश्चय-व्यवहार एक भी नही होता है। आत्मस्वभाव राग से रहित है। उसमें जो झुका है वह निश्चय है और उसके व्यवहार होता है। कहा भी है कि: -

द्रव्यक्रिया रुचि जीवड़ा जी, भाव धर्म रुचिहीन;

उपदेशक भी ऐसे ही जी क्या करे जीव नवीन?

चन्द्रानन जिन सुनिये अरदास।।

जीव द्रव्यक्रिया में धर्म मानते हैं, पुण्य में धर्म मानते हैं; परन्तु उन्हें रागरहित चिदानंद स्वभाव का भान नहीं है। और हे नाथ! उनको धर्मोपदेशक भी ऐसी ही मान्यतावाले मिलते हैं इसकारण वे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान किस तरह करें? अत: हे प्रभु: यह प्रार्थना सुनो!

''पहले निश्चय श्रद्धान द्वारा वैराग्य से भ्रष्ट बनकर स्वच्छंदी हो रहा था, पश्चात भी निश्चय उपदेश की ही मुख्यता करके विषय-कषाय का पोषण करता है।" मैं ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसी कल्पना करता है, परन्तु स्वभाव का अवलम्बन और राग घटाने का प्रयत्न नहीं करता तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव ऐसे के ऐसे करता है और मानता है कि वे बंध के कारण नहीं है-तो वह निश्चयाभासी है।

जों विषय-कषायरूप पाप के परिणाम करनेपर भी पाप नहीं मानता वह निश्चय से भ्रष्ट है और वैराग्य से भी भ्रष्ट है। धर्मी को अन्तर का परिवर्तन हो गया है। जिसको शुभभाव भी दु:खरूप है,ऐसी दृष्टि हुई हो उसकों स्वच्छंदता नहीं होती। पाप के भाव और स्वच्छन्दता के भाव अपने होनेपर भी उन्हें स्वीकार नहीं करनेवाला और अपने को धर्मात्मा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा में अनंत परपदार्थों का अभाव है। तीनकाल-तीनलोक में भी एक तत्त्व (द्रव्य) दूसरे तत्त्व (द्रव्य) का स्पर्श नहीं करता, स्पर्श नहीं किया और स्पर्श नहीं करेगा। आत्मा के भान बिना जंगल में जानेपर भी विकार में पड़ा है। सम्यग्दृष्टि जंगल में हो या घर में हो, तो भी वह सदा जंगल में है; क्योंकि उसको आत्मा का भान वर्तता है।

जैसे दांत की बत्तीसी ठीक लगी हो तो खाने में काम आती है; परन्तु ठीक न हो तो खाने में काम नहीं आती; इसीतरह एक भी बात यथार्थरूप से समझे तो सब बात समझ में आती है, वरना समझ में नहीं आती।

अज्ञानी कहता है कि परद्रव्य के कारण बंधन नहीं होता, तो उससे पूछते हैं कि परद्रव्य का संग करने का भाव किसने किया है? वह तो स्वयं ने किया है। व्यवहार से राग घटाने का पुरुषार्थ नहीं है और बंध नहीं होता-ऐसा जो मानता है वह भ्रष्ट है। धर्मात्मा ऐसा नहीं होता। स्वभाव के आश्रय से राग नहीं घटानेवाले का बुरा ही होता है।

तथा आत्मानुशासन में कहते हैं कि 'तु गुणवान होकर दोष क्यों लगाता है? दोषवान होना था तो दोषमय ही क्यों न हुआ?' इस कथन का मर्म नहीं समझे तो वस्तु स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

अरे धर्मात्मा! मुनि होकर दोष क्यों लगाता है? भाई! तुमको थोड़ा दोष भी शोभा नहीं देता-ऐसा कहने का भाव है। हे गुणवान! तुझे गुणवान रहना हो तो दोष क्यों लगाता है? और तुझे दोषवान होना था तो दोषमय ही क्यों नही हुआ? किंचित भी दोष करने योग्य नही है। उसके लिये यह शिक्षा है। परन्तु कोई अज्ञानी गुणवान के थोड़े दोष को देखकर गुणवान को नीचा दिखावे तो उसका बुरा ही होता है। थोड़ा दोष छुड़ाकर बहुत दोष कराने का हेतु नहीं है।

चन्द्रमा को लक्ष करके कहते हैं कि इतना लांछन रखने की अपेक्षा तो काला होना था; इसीतरह धर्मात्मा को कोई कहता है कि इतना दोष करने की अपेक्षा तो तुझे दोषमय रहना था; परन्तु वहाँ हेतु अधिक दोष कराने का नहीं है। तथापि यह कथन सुनकर पापी जीव गुणवान में दोष निकाले तो यह योग्य नहीं है। अज्ञानी कहता है कि सभी चार-चार घंटे व्याख्यान सुनते हैं, तो क्या किसी ने स्त्री, पुत्रादिक का त्याग किया? इसप्रकार अज्ञानी विपरीत अर्थ निकालता है। व्याख्यान सुननेवाला चार घंटे की निवृत्ति लेकर शुभभाव करता है इतनी उसे जिज्ञासा है। अज्ञानी स्वयं तो इतनी निवृत्ति भी नहीं लेता और स्वयं नीचा न दिखे इसके लिये अन्य की भूल निकालता है, अतः वह मूढ़ है। सर्वदोषमयता की तुलना में किंचित दोषरूप होना बुरा नहीं है; इसलिये मेरे से तो यह भला है ऐसा विचार करना चाहिये।

तथा वहाँ ऐसा कहा कि दोषमय ही क्यों नहीं हुआ? यह तो तर्क किया है; परन्तु यह बात सर्वदोषरूप होने के लिये नहीं कही गई है। दूसरे, जो गुणवान पुरुष को किंचित् दोष होने पर भी निन्दा करता है तो सर्वदोष रहित तो सिद्ध भगवान हैं। समकिती को आत्मा का भान होने पर भी राग आ जाता है परन्तु इससे वह सम्पूर्ण दोषवान है, यह नहीं समझना चाहिये।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो मुनिलिंग धारण करके किंचित परिग्रह रखने पर वह निगोद में जाता है, ऐसा षटपाहुड़ में किसलिए कहा है? यदि थोड़ा दोष हो तो आपत्ति नहीं है, तो फिर मुनि होकर वस्त्र रखे तो निगोद में जाता है- यह क्यों कहा है? यह तो थोड़ा दोष है-ऐसा तर्क अज्ञानी करता है।

उत्तर:- मुनि को आत्मा का भान होता है, तीन कषायों का अभाव हो गया है, वे नग्न दिगम्बर होते हैं। यदि ऐसे न हो और वस्त्र सहित मुनिपना मनावे तो वह मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र रखकर मुनिपना मनाना छोटा दोष नहीं है। वह तो प्रतिज्ञाभंग का महादोष है। मुनि (वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण) मन, वचन, काय से नहीं करते, नही कराते और न अनुमोदन करते हैं -ऐसी प्रतिज्ञा होती है। मुनियों के मात्र मोरपिच्छी और कमण्डलु होता है- ऐसा मुनि (नाम रखकर) किंचित भी परिग्रह रखे तो निगोद में जाता है। यह बात दुनिया को कठिन लगती है। प्रथम सम्यग्दर्शन होने के बाद ही मुनिपना होता है, उनके नौ कोटि से परिग्रह छूट जाता है। ऐसी महाप्रतिज्ञा लेने पर भी उसका भंग करने के कारण निगोद मे जाता है। अत: यह छोटा दोष नहीं है। जैसे उपवास नाम धराकर एक दाना भी भक्षण करना पाप है और एकाशन करनेवाला एक समय भोजन करता है तो जितना राग घटाया उतना पुण्य है। इसलिये जो बड़ी प्रतिज्ञा लेकर उसका भंग करता है वह पापी है। प्रतिज्ञाभंग करना महान दोष है।

धर्मात्मा में जरा सा दोष हो तो ग्रहण नहीं करना, तो फिर मुनि परिग्रह रखे तो निगोद में जाता है यह क्यों कहा? इसके उत्तर में कहते हैं कि मुनि मन-वचन काया से वस्त्र-पात्ररूप परिग्रह रखे, रखावे या रखने का अनुमोदन करे तो नौ कोटि से (परिग्रह का) त्याग नहीं रहता। वस्त्र-पात्र परिग्रह है। छोटा सा रुमाल अथवा लंगोटी रखकर मुनिपना मनानेवाला निगोद में जाता है -ऐसा कहा है। जो शास्त्र वस्त्रसहित मुनिपना मानते-मनाते हैं वे कुशास्त्र हैं। उन शास्त्रकर्ताओं को यथार्थ मुनिपने का पता नहीं है। मुनि के मात्र मोरपिच्छी दया का उपकरण और कमण्डलु शौच का उपकरण तथा पुस्तक ज्ञान का उपकरण होता है। फिर भी वस्त्र सहित मुनिपना मानने- मनानेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। मुनि के पास छड़ी अथवा बेटरी नहीं हो सकती है।

मुनि का ऊँचा पद धारण करके उस पद में असंभवित कार्य करना प्रतिज्ञाभंग है। अज्ञानी को नौ कोटि के त्याग सहित मुनिपने का पता नहीं है। मुनि हिंसा नहीं करते, अध:कर्मी आहार नहीं लेते, झूठ नहीं बोलते, चोरी नही करते, विषय सेवन नहीं करते, परिग्रह नहीं रखते-ये सब कार्य स्वयं नहीं करते, नहीं कराते तथा इनका अनुमोदन भी नही करते । मुनि अन्य के लिये व्यवस्था नहीं कराते। उनके पास एक मोरपिच्छी, कमण्डलु और पुस्तक

के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता । मुनिपना नहीं होनेपर भी मुनिपना मानना प्रतिज्ञा भंग है। जैनधर्म में बड़ी प्रतिज्ञा नही लेने का दंड नहीं है; परन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना दंडनीय है। वैसे जीव के शुभपरिणाम हो तो कदाचित् देव हो जाये; परन्तु वहाँ से तिर्यन्च होकर निगोद में जायेगा। हम साधु हैं ऐसा स्वयं माने और अन्य वस्त्र सहित को साधु मनवावे उसको वास्तविक मुनिपने का परिज्ञान नहीं है। इस दोष मे देव-शास्त्र-गुरु की अशातना होती है, उसको महादोष लगता है, इसलिये वह (परिग्रह युक्त मुनिपना) अनंत संसार का कारण है।

समकिती को कदाचित युद्ध और विषय-वासना के भाव हो तो संभवित गुण-दोष होते हैं। सम्यग्दर्शन और ज्ञान का गुण होता है और विकार आदि का दोष होता है। मै शुद्ध चिदानंद आत्मा हूँ ऐसा भान है और अपनी भूमिकानुसार राग-द्वेष होते हैं। तथापि समकित चला नहीं जाता; इसलिये दोष ग्रहण करना योग्य नही है; परन्तु बड़ी प्रतिज्ञा लेकर भंग करना दोष है।

श्रीमदजी ने कहा है कि:-

लहा स्वरूप न वृत्ति का गृहा व्रत अभिमान।

ग्रहे नहीं परमार्थ को लेने लौकिक मान।।

जो वस्त्र रखता है उसको अंदर से मूर्च्छा होती है और वहाँ मुनिपना नही होता। तथापि वस्त्र धारण करके मुनिपना मानने-मनवानेवाला मिथ्यादृष्टि है और उस मिथ्यात्व का फल निगोद है। सम्यक्त्वी को आराधना का फल क्रमशः सिद्धदशा है और मिथ्यात्व का फल क्रमशः निगोद है। जीव विपरीत मान्यता का पोषण करके निगोद में जाता है। त्रस की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर की है। जिसको सत् असत् का विवेक नहीं है और जो उल्टे सत् का विरोध करता है, वह क्रम से निगोद जानेवाला है। जीव को अपनी अपात्रता के कारण सत्य श्रवण भी रुचता नहीं है।

यहाँ तो उपदेश की पद्धति कैसी होती है यह बता रहे हैं। उपदेशसिद्धांतरत्नमाला में कहा है कि वीतराग की आज्ञानुसार सर्वज्ञ कथित उपदेश के दाता का क्रोध भी क्षमा का भण्डार है। श्रोताओं को समझना चाहिये कि यह हमारे कल्याण के लिये है; परन्तु यह कथन वक्ताओं को ग्रहण करने के लिये नहीं है। अर्थात् श्रोताओं को समझना चाहिये कि यह मेरे लाभ की

बात है, वक्ता का प्रयोजन प्रशस्त है; परन्तु इस कथन से वक्ता क्रोध किया करे तो उसका बुरा ही होता है। कोई बुरा बोले तो भी वक्ता को क्षमा रखना चाहिये। श्रोताओं को समझना चाहिये कि हमारे हित के लिये है। अत: ग्रहण करने योग्य है। वहाँ श्रोता को गुण ही मानना चाहिये। इसीतरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

तथा जैसे किसी को सर्दी हो तो उसे उकाली (गर्म पेय) देते हैं; परन्तु जिसको दाह हो उसको गर्म पेय अनुकूल नहीं होता, अपितु वह उससे दु:ख पाता है। इसीप्रकार किसी को किसी कार्य की अति मुख्यता हो उसके लिये उसके निषेध का अति दृढ़तापूर्वक उपदेश दिया होता है; परन्तु जिसको उस कार्य की मुख्यता नहीं होती वह उस उपदेश को ग्रहण करे तो उसका बुरा ही होता है। कोई सर्वज्ञ कथित समयसारादि शास्त्रों का अभ्यास करता है; परन्तु चौबीसों घंटे उसी में लगा रहता है और ज्ञानानंद आत्मा हूँ, पुण्य-पाप रहित हूँ ऐसी श्रद्धा नहीं करता; तो उससे कहते हैं कि अज्ञानी ग्यारह अंग तक पढ़कर मर गया तो भी धर्म प्राप्त किया -तो इस कथन का हेतु आत्मानुभव कराने का है। भाई! शास्त्राभ्यास भी राग है, पुण्य है, वह धर्म नहीं है। शास्त्र की बातें किया करे; परन्तु शास्त्र का परमार्थ समझकर आत्मा का अनुभव नहीं करे, सम्यग्दर्शन नही करे तो उससे कहते हैं कि शास्त्र पठन से पुण्य होगा, धर्म नहीं होगा। जो शास्त्रवाँचन की अति मुख्यता करता है उससे कहते हैं कि राग से रहित आत्मा की पहचान करना धर्म है, अकेले शास्त्राभ्यास से धर्म नहीं होता। हजारो लोगों में वक्तापना करता हो; परन्तु उससे आत्मा को क्या लाभ है? परन्तु जो शास्त्र का अभ्यास नहीं करता है वह यदि इस उपदेश को सुनकर स्वच्छन्दी होता है तो वह विपरीतबुद्धि है। अथवा अल्प शास्त्राभ्यासवाला (इस उपदेश से छल ग्रहण करके) शास्त्राभ्यास छोड़ दे तो उसका बुरा होता है। इसलिये शास्त्रकार का आशय भलीभांति समझना चाहिये। अखण्डानन्द द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से अनुभव होता है; परन्तु यह सुनकर कोई शास्त्राभ्यास छोड़ दे तो उसका बुरा होता है।

तथा कोई यज्ञ में और स्नान में धर्म मानता हो, तो उससे कहते हैं कि यदि स्नान से धर्म होता हो तब तो मछलियों को भी धर्म होना चाहिये -ऐसा उपदेश देते हैं। पृथ्वी उलट जाए तो भी हिंसा करने से पुण्य नहीं होता; परन्तु भक्ति पूजा में पुण्यभाव है उसे छोड़ दे तो वह यथार्थ नही है। समकिती को भी शुभभाव आये बिना नहीं रहता। परन्तु पूजा आदि में किन्ही

एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा मानकर पूजा छोड़ दे तो उसका बुरा होता है। समकिती समझता है भूमिकानुसार यथायोग्य शुभराग आता है। गायों को हरी घास डालने में किंचित हिंसा है; परन्तु वहाँ (अभिप्राय) अनुकंपा का है। पानी पिलाने में पानी के जीव मरते हैं; परन्तु प्रयोजन अनुकंपा का है; अत: किंचित हिंसा समझकर अनुकंपा को उड़ाना तो भूल है ही, अनुकंपा को धर्म मानना भी भूल है। पूजा, प्रभावना भक्ति आदि में किंचित हिंसा होती है और पुण्य बहुत होता है; परन्तु (किचिंत हिंसा के भय से) पूजादिक भी छोड़ दे और सामायिक में उपयोग न लगाये तो बुरा होता है। अज्ञानी जीव को आत्मा का भान नहीं होने से सामायिक नहीं होती। सम्यक्त्व के बिना सामायिक, प्रौषध आदि नहीं होते। सम्यक्त्व के बिना व्रत नहीं होते। आत्मा शुद्ध चिदानंद है, उसमें उपयोग लगने को धर्म कहते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

सम्यक्त्व प्राप्त करना अपूर्व है। लाखों मनुष्य सस्ते में सामायिक मनाते हैं; परन्तु कोई दस रूपये की वस्तु सात में दे तो समझना चाहिये कि वह वस्तु चोरी की है। इसीप्रकार सस्ते मे सामायिक मानना भूल है। अत: सत्य को यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

तथा जैसे कोई औषधि गुणकारी तो है; परन्तु जबतक उस औषधि से अपना हित हो वहाँतक ही उसका ग्रहण करते हैं। यदि शीत मिटनेपर भी उष्ण औषधि का सेवन किया ही करे तो उल्टा रोग होता है। इसीप्रकार कोई धर्म कार्य तो है; परन्तु जहाँतक अपने को उस धर्म कार्य से हित हो वहाँतक ही उसका ग्रहण करना चाहिये; परन्तु यदि ऊँची दशा होनेपर भी यदि नीची दशा से संबंधी धर्मकार्य के सेवन में लगा ही रहे तो उल्टा बिगाड़ ही होता है। जैसे आत्मा के ज्ञानपूर्वक प्रतिक्रमणादि कार्य में रहे तो वह शुभभाव है; परन्तु आत्मा के अनुभव के समय कहे कि प्रतिक्रमण का समय हो गया इसलिए मुझे प्रतिक्रमण करना चाहिये; तो वह वस्तु स्वरूप को नहीं समझता। निर्विकल्प अनुभव के समय प्रतिक्रमण का राग करने योग्य नहीं है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का प्रतिक्रमण होता है। जिसको मिथ्यात्व से वापस हटना नहीं आता वह अव्रत से पीछे किसतरह हटेगा? आत्मा ज्ञानानंद है, पुण्य-पाप विकार है; जिसको विकार रहित आत्मा का भान नहीं है उसको प्रतिक्रमण नहीं होता।

किसी वेषधारी साधु से पूछा गया कि क्षपक श्रेणी का काल आया हो तब तुम प्रतिक्रमण करोगे या नहीं ? उसने जवाब दिया कि प्रतिक्रमण तो नहीं छोड़ा जा सकता। देखो अज्ञानता ! क्षपक श्रेणी शुद्धता है और प्रतिक्रमण का भाव शुभराग है। शुद्धता को छोड़कर शुभ में आना चाहिये ऐसा माननेवाले को तत्त्व का पता नहीं है।

भावलिंगी संत को भी प्रतिक्रमण का शुभराग आता है; परन्तु वह जहर है- ऐसा वे समझते हैं। अमृत (आत्मानुभव) से च्युत हुआ इसलिए राग आया है; परन्तु जो राग में ही पड़ा रहकर आत्मा का अनुभव नहीं करे तो उसको विवेक नहीं है। इसलिये जहाँ जैसा है वहाँ वैसा यथार्थ समझना चाहिये।

पाप मिटाने के लिए धर्म कार्य कहे हैं। मिथ्यात्व और अव्रत से वापस हटना वह पुण्य कार्य है, उसको धर्म कार्य कहा है। वहाँ धर्म से आशय पुण्य अर्थात् शुभभाव है। ऐसे शुभपरिणाम ज्ञानी को भी आये बिना नही रहते; परन्तु उसी में रुक जाए और शुद्ध उपयोग नहीं करे, तो वह वस्तु स्वरूप को नहीं समझता। स्वरूप के अनुभव के समय जाप जपने का अथवा प्रतिक्रमण करने का शुभभाव नहीं होता। आत्मा का भान होने के पश्चात श्रावक अथवा मुनि को प्रतिक्रमण का शुभराग आता है; परन्तु वह जहर है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। अशुभभाव न हो तब ज्ञानी को भी शुभभाव आता है; परन्तु वह विकार है, धर्म नहीं। इस रहस्य का अज्ञानी को पता नही होने से वह शुभराग को ही धर्म मान बैठा है, जो कि भूल है।

जो स्वरूप में लीन है उसको भक्ति करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु आत्मा के निर्विकल्प अनुभव में नहीं रह सके उसको भक्ति आदि व्यवहार धर्म करने को कहा जाता है।

तथा व्यापार धंधा छोड़कर, स्त्री-परिवार छोड़कर मंदिर या स्वाध्याय भवनादि बनाने में देखरेख रखना और कषाय करना त्यागी के लिये शोभाजनक नहीं है। जो गृहस्थ है वह यदि मंदिर बनाने का शुभभाव करता है तो पुण्य बांधता है; परन्तु जो त्यागी होकर चैत्यालय आदि का अधिकारी हो तो यह कैसे संभव है ? इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

जैसे यदि कोई बुखारवाला पोष्टिक आहार ग्रहण करता है तो महादोष उत्पन्न होता है, वह निरोगी जीव के लिए उपयुक्त है; इसीप्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है; परन्तु अपना विकारभाव दूर न हुआ हो और ऊँचा धर्म ग्रहण करे तो महादोष उत्पन्न होता है।

व्यापारादि का अशुभभाव न छूटा हो और ध्यान में बैठ जाये जो उल्टा विकार बढ़ जाता है। विषय-कषाय के भाव आते हैं और जीव निर्विकल्प दशा में अर्थात पुण्य-पाप रहित रहना चाहता है तो वह कैसे संभव है? दृष्टि का पता नहीं है तो स्थिरता कहाँ से होगी? उसको किसी प्रकार ध्यान नहीं हो सकता। इसलिये उसको शास्त्र स्वाध्याय, सत् समागम करना चाहिये; परन्तु यदि शुभभाव तो नहीं करे और शुद्धभाव हो नहीं तो उसको अशुभभाव आये बिना नहीं रहेंगे।

व्यापारादि का विकल्प न छूटा हो और बाहर से त्यागी हो जाये तो महादोष उत्पन्न होता है। सात प्रतिमा धारण करके व्यापार-धंधे में लग जाना योग्य नहीं है। यदि अशुभ ही नहीं छूटे तो शुद्ध में किसप्रकार जायेगा? शुभ-अशुभभाव से रहित आत्मा का ध्यान करना समता है। जिसे यह पता नहीं हैं और मिथ्यात्व से वापस हटना नहीं आता उसको सामायिक नहीं हो सकती। तथा भोजनादि में अति आसक्ति है और आरंभत्यागरूप धर्म अंगीकार करे, वह दोष है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

इसीप्रकार अन्य उपदेश को भी सच्चे विचार से जानकर अंगीकार करना चाहिये। यहाँ उसका विस्तार कहाँतक करें? सम्यग्ज्ञान होने पर स्वयं को ही यथार्थ भासित होता है। आत्मा क्या, राग क्या, संयोग क्या, निमित्त क्या, इस भेदज्ञान बिना सब व्यर्थ है।

उपदेश तो वचनात्मक है और वचन द्वारा अनेक अर्थ एकसाथ नहीं कहे जा सकते। सम्यग्दर्शन की बात के समय पुण्य को हीन बताते हैं और कोई स्वच्छन्दी होता हो तो कहते हैं कि पाप की अपेक्षा पुण्य ठीक है; परन्तु वह धर्म नहीं है।

वीतरागमार्ग का लक्षण स्याद्वाद है। उपदेश किसप्रकार का है, किसप्रयोजन सहित है और किसको कार्यकारी है -यह विचारकर ग्रहण करना चाहिये। पश्चात वह उपदेश जैसे अपने को कार्यकारी हो उस अनुसार उसको स्वयं अंगीकार करना चाहिये। तथा जो उपदेश जानने योग्य ही हो उसको यथार्थ जान लेना चाहिये। इसप्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करना चाहिये।

पृथ्वी पलटने पर भी हिंसा में धर्म नहीं है -ऐसा भी कथन आता है; तथापि मंदिर बनाने में किंचित (हिंसारूप) पाप लगता है; परन्तु वहाँ शुभभाव विशेष है । तथा गौशाला में घास

डालना अनुकंपा का भाव है। वह अनुकंपा शुभभाव है, उसको पाप नहीं माना जा सकता और धर्म भी नहीं माना जा सकता। अन्य प्राणी को बचाना, गायों को घास डालना, श्वानों को दूध पिलाना, प्यासे को पानी देना- इन भावों को कोई जीव यदि पाप कहता है तो वह भूल है; क्योकि ये भाव पुण्य हैं।

पुण्य रहित आत्मा का भान करना धर्म है। इसप्रकार जहाँ जैसा उपदेश है वैसा ग्रहण करना चाहिये। शास्त्र के कथन की शैली समझना चाहिये। जहाँ तीर्थंकर विचरते हैं वहाँ हजारों मनुष्य, हाथी, घोड़ा आदि जाते हैं तब उनके निमित्त से एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होती है; परन्तु भगवान की भक्ति का शुभभाव होने से वहाँ पुण्य परिणाम कहा है। दीक्षा महोत्सव के समय महोत्सव में एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होनेपर भी उससमय जो शुभभाव है वह पुण्य है। भगवान के दर्शन करने जाते समय भक्ति का जो शुभभाव है वह पुण्य है। इसप्रकार हेतु (प्रयोजन) देखना चाहिये। साधर्मी संग को वात्सल्यभोज का भाव शुभ है। भोजन बनाने में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है; परन्तु हेतु शुभ है, इसलिये पुण्य है।

इसी ग्रंथ में पूर्व में भी आ चुका है कि तीर्थंकर की वंदना के लिए राजा आदि गये, साधु के चरण वंदन के लिए दूर तक जाते हैं तथा शहर में शास्त्र सुनने आते हैं; तब मार्ग में जीव हिंसा होती है; परन्तु भाव वंदना व शास्त्र श्रवण का है; इसलिये पुण्य कहते हैं । साधु का मरण होने पर उसका संस्कार करते हैं, साधु दीक्षा का उत्सव करते हैं- इत्यादि प्रवृति आज भी दिखती है। अब वहाँ भी हिंसा तो होती है; परन्तु वे कार्य तो धर्म के लिये हैं, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। इसप्रकार उपदेश का हेतु समझना चाहिये।

प्रश्नः- यदि अल्प बुद्धिमान इतना विचार नहीं कर सके तो वह क्या करे ?

उत्तरः- जैसे व्यापारी जिसमें लाभ समझता है उसका विचार करता है, उसको नफा नुकसान का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। नफा या नुकसान होना तो पुण्य-पाप के आधीन है; परन्तु विचार तो अवश्य करता है। नुकसान होगा- ऐसा विचारकर व्यापारी व्यापार नहीं करता है। इसीप्रकार विवेकी पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार हित समझे वैसा थोड़ा या बहुत उपदेश ग्रहण करता है। शुभ को छोड़कर अशुभ में जाना नुकसान है और शुद्ध को छोड़कर शुभ में आना भी नुकसान है। पुण्य-पाप रहित आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करना धर्म है।

"मुझे यह कार्यकारी है और यह कार्यकारी नहीं है-इतना ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये।"

आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करके राग घटाना कार्यकारी है, इतना ज्ञान तो होना चाहिये जब आत्मा में लीन नहीं रह सके तब शुभभाव में रहना; परन्तु वह शुभभाव बुखार है, आत्मा की निरोगता का कारण नहीं है। यदि छह माह तक 99 डिग्री बुखार रह जाए तो टी.बी. (क्षयरोग) की शंका हो जाती है। अत: बुखार निरोगता का कारण नहीं हैं। बुखार समान शुभराग की रुचि करने से आत्मा में क्षयरोग लागू पड़ता है। शुभ परिणाम से कभी भी शुद्ध परिणाम नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा का भान करके रागादि घटाना कार्यकारी है। इसमें अनुत्तीर्ण होनेपर कहीं भी अन्त नहीं आता। यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान द्वारा राग-द्वेष घटते हैं। विकार कृत्रिम है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शुभभाव होता है, वह भी श्रद्धा-ज्ञान द्वारा घटाने के लिये है, रखने के लिये नहीं। जैसे व्यापारी को नफा-नुकसान का ज्ञान होना चाहिये; इसीतरह धर्मी जीव को यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान द्वारा राग घटाने का कार्य है। जिसको श्रद्धा में राग की रुचि है उसको तीव्र कषाय का अभिप्राय पड़ा है। उसका राग नहीं घटता है।

शुभ के कारण शुद्ध का कार्य प्रगट हो- ऐसा कभी नहीं होता है। स्वभाव का भान करनेपर शुभभाव पर उपचार (आरोप) आता है; परन्तु वस्तुत: शुभभाव आत्मा के लिये कार्यकारी नहीं है। ज्ञान अधिक न हो तो भी प्रयोजन को नहीं भूलना चाहिये कि वास्तविक श्रद्धा-ज्ञान द्वारा राग घटाना प्रयोजन है। इसमें सावधानी रखना चाहिये। अपने हित को हानि हो, उपदेश का ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये। जो अशुभ घटाने का प्रयत्न करता है; परन्तु शुभाशुभरहित आत्मा का भान करने का प्रयत्न नहीं करता तो उसको हित की हानि होती है। अत: यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान द्वारा राग घटाना चाहिये।

आत्मा में पर और पर में आत्मा नहीं है। शुभ में शुद्ध और शुद्ध में शुभ नहीं है यह स्याद्वाद है -ऐसे श्रद्धा -ज्ञानपूर्वक राग घटाये वह स्याद्वाद दृष्टि है। इस दृष्टि सहित जैन शास्त्रों का अभ्यास करनेपर कल्याण होता है। धर्म निमित्त से भी होता है और आत्मा से भी धर्म होता है- यह स्याद्वाद नहीं, वरन एकान्त है। स्याद्वाद दृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करनेपर स्वयं का कल्याण होता है।

....यहाँ कोई प्रश्न करे- जहाँ अन्य-अन्य प्रकार सम्भवित हों वहाँ तो स्याद्वाद सम्भव है; परन्तु एक ही प्रकार से शास्त्र में परस्पर विरोध भासित हो वहाँ क्या करे? जैसे- प्रथमानुयोग में एक तीर्थंकर के साथ हजारों मोक्ष गये बतलाये हैं; करणानुयोग में छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं- ऐसा नियम कहा है, प्रथमानुयोग में ऐसा कथन किया है कि देव-देवांगना उत्पन्न होकर फिर मरकर साथ ही मनुष्यादि पर्याय में उत्पन्न होते हैं। करणानुयोग में देव की आयु सागरोंप्रमाण और देवांगना की आयु पल्यो-प्रमाण कही । इत्यादि विधि कैसे मिलती है?

उत्तर-- करणानुयोग में जो कथन है वह तो तारतम्य सहित है, और अन्य अनुयोग में कथन प्रयोजनानुसार है; इसलिये करणानुयोग का कथन तो जिस प्रकार किया है उसी प्रकार है; औरों के कथन की जैसे विधि मिले वैसे मिला लेना। हजारों मुनि तीर्थंकर के साथ मोक्ष गये बतलाये, वहाँ यह जानना कि एक ही काल में इतने मोक्ष नहीं गये हैं, परन्तु जहाँ तीर्थंकर गमनादि क्रिया मिटाकर स्थिर हुए, वहाँ उनके साथ इतने मुनि तिष्ठे फिर आगे पीछे मोक्ष गये। इसप्रकार प्रथमानुयोग और करणानुयोगका विरोध दूर होता है। तथा देव-देवांगना साथ उत्पन्न हुए फिर देवांगना ने चयकर बीच मे अन्य पर्याय धारण की, उनका प्रयोजन न जानकर कथन नही किया। फिर वे साथ मनुष्यपर्याय में उत्पन्न हुए। इसप्रकार विधि मिलाने से विरोध दूर होता है। इसीप्रकार अन्यत्र विधि मिला लेना ।

फिर प्रश्न है कि इसप्रकार के कथनों मे भी किसी प्रकार विधि मिलती है। परन्तु कहीं नेमिनाथ स्वामी का सौरीपुर मे कहीं द्वारावती मे जन्म कहा; तथा रामचन्द्रादिक की कथा अन्य -अन्य प्रकार से लिखी है इत्यादि; एकेन्द्रियादिको कहीं सासादन गुणस्थान लिखा कहीं नहीं लिखा इत्यादि; इन कथनों की विधि किसप्रकार मिलेगी?

उत्तरः- इसप्रकार विरोध सहित कथन कालदोष से हुए हैं। इस काल में प्रत्यक्ष ज्ञानी व बहुश्रुतों का तो अभाव हुआ और अल्पबुद्धि ग्रंथ करने के अधिकारी हुए

उनको भ्रम से कोई अर्थ अन्यथा भासित हुआ उसको ऐसे लिखा ; अथवा इस काल मे कितने ही जैनमत मे भी कषायी हुये हैं सो उन्होंने कोई कारण पाकर अन्यथा कथन लिखे। इसप्रकार अन्यथा कथन हुए इसलिये जैनशास्त्रों में विरोध भासित होने लगा।

जहाँ विरोध भाषित हो वहाँ इतना करना कि यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं या यह कथनकरने बहुत प्रामाणिक हैं? ऐसे विचार करके बड़े आचार्यदिकों का कहा हुआ कथन प्रमाण करना। तथा जिनमत के बहुत शास्त्र हैं उनकी आम्नाय मिलाना। जो कथन परम्परा आम्नायसे मिले उस कथन को प्रमाण करना। इसप्रकार विचार करनेपर भी सत्य असत्य का निर्णय न हो सके तो 'जैसे केवली को भासित हुए हैं वैसे प्रमाण है ' ऐसा मान लेना। क्योकि देवादिका व तत्त्वों का निर्धार हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नही है। उसका निर्धार भी हो सकता है, इसलिये कोई उनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आप ही को भासित हो जाएगा। तथा अन्य कथन का निर्धार न हो, या संशयादि रहे, या अन्यथा भी जानपना हो जाये; और केवली का कहा प्रमाण है-ऐसा श्रद्धान रहे तो मोक्षमार्ग मे विघ्न नही है, ऐसा जानना।....

प्रश्नः- जहाँ अन्य-अन्य प्रकार हो वहाँ तो स्याद्वाद संभव है; परन्तु एक ही प्रकार से शास्त्रों में विरुद्धता भासित हो तो वहाँ क्या करें? जैसे कथा में ऐसा आता है कि तीर्थंकर के साथ हजारों मुनि मोक्ष पधारे, जबकि करणानुयोग में छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं, इससे अधिक नहीं जाते-ऐसा कथन है; तो फिर हजारों मुनि किसप्रकार मोक्ष गये? तथा कथा में आता है कि देव-देवांगना उत्पन्न होकर फिर मरण पाकर साथ ही मनुष्यादि पर्याय में उत्पन्न होते हैं, जबकि करणानुयोग में देव की आयु सागरोपम प्रमाण और देवांगना की आयु पल्योपम प्रमाण कही गई है। इत्यादि कथनों की विधि किसप्रकार मिलेगी ?

उत्तरः- समय-समयवर्ती परिणाम को बतलानेवाले शास्त्रों में तो जैसा है वैसा ही कथन किया है, अन्य शास्त्रों में कथन प्रयोजनानुसार है। अतः विधि मिला लेना। जहाँ तीर्थंकर के साथ हजारों मुनि मोक्ष गये बताये हैं वहाँ ऐसा जानना कि एक ही काल में इतने मुनि मोक्ष नहीं

गये; परन्तु जहाँ तीर्थंकर गमनादि क्रिया मिटाकर स्थिर हुए वहाँ उनके साथ इतने मुनि बैठे थे और मोक्ष तो आगे पीछे गये हैं। इसप्रकार प्रथमानुयोग और करणानुयोग के कथनों का विरोध दूर होता है। तथा देव-देवांगना साथ उत्पन्न होकर फिर देवी अन्य भव करते-करते रानी हुई, बीच के भवों को नहीं गिना और बाद में वे साथ ही मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुए-यह कथन किया है। इसप्रकार विधि मिलाने से विरोध दूर होता है। इसीप्रकार अन्य विधि भी मिला लेनी चाहिये।

प्रश्न:- ऐसे कथनों में तो किसी प्रकार विधि मिलती है, परन्तु दूसरा विरोध आता है कि कहीं तो नेमिनाथ स्वामी का जन्म शोरीपुर में तथा कहीं द्वारिका में कहा है। रामचंद्र जी की कथा भी अलग-अलग प्रकार से लिखी है। तथा कहीं एकेन्द्रियादि को सासादन गुणस्थान होना लिखा है और कहीं नहीं लिखा है अब इन कथनों की विधि किसप्रकार मिलेगी।

उत्तर:- ये विरोध सहित कथन कालदोष से हुए हैं। इस काल में केवलज्ञानी या अवधिज्ञानी नहीं हैं और न बारहअंग के ज्ञाता हैं। छद्मस्थ, अल्पबुद्धि ग्रंथ करने के अधिकारी हुए हैं और उन्हे बुद्धि की भूल से कोई अर्थ अन्यथा भासित हुआ तो उसे उसी प्रकार लिखते हैं। अथवा इस काल में जैनमत में भी कोई कषायी हुए हैं। उन्होंने कोई कारण पाकर अन्यथा कथन लिखा है -इसकारण जैन शास्त्रों में भी विरोध भासित होने लगा है। अब विरोध भासित हो वहाँ इतना करना चाहिये कि यह कथन करनेवाल अधिक प्रमाणिक है या यह कथन करनेवाले। वीतराग देव के शास्त्र बहुत हैं उनकी आम्नाय को मिलाकर यदि परम्परा से आम्नाय मिलती है तो उस कथन को प्रमाण करना और साधारण (अप्रयोजनभूत) बात में निर्णय न हो सके तो केवली को भासित हुआ वह प्रमाण है ऐसा मान लेना। अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र कैसे हैं उनका निर्णय किया जा सकता है। कारण कि उनका कथन सर्वत्र सुलभ है। कोई केवली को रोग और मुनि को वस्त्र कहे तो यह बात मिथ्या है। अरहन्त परमात्मा की वाणी वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को बतलानेवाली है। इसप्रकार देव शास्त्र-गुरु के निर्णय में किसी शास्त्र में अंतर नहीं है। तथा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान करना है इसके बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र नहीं होते हैं। समस्त शास्त्रों का आशय एक ही है। भगवान के दर्शन व ज्ञान उपयोग दोनों एक समय में है, उनमें छद्मस्थ की तरह क्रम नहीं है।

भगवान आहार नहीं लेते है। रागादि रहित परिणति अहिंसा है। इसप्रकार देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय हो सकता है। यदि उनका स्वरूप विपरीत कहा जाता है तो ख्याल में आ जाता है। वस्त्र सहित मुनिपना मनावे, पुण्य से धर्म मनावे तो उसकी विपरीतता अपने को भाषित हो जाती है। इनके निर्णय बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता । इस विषय में सनातन जैन शास्त्रों में कहीं विरोध नहीं है। यह एक ही वीतरागमार्ग है, इसमें विरुद्धता होवे तो ख्याल में आ जाता है; परन्तु साधारण बात का ख्याल में नहीं आता। जैसे कि नेमिनाथ भगवान का जन्म शोरीपुर में हो या अन्यत्र इसका पता नहीं चले तो मोक्षमार्ग में कोई विघ्न नहीं आता। अप्रयोजनभूत बात में संशय रहे अथवा अन्यथा जानपना हो, परन्तु जो केवली ने कहा वह प्रमाण मान ले तो मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं है; परन्तु प्रयोजनभूत बात में अन्तर नहीं चलता। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप में फेरफार माने और वस्त्र सहित मुनिपना माने तो मूल में भूल है। इस बात में वीतराग के किसी शास्त्र में विरोध नहीं है।

....यहाँ कोई तर्क करे कि जैसे नाना प्रकार के कथन जिनमत में कहे हैं वैसे अन्यमत मे भी कथन पाये जाते हैं। सो अपने मत के कथन का तो तुमने जिस-तिस प्रकार स्थापन किया और अन्यमत में ऐसे कथनों को तुम दोष लगाते हो? यह तो तुम्हें राग-द्वेष है?

समाधानः- कथन तो नाना प्रकार के हों और एक ही प्रयोजन का पोषण करे तो कोई दोष है नहीं, परन्तु कहीं किसी प्रयोजन का और कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करे तो दोष ही है। अब, जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिये कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिये जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है। और अन्यमत मे कहीं रागादि मिटाने के प्रयोजन सहित कथन करते हैं, कहीं रागादि बढ़ाने के प्रयोजन सहित कथन करते हैं; इसीप्रकार अन्य भी प्रयोजन की विरुद्धता सहित कथन करते हैं, इसलिये अन्यमत का कथन सदोष है। लोक में भी एक प्रयोजन का पोषण करनेवाले नाना कथन कहे उसे प्रमाणिक कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजन का पोषण करनेवाली बात करे उसे बावला कहते हैं।....

शंका– जैसे तुमने वीतराग की आज्ञानुसार अनेक प्रकार के कथन कहे, इसी तरह अन्यमत में भी अलग-अलग पद्धति होती है। अब तुम अपने मत की तो स्थापना करते हो और अन्यमत के शास्त्रों में दोष निकालते हो यह तो तुमको राग-द्वेष है।

समाधानः– कथन अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु आत्मा की वीतरागदशा के पोषक और राग-द्वेष के अभावरूप एक ही प्रयोजन के पोषक हों तो कोई दोष नहीं है। परन्तु अन्यमत में कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करते हैं और कहीं उससे विपरीत अन्य प्रयोजन का पोषण करते हैं, यह दोष है। जबकि वीतरागमार्ग में परद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि, इष्टानिष्टबुद्धि मिटाने का प्रयोजन है। बहुत राग छुड़ाकर अल्पराग कराने का प्रयोजन है। (राग बढ़ाने का प्रयोजन नहीं है।) जहाँ स्वभाव के भान सहित भक्ति आदि करने का उपदेश किया है वहाँ अशुभराग घटाने का प्रयोजन है। धर्मी को भान है कि आत्मस्वभाव में राग नहीं है इसलिये राग करने योग्य नहीं है। इसप्रकार आत्मभानपूर्वक राग घटाने का उपदेश है और कहीं सर्व रागादि के मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है। अर्थात् शुभरागादि छोड़कर शुद्ध में रहने का उपदेश है; परन्तु राग कराने का प्रयोजन कहीं नहीं है।

आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है ऐसी दृष्टि कर! आत्मस्वभाव में स्थिर न रह सके तब शुभभाव आता है; परन्तु वहाँ अशुभराग छुड़ाने का प्रयोजन है और कहीं शुभ-अशुभ दोनों को छुड़ाने का प्रयोजन है; परन्तु कहीं भी राग के पोषण का प्रयोजन नहीं है। इसलिये जिनमत के समस्त कथन निर्दोष हैं। अन्यमत में कहीं रागादि मिटाने के प्रयोजन का तो कहीं रागादि बढ़ाने के प्रयोजन का पोषण करते हैं। इसीप्रकार अन्य भी प्रयोजन की विरूद्धता सहित कथन करते हैं, इसलिये अन्यमत के कथन सदोष हैं। लोक में भी एक ही प्रयोजन के पोषक अलग-अलग वचन कहनेवाले को तो प्रमाणिक कहते हैं; परन्तु अन्य-अन्य प्रयोजन पोषने वाले को मूर्ख कहते हैं।

....तथा जिनमत में नानाप्रकार के कथन हैं सो भिन्न-भिन्न अपेक्षा सहित हैं वहाँ दोष नहीं है। जैसे- जिनदेव के वीतरागभाव है और समवसरणादि विभूति भी पायी जाती है, वहाँ विरोध नहीं है, समवसरणादि विभूतिकी रचना इन्द्रादिक करते हैं, उनको उसमें रागादिक नहीं है, इसलिये दोनों बातें सम्भवित हैं। और अन्यमत में

ईश्वर को साक्षीभूत वीतराग भी कहते हैं तथा उसही के द्वारा किये गये काम-क्रोधादिभाव निरूपित करते हैं, सो एक आत्मा को ही वीतरागपना और काम-क्रोधादि भाव कैसे सम्भवित हैं? इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कालदोष से जिनमत में एक ही प्रकार से कोई कथन विरुद्ध लिखे हैं, सो यह तुच्छबुद्धियों की भूल है, कुछ मत में दोष नहीं है। वहाँ भी जिनमत का अतिशय इतना है कि प्रमाणविरूद्ध कथन कोई नहीं कर सकता। कहीं सौरीपुर में, कहीं द्वारावती में नेमिनाथ स्वामी का जन्म लिखा है; सो कहीं भी हो, परन्तु नगर में जन्म होना प्रमाण विरूद्ध नहीं है, आज भी होते दिखायी देते हैं।

तथा अन्यमत में सर्वज्ञादिक यथार्थ ज्ञानियों के रचे हुए ग्रन्थ बतलाते हैं, परन्तु उनमें परस्पर विरुद्धता भासित होती है। कहीं तो बालब्रह्मचारी की प्रशंसा करते हैं, कहीं कहते हैं- 'पुत्र बिना गति नहीं होती' - सो दोनों सच्चे कैसे हों? ऐसे कथन वहाँ बहुत पाये जाते हैं। तथा उनमें प्रमाणविरुद्ध कथन पाये जाते हैं। जैसे - 'मुख में वीर्य गिरने से मछली के पुत्र हुआ', सो ऐसा इस काल में किसी के होता दिखायी नहीं देता, और अनुमान से भी नहीं मिलता- ऐसे कथन भी बहुत पाये जाते हैं। यदि यहाँ सर्वज्ञादिक की भूल मानें तो वे कैसे भूलेंगे? और विरुद्ध कथन मानने में नहीं आता; इसलिये उनके मत में दोष ठहराते हैं। ऐसा जानकर एक जिनमत का ही उपदेश ग्रहण करने योग्य है।....

जिनमत में अनेक प्रकार की कथन पद्धति है वह अपेक्षा सहित है। भगवान की पूजा करने को कहा हो वहाँ अशुभराग छुड़ाने का प्रयोजन है। तथा किसी समय कहते हैं कि मूर्ति पत्थर है, वहाँ तेरा धर्म नहीं है, धर्म तो आत्मा में है- तो इस कथन का आशय शुभराग का अभाव करके शुद्धता प्रगट कराने का है। जिनदेव वीतराग हैं। उनके समवसरणादि होते हैं, उनकी रचना इंद्र करते हैं; परन्तु भगवान को उनमें राग नहीं होता, इसलिये विरोध नहीं है। अन्यमत में परमेश्वर को सर्वज्ञ कहते हैं और उसी को युद्धादि करना कहते हैं, काम-क्रोधादि वाला कहते हैं -यह बात सन्तुलित नहीं है। तथा कोई जैन के नाम से भी भगवान को केवली भी कहते हैं और आहारादि का ग्रहण करना भी कहते हैं। सो यह तो राग की क्रिया हुई। यह

तो पूर्वापर विरोधवाला कथन हुआ। भगवान का स्वरूप ऐसा नहीं है। अन्यमत में ईश्वर को भगवान कहते हैं और फिर रागी कहते हैं; वे स्त्री संग करते हैं- तो यह सब बेमेल बातें हैं। एक ही आत्मा को वीतरागपना और काम-क्रोधपना दोनों एकसाथ संभव नहीं है। केवली भगवान उपयोग पूर्वक चलते हैं, भगवान मुनियों को नमस्कार करते हैं, तीर्थ को वंदन करते हैं -ये सब पूर्वापर विरोध वाली बातें हैं। भगवान को अनंत आनंद का अनुभव वर्तता है। उनको राग की क्रिया नहीं होती। भगवान को राग की क्रिया बतानेवाला वीतरागमार्ग को नहीं जानता। एक ही आत्मा में वीतरागपना तथा काम-क्रोधादि संभव नहीं है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

कालदोष से जिनमत में भी कोई कथन विरुद्ध लगते हैं वह तो अल्पज्ञानियों की भूल है; परन्तु मत में दोष नहीं है। वहाँ भी जिनमत का इतना तो अतिशय है कि प्रमाण विरुद्ध कथन कोई नहीं कर सकता। श्री नेमिनाथ भगवान का जन्म शोरीपुर में कहा हो या द्वारिका में कहा तो वह कही भी हुआ हो, परन्तु नगर में जन्म होना प्रमाण विरूद्ध नहीं है, आज भी होता देखने में आता है। जबकि अन्यमत में सर्वज्ञादि यथार्थ ज्ञानी के कथित ग्रंथ बताते हैं। वहाँ परस्पर विरुद्धता सहित कथन है।

कहीं बाल ब्रह्मचारी की प्रशंसा करते हैं और कहीं कहते हैं कि पुत्र के बिना अच्छी गति नहीं होती- इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध है; अत: दोनो कथन सत्य नहीं हो सकते। वहाँ इसप्रकार के कथन बहुत देखने में आते हैं। मुख में वीर्य पड़ने से मछली के पुत्र हुआ कहते है, तथा हनुमान को वायुपुत्र कहते हैं, वायु के कारण अंजना के पुत्र हुआ कहते हैं। इस काल में ऐसा होता देखने में नहीं आता, अनुमान से भी नहीं मिलता। इसलिये उनके मत में दोष सिद्ध करते हैं। ऐसा जानकर एक जिनमत का ही उपदेश ग्रहण करना योग्य है।

जैन के नाम से शास्त्र में कहते हैं कि अमुक जीव दया के राग से संसार से पार हुआ और कहीं स्वभाव के आश्रय से संसार से पार होना कहते हैं- तो ये दोनो बातें परस्पर विरूद्ध है। वे (श्वेताम्बर) कहते हैं कि खरगोश की दया पालने के शुभराग से संसार से पार हुआ तथा मुनि को आहारदान देने से संसार घटता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। ऐसा कहने वाले संवर-निर्जरा तत्त्व के स्वरूप को समझते ही नहीं हैं। एक ओर केवली को रागरहित कहते

हैं और दूसरी ओर राग वाला ठहराते हैं यह विरोधी बात है। तथा छठवें सातवें गुणस्थानवाले मुनि दस-दस कम्बल आदि लाते हैं -ऐसा कथन वस्तुस्वरूप से विपरीत है। वीतरागमार्ग में ऐसा पूर्वापर विरोध नहीं होता। इसलिये परीक्षा करना चाहिये। अभी तो बहुत फेरफार हो गया है।

जीव तीव्रराग नहीं करे तो पाप कम होता है; परन्तु मिथ्यात्व का पाप महान है। देह की क्रिया और मंदराग में धर्म मानना मिथ्यात्व है।

अनुयोगों का अभ्यास क्रम

....वहाँ प्रथमानुयोगादिक का अभ्यास करना। पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना ऐसा नियम नहीं है, परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर जिसके अभ्यास से अपनी धर्म में प्रवृत्ति हो उसी का अभ्यास करे। तथा जैसे-रोजनामचे में तो अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनकी खाते में ठीक खतौनी करे तो लेन-देन का निश्चय हो; उसी प्रकार शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने तो हित-अहित का निश्चय हो।

इसलिये स्यात्पद की सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचन में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है, आगमज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हे भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। तुम्हारा कल्याण होगा।....

प्रथमानुयोगादि का अभ्यास करना कहा वहाँ, पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका अभ्यास करना -ऐसा नियम नहीं है; परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर अपने में धर्मप्रवृति हो वैसा करना। किसी समय किसी शास्त्र का तथा किसी समय किसी शास्त्र का अभ्यास करना। जैसे रोजनामचे में तो अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी हैं; परन्तु उनकी खतौनी बराबर करे तो लेन-देन का निश्चय होता है। इसीप्रकार वीतरागभाव को वीतरागभाव के खाते में, राग को राग के खाते में, उपादान को उपादान के खाते में डालना चाहिये। अज्ञानी जीव राग से धर्म मानता है, निमित्त की खतौनी उपदान में करता है वह भूल है। जैसे व्यापार में एक ग्राहक के रुपये जमा करने के बदले दूसरे के रुपये जमा करे दे तो भूल होती है।

कौनसा खाता लाभ-हानि का है इसका पता न हो तो भूल होती है। इसीप्रकार शास्त्र में अनेक प्रकार का उपदेश है। उसको सम्यग्ज्ञान के द्वारा भलीभांति पहिचाने तो हित-अहित का निर्णय होता है। पूर्ण स्वतंत्र वीतराग की प्रतीति करना मोक्षमार्ग है। राग और निमित्त की अपेक्षा करना सच्चा मार्ग नहीं है। स्याद्वाद से जिनवाणी के कथनों को समझना चाहिये। जो स्यात् पद की अपेक्षा से ज्ञान द्वारा जिनवचन के न्याय में रमता है वह जीव थोड़े ही समय में शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है। आगमज्ञान के बिना धर्म का अन्य साधन नहीं होता है। वीतराग की वाणी को आगम कहते हैं। इसलिये तुमको भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना चाहिये। शास्त्र की परीक्षा करनी चाहिये और यथार्थ युक्ति द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

****

इस प्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित

मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें

(उपदेश का स्वरूप)

अधिकार पर दि. 30.4.53 से 2.6.53 तक हुए

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के

मार्मिक प्रवचनों का

तथा दि. 20.12.53 से 14.1.54 तक हुए प्रवचनांशों का

हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट–1

शास्त्राभ्यास की महिमा

हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द या अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं, वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना, यदि सर्वशास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने उसका ही अभ्यास करना; परन्तु अभ्यास में आलसी न होना।

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षरूपफल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं–

(1) क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है।

(2) पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।

(3) अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।

(4) हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।

(5) स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीनकाल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।

(6) हेय-उपादेय की पहचान होती है।

(7) आत्मज्ञान सन्मुख होता है अर्थात् ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।

(8) अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।

(9) लोक में महिमा-यश विशेष होता है।

(10) सातिशय पुण्य का बंध होता है।

सो इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

तथा हे भव्य! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है; कैसे सो कहते हैं।

एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यंत जीवों को मन नहीं और नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है। सो मनुष्यपर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महादुर्लभ है।

वहाँ द्रव्य से तो लोक में मनुष्यजीव बहुत अल्प हैं, तुच्छ संख्यात-मात्र ही हैं, और अन्य जीवों से निगोदिया अनन्त हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं।

तथा क्षेत्र से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीप मात्र ही है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है, दूसरों का कितने ही राजू प्रमाण है।

और काल से मनुष्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है, कर्मभूमि-अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्याय में उत्कृट रहने का काल-एकेन्द्रिय में तो असंख्यात पुद्गल-परावर्तनमात्र और अन्यों में संख्यात पल्यमात्र है।

भाव अपेक्षा तीव्र शुभाशुभपने से रहित ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणरूप परिणाम होने अतिदुर्लभ हैं। अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप या शुभरूप होने सुलभ हैं। अशुभरूप व शुभरूप परिणाम होना दुर्लभ हैं।

इसप्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्यपर्याय उसका दुर्लभपना जानना।

प्रस्तावना, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

पण्डितप्रवर टोडरमल

परिशिष्ट-2

शास्त्राभ्यास से प्रभावना

इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं; इसलिए प्रयोजन मात्र अभ्यास करना, शास्त्रों का तो पार है नहीं। और सुन! कुछ जीव व्याकरणादि के बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषाशास्त्रों के द्वारा व उपदेश सुनकर तथा सीखने से तो तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं और कई जीव केवल व्याकरणादि के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं -ऐसा भी देखा जाता है।

सुन! व्याकरणादि का अभ्यास करने से पुण्य नहीं होता; किन्तु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य होता है तथा तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उत्पन्न होता है; इसलिये भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना। इसप्रकार शब्द शास्त्रादिक के पक्षपाती को सन्मुख किया।

अब अर्थ का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है? सर्व कार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है, धनवान के निकट अनेक पण्डित आकर रहते हैं। अन्य भी सर्वकार्यों की सिद्धि होती है। अत: धन पैदा करने का उद्यम करना।

उसको कहते हैं -अरे पापी! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो होता नहीं, भाग्य से होता है। ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है। यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा? अगर नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा? इसलिये धन का होना न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है? और सुन! धन है वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है।

जो यह शास्त्राभ्यास का ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगता है और तू पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन पैदा करने की बढ़ाई करता है, तो तू अनन्त संसारी है।

तूने कहा कि प्रभावनादि धर्म भी धन से होता है; किन्तु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित सावद्यक्रिया संयुक्त है; इसलिये समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है। यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्मसाधन थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिये लगते हैं?

शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादि भी विशेष होती है।

प्रस्तावना, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

पण्डितप्रवर टोडरमल

नौवाँ अधिकार
मोक्षमार्ग का स्वरूप

दोहा- शिव उपाय करते प्रथम, कारण मंगलरूप।
विघन विनाशक सुखकरन, नमौ शुद्ध शिवभूप।।

आत्मा शुद्ध सिद्धसमान है, उसकी दशा में पूर्ण शुद्धता होना शिव (मोक्ष) है, उसमें कोई उपद्रव नहीं है। शिवउपाय अथवा मोक्षमार्ग बतलाने के पूर्व मंगलरूप कारण को नमन करते हैं। आत्मा की पूर्व शुद्ध आनंददशा विघ्नविनाशक है। मेरा स्वरूप सिद्ध समान है-ऐसा मानने पर विघ्न का नाश होता है और वह सुख का कारण है। नमस्कार हो ऐसे मोक्षमार्ग के राजा को अर्थात सिद्ध भगवान को।

....अब, मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं। प्रथम मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी जो मिथ्यादर्शनादिक उनका स्वरूप बतलाया -उन्हें तो दु:खरूप, दु:ख का कारण जानकर, हेय मानकर उनका त्याग करना। तथा बीच में उपदेश का स्वरूप बतलाया उसे जानकर उपदेश को यथार्थ समझना। अब, मोक्ष के मार्ग जो सम्यग्दर्शनादिक उनका स्वरूप बतलाते हैं- उन्हे सुखरूप, सुख का कारण जानकर, उपादेय मानकर अंगीकार करना; क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष ही है; उसी का उपाय आत्मा का कर्त्तव्य है; इसलिये उसी का उपदेश यहाँ देते हैं।....

आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। इसके विरोधी- विपरीत (मिथ्या) श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र किसको कहना-यह बात पूर्व में आ गयी है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा, ज्ञान और उसरूप आचरण वह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है और दु:खरूप है। आत्मस्वभाव से विपरीत जितने भी भाव हैं वे दु:खरूप हैं और भविष्य

में दु:ख के कारणरूप हैं। सर्वज्ञ कथित तत्त्व के अतिरिक्त अन्य के कल्पित तत्त्वों की मान्यता आदि करना दु:खस्वरूप है और दु:ख का कारण है। उन्हें दु:खरूप जानकर हेय मानना चाहिये। तत्त्व से विपरीत मान्यतावाले, व्यवहार से धर्म माननेवाले, इन सबको दु:ख के कारण जानना चाहिये। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चरित्र छोड़ने योग्य है- ऐसा मानकर उनका त्याग करना चाहिये। प्रथम, मोक्षमार्ग से विपरीत (मिथ्यादर्शनादि) की बात की; अब मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं। निश्चय को निश्चय, राग को राग, और आत्मा के स्वभाव को शुद्ध समझना चाहिये। इसप्रकार उपदेश को यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा की श्रद्धा करना, ज्ञान करना और आचरण करना सुखरूप है। अज्ञानी जीव इसमें खेद मानता है-यह संवर तत्त्व संबंधी भूल है। अज्ञानी चरित्र को दु:खदायक मानता है। वह कहता है कि "एक बार उघाड़े पैर चलो, गर्म पानी पीओ, केशलौंच करो, उपवासादि करो, साधुपना लो तो चारित्र के दु:ख (कष्ट) का पता पड़े!" उसको चारित्र में अरुचि आती है। चारित्र में अर्थात् रागरहित दशा में आनंद होना चाहिये, उसके बदले अज्ञानी को खेद होता है। आत्मा शुद्ध चिदानंद है, उसमें सहज आनंद आना चारित्र है। उसको सुखरूप जानना चाहिये। शुद्ध आत्मा का भान होने पर अमृत के झरने में (अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में) लीनता होने को उपवास कहते हैं, शेष अपवास है। आत्मा के आनंद में उग्रदशा वृद्धिगत होना तप है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग को सुखरूप जानकर उसको अंगीकार करना चाहिये।

यहाँ मोक्षमार्ग को उपादेय कहा है। द्रव्य की बात करते हों तब आत्मद्रव्य को उपादेय कहते है, परन्तु यहाँ निमित्त और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को हेय कहा है; इसलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र को उपादेय कहा है।

आज यहाँ (सोनगढ़ में) समवसरण मंदिर के निर्माण को ग्यारवाँ वर्ष पूरा होकर बारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। भगवान के समवसरण में दिव्यध्वनि में मोक्षमार्ग का उपदेश आया है। इन्द्र समवसरण की रचना करते हैं वह अलौकिक है। समवसरण में चारों ओर चार स्वर्णमयी मानस्तंभ होते हैं, वे धर्म का वैभव बतलाते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भावलिंगी संत थे, वे संदेह महाविदेह में गये थे और आठ दिन तक वहाँ रहे थे और वहाँ से आकर उन्होने समयसारादि ग्रंथों की रचना की है।

मोक्षमार्ग को यथार्थरूप से समझनेवाले का मोक्ष हुए बिना नहीं रहता है। इसलिये अंतर के मोक्षमार्ग को उपादेय मानकर उसको अंगीकार करना चाहिये।

आत्मा का परमहित मोक्ष ही है। स्वतंत्र परिपूर्ण शुद्धदशा प्रगट करना ही आत्मा का हित है, इसलिये उसका ही उपाय कर्त्तव्य है। निमित्त को लाना और पुण्य करना कर्त्तव्य नहीं है। आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान और रमणता यह एक ही कर्त्तव्य है। साधकदशा में शुभभाव आते हैं; परन्तु वे आदरणीय नहीं हैं। इसलिये यहाँ मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

मोक्ष ही हित है- ऐसे निर्णय के बिना जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय नहीं कर सकता है।

अज्ञानी तो आत्मा के भान बिना अज्ञानपने में दीक्षा ले लेता है। इसीलिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि-

सब साधन बंधन हुए, रहा न कोई उपाय।

सत् साधन समझा नही, वहाँ बंधन क्या जाय?

जो निवृति के साधन लिये वे बंधनरूप हो गये हैं, इसकारण सत्य बात सुनने का प्रसंग भी नहीं मिलता है।

आत्मा का हित मोक्ष ही है

....वहाँ आत्मा का हित मोक्ष ही है, अन्य नहीं; ऐसा निश्चय किसप्रकार होता है सो कहते हैं।

आत्मा के नानाप्रकार गुण-पर्यायरूप अवस्थाएँ पायी जाती है; उनमें अन्य तो कोई अवस्था हो, आत्मा का कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; एक दु:ख-सुख अवस्था से बिगाड़-सुधार है। यहाँ कुछ हेतु-दृष्टान्त नहीं चाहिये; प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रतिभासित होता है।

लोक में जितने आत्मा हैं उनके एक उपाय यह पाया जाता है कि दु:ख न हो, सुख हो; तथा अन्य भी जितने उपाय करते हैं वे सब एक इसी प्रयोजन सहित करते हैं, दूसरा प्रयोजन नहीं है। जिनके निमित्त से दु:ख होता जानें उनको दूर करने का उपाय करते हैं, और जिनके निमित्त से सुख होता जानें उनके होने का उपाय करते हैं।

तथा संकोच-विस्तार आदि अवस्था भी आत्मा के ही होती है, व अनेक परद्रव्यों का भी संयोग मिलता है; परन्तु जिनसे सुख-दुःख होता न जाने, उनके दूर करने का व होने का कुछ भी उपाय कोई नहीं करता।

सो यहाँ आत्मद्रव्य का ऐसा ही स्वभाव जानना। और तो सर्व अवस्थाओं को सह सकता है, एक दुःख को नहीं सह सकता। परवशता से दुःख हो तो यह क्या करे, उसे भोगता है; परन्तु स्ववशता से तो किंचित् भी दुःख को सहन नहीं करता। तथा संकोच विस्तारादि अवस्था जैसी हो वैसी होओ, उसे स्ववशता से भी भोगता है; वहाँ स्वभाव में तर्क नहीं है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव जानना।

देखो, दुःखी हो तब सोना चाहता है; वहाँ सोने में ज्ञानादिक मन्द हो जाते हैं, परन्तु जड़ सरीखा भी होकर दुःख को दूर करना चाहता है। तथा मरना चाहता है; वहाँ मरने में अपना नाश मानता है, परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी दुःख दूर करना चाहता है। इसलिये एक दुःखरूप पर्याय का अभाव करना ही इसका कर्त्तव्य है।....

आत्मा का हित मोक्ष ही है, अन्य नहीं-ऐसा निर्णय किसप्रकार होता है वह कहते हैं।

आत्मा द्रव्य है। ज्ञान,दर्शन,चारित्र आदि उसके गुण हैं और प्रतिसमय उनकी पर्याय होती है -इसप्रकार तीन (द्रव्य-गुण-पर्याय) वस्तु है। अब इनमें व्यंजनपर्याय छोटी हो या बड़ी उससे कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है, परन्तु एक सुख-दुःखरूप अवस्था से सुधार-बिगाड़ है।

सम्यग्दृष्टि को सातवें नरक की अवस्था में सम्यग्दर्शनादि हैं उतना सुख है और जितने राग-द्वेष शेष हैं उतना दुःख है। नरक का क्षेत्र दुःखरूप नहीं है, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दुःखरूप है, उनसे बिगाड़ है। अनुकूल निमित्त सुखरूप और प्रतिकूल निमित्त दुःखरूप है -ऐसी मान्यता बिगाड़रूप है। अज्ञानी समवसरण में बैठा हो तो भी वहाँ मिथ्यादर्शनादि से दुःखी है। जीव को एकेन्द्रिय शरीर मिला है वह दुःखरूप नहीं है। आलू के जीव उबलते हुए तेल में पड़ते हैं वह (संयोग) दुःखरूप नहीं है; परन्तु वहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दुःखरूप है। उनके आत्मा की अवस्था विकाररूप परिणमति है वह दुःखरूप है। बाह्य कैसे भी संयोग हों, संकोच विस्तार कैसा भी हो, उनसे दुःख नहीं हैं; परन्तु दुःख-सुखरूप अवस्था से बिगाड़-सुधार है। अर्थात् मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-आचरण से दुःख और सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान आचरण से सुख है।

सातवें नरक में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों हैं। वहाँ दोनों के संयोग भी समान हैं, तथापि सम्यग्दर्शन सुखरूप भाव है और मिथ्यादर्शन दु:खरूप भाव है। देवलोक में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों हैं। वहाँ दोनों के संयोग समान अनुकूल है, तथापि मिथ्यादृष्टि दु:खी और सम्यग्दृष्टि आंशिक सुखी है। यहाँ कुछ भी हेतु दृष्टान्त नहीं चाहिये, प्रत्यक्ष ऐसा ही भासित होता है।

जीव सुख को चाहता है; परन्तु सुख के कारण को नहीं चाहता और दु:ख को नहीं चाहता; परन्तु दु:ख के कारण में निरंतर रचा-पचा रहता है। लोक में जितनें आत्मा हैं उनके यह एक ही उपाय देखने मे आता है कि हमें दु:ख न हो और सुख ही हो। वे अन्य भी जितने उपाय करते हैं वे सब एकमात्र इसी प्रयोजन के लिये करते हैं।

जहर पीते हैं तो सुख के लिये, खाते हैं तो सुख के लिये, जगते हैं तो सुख के लिये, बोलते हैं तो सुख के लिये -इसप्रकार सारे जगत का (जगत जीवों का) प्रयोजन सुख है; परन्तु वे सुख के उपाय को नहीं जानते हैं। अन्य की हीनता करके अपनी उच्चता करना ही उपाय मानते हैं और इसी प्रयोजन के लिये सर्व उपाय करते हैं। इसप्रकार जीव को सुख तो चाहिये; परन्तु सुख कहाँ है इसका पता नहीं है।

लोग जिसके निमित्त से दुख होतो जानें, उसको दूर करने का उपाय करते हैं तथा जिसके निमित्त से सुख होता जानें, उसको बनाये रखने का उपाय करते हैं। देखो! जिस पैसे (धन) को सुख का निमित्त जाना था, यदि उसी के कारण मरण होता जाने तो उसको दु:ख का निमित्त मानते हैं; परन्तु वस्तुत: वह दुख या सुख का कारण नहीं है, मात्र कल्पना से मानते हैं। किसी समय सगे पुत्र को दु:ख का निमित्त जानें तो उसको दूर करना चाहते हैं, स्त्री प्रतिकूल वर्ते तो दूर करना चाहते हैं -इसप्रकार जिसको दु:ख का निमित्त जानें उसको दूर करना चाहते हैं और जिसको सुख का निमित्त जानें उसको रखना चाहते हैं।

तथा शरीर छोटा-बड़ा होने पर आत्मा छोटा-बड़ा (आकाररूप) होता है। स्वयंभूरमण समुद्र में हजार योजन विस्तारवाला मच्छ होता है। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, वह (आकार अपेक्षा) छोटा- बड़ा होता है। उसको अनेक संयोग मिलते हैं; परन्तु जिनसे सुख-दु:ख होता न जानें उन्हें रखने अथवा दूर करने का कुछ भी उपाय कोई भी नहीं करता। अपना आकार छोटा या बड़ा हो तो उसको दूर करने का प्रयत्न नहीं करता। आत्मा अन्य समस्त अवस्थाओं

को सहन कर सकता है; परन्तु एक दु:ख को सहन नहीं कर सकता। परवशता से दु:ख हो तो तब तो यह क्या करे ? उसको भोगता है; परन्तु स्ववशता से तो किंचित भी दु:ख को सहन नहीं कर सकता ।

राग और राग के निमित्तों के प्रति प्रेम वाले जीव को, आत्मा में सुख है, यह बात नहीं बैठती; परन्तु आत्मा को जाने बिना सुख प्राप्त नहीं होता। आत्मा के सुखस्वभाव का पता नहीं होने से अज्ञानी बाहर में सुख मानता है।

संकोच-विस्तारादि अवस्था जैसी हो वैसी हो, उसे स्ववशता से भी भोगता है। वहाँ स्वभाव में तर्क नहीं है, आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है- ऐसा समझना चाहिये।

देखो, मरकर भी सुखी होना चाहता है, इससे निश्चित होता है कि प्रत्येक आत्मा सुख चाहता है।

किसी का बीस वर्ष का पुत्र मर गया हो और वह उसकी याद में बहुत रोता हो तो अन्य लोग उससे कहते हैं कि भाई! दो रात से जगे हुए हो, अत: तुम सोओ तो सुख होगा, थोड़ा सोओ तो दु:ख को भूलोगे। इसप्रकार सोकर भी दु:ख दूर करना चाहता है और सुखी होना चाहता है। यद्यपि सोने में ज्ञानादिक मंद हो जाते हैं; परन्तु जड़ जैसा होकर भी दु:ख दूर करना चाहता है। नींद में ज्ञान का हीनपना हो जाता है, मैं आत्मा हूँ यह भी पता नहीं रहता; तथापि सोकर दु:ख दूर करना चाहता है। तथा मरकर के भी दु:ख दूर करना चाहता है। दस लाख की सम्पत्ति वाला होने पर भी यदि कोई तीव्र रोग आ जाये तो कहता है कि मुझे बहुत दर्द होता है, अत: मुझे मार दो। देखो, कल्पना के घोड़े! कई महिलायें कैरोसिन छिड़ककर मरना चाहती हैं। आत्मा सुख के लिये झपट्टे मारता है। अत: वह मरकर भी दु:ख दूर करके सुख को चाहता है; परन्तु उसको सुख के उपाय का पता नही हैं। पैसे से, दान से, मकान से, स्त्री से, पुत्र से सुख मिलेगा- ऐसा मानता है; परन्तु यह सच्चा उपाय नहीं हैं। यहाँ उपाय बताने के पूर्व आत्मा में सुख है -यह बताना है।

अन्तर में सुख है-ऐसा निर्णय कर! ज्ञानी पर में अथवा पुण्य-पाप में सुख नहीं मानता। वह तो यह मानता है कि ज्ञानानंद स्वभाव में सुख है। अज्ञानी जीव मरकर भी सुख चाहता है। व्यापार में परेशानी आ जाने पर जहर पीकर मर जाता है; परन्तु आत्मा में सुख है; न तो यह

बात सुनी है और न श्रद्धा में यह बात जँची है, अत: अपनी नास्ति करके भी दु:ख दूर करना चाहता है। इसलिये दु:खरूप अवस्था का नाश करना ही जीव का कर्त्तव्य है। संयोग से सुख है और पुण्य से धर्म है- ऐसी मिथ्याश्रद्धा दु:खरूप है। सुख-दु:ख संयोग में नही, विपरीत मान्यता में दु:ख (और सम्यकश्रद्धा में सुख है)। पुण्य-पाप दोनो दु:खरूप है उनका अभाव करना ही कर्त्तव्य है। यह पदार्थ सुखरूप अथवा दु:खरूप है यह कल्पना दु:खरूप है, इसका अभाव ही कर्त्तव्य हैं।

परवस्तु को दूर करने की बात नहीं; किन्तु मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चरित्र ही दु:खरूप और दु:ख के कारण हैं; इसलिये उनको दूर करने की बात है।

....तथा दु:ख न हो वही सुख है; क्योंकि आकुलतालक्षणसहित दु:ख उसका अभाव ही निराकुललक्षण सुख है; सो यह भी प्रत्यक्ष भासित होता है- बाह्य किसी सामग्री का संयोग मिलो- जिसके अन्तरंग में आकुलता है वह दु:खी ही है; जिसके आकुलता नहीं है वह सुखी है। तथा आकुलता होती है वह रागादिक कषायभाव होने पर होती है; क्योंकि रागादिभाव से यह तो द्रव्यों को अन्य प्रकार परिणमित करना चाहे, और वे द्रव्य अन्य प्रकार परिणमित हों; तब इसके आकुलता होती है। वहाँ या तो अपने रागादि दूर हों, या आप चाहे उसी प्रकार सर्वद्रव्य परिणमित हों तो **आकुलता मिटे; परन्तु सर्वद्रव्य तो इसके आधीन नहीं हैं। कदाचित् कोई द्रव्य जैसी इसकी इच्छा हो उसी प्रकार परिणमित हो, तब भी इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं** होती; सर्व कार्य जैसे यह चाहे वैसे ही हों, अन्यथा न हों, तब यह निराकुल रहे; **परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। इसलिये अपने रागादिकभाव दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है; क्योंकि रागादिभाव आत्मा के स्वभावभाव तो हैं नहीं, औपाधिकभाव हैं, परनिमित्त से हुए हैं, और वह निमित्त मोहकर्म का उदय है; उसका अभाव होने पर सर्व रागादिक विलय हो जायें तब आकुलता का नाश होने पर दु:ख दूर हो, सुख की प्राप्ति हो। इसलिये मोहकर्म का नाश हितकारी है।....**

दु:ख न हो वही सुख है। पुत्र, स्त्री आदि मर जाये, खाने को रोटियां नहीं मिले, शरीर

में रोग हो जाये -ये कोई दु:ख नहीं है। अवस्था में पुण्य-पाप को निज मानना ही दु:ख है। दु:ख का लक्षण आकुलता है। राजा का बाहर में तो बहुत मान-सम्मान होता है; परन्तु रानी के पास नहीं चलती हो बहुत आकुलता करता है वह दु:ख है। प्रतिकूल संयोग दूर करना आकुलता मिटाने का उपाय नहीं है। आकुलता का अभाव होकर निराकुलता प्रगट होना सुख है। मुझे किसी भी परवस्तु की आवश्यकता नहीं है। ऐसा श्रद्धान-ज्ञान और आचरण ही सुख है।

बाह्य सामग्री मिलने पर भी अन्तर में आकुलता है वही दु:ख है। हम इतने धनवान होने पर भी हमें मुख्य नहीं किया-ऐसा ईर्ष्या भाव दु:ख है। बाह्य सामग्री होने पर भी दु:ख है। किसी के पास पाँच करोड़ की सम्पत्ति हो, झूले पर बैठकर झूल रहा हो, नोकर पंखा झलते हों; तब बिच्छु आकर डंक मार दे तो कहता है कि मै मर गया, दु:खी हो गया। भाई! बाह्य वस्तुयें सुख-दु:ख का कारण नहीं है; परन्तु आकुलता ही दु:ख और निराकुलता ही सुख है-ऐसी समझ करने से सुख होता है। लाखों की आमदनी होने पर भी अंदर में आकुलता करे तो दु:ख होता है। अत: प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि निजआत्मा में सुख है, सुख बाहर में नहीं है।

आत्मा का हित मोक्ष ही है-यह बात यहाँ सिद्ध कर रहे हैं। आत्मा मे वर्तनेवाली आकुलता में मोहकर्म निमित्त है, उसका अभाव करना सुख है और वह सुख मोक्ष में है।

प्रश्न:- दु:खी तो निगोद के जीव भी नहीं दिखते?

उत्तर:- निगोद के जीव महादु:खी हैं। सुख की प्राप्ति हो गई हो तो कर्म और शरीर संयोग रूप से नहीं हो सकते। सुख की प्राप्ति नहीं है, इसलिये दु:ख है। लोग अनुकूल संयोग में सुख और प्रतिकूल संयोग में दु:ख मानते हैं; परन्तु संयोग में सुख-दु:ख नहीं है।

किसी के पास दो हजार की सम्पत्ति होने पर भी संतोष मानता है और किसी के पास लाखों रुपये होने पर भी आकुलता किया करता है। यदि अधिक सामग्रीवाले को आकुलता कम होती हो तो लक्षाधिपति को कम आकुलता होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं हैं। जिसको आकुलता रहित स्वभाव का पता नहीं है वह पर से आकुलता मिटाना चाहता है और धर्म के नाम पर बाहर से आकुलता कम करना चाहता है; परन्तु यह सच्चा उपाय नहीं है।

जीव सुखी होना चाहता है, इसलिये उसका स्वभाव सुख है; परन्तु उसकी प्राप्ति की विधि का जीव को पता नहीं है। आज्ञाकारी पुत्र और बहुत धन होने पर भी जीव आकुलता करता है और किसी के पास धन कम होने पर भी मजा मानता है। आत्मा एक है और परवस्तुयें अनंत हैं। अज्ञानी अनंत परवस्तुओं के अवलम्बन से सुख पाना चाहता है; तो प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि पर में आत्मा का सुख नहीं है। आत्मा के अवलम्बन से आठों ही कर्मों का अभाव होकर पूर्ण सुख का उत्पाद होना और सम्पूर्ण दु:ख का नाश होना मोक्ष है और वही परमहितरूप है। पर के अवलम्बन से सुख नहीं है, अत: पर का अवलम्बन छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य कर तो आकुलता मिटेगी। जगत सुख के लिए झपट्टे मारता है; परन्तु अनंत पर पदार्थों का आश्रय रहेगा वहाँ तक आकुलता नहीं मिटेगी। अत: दु:ख का अभाव करना हो तो आठों कर्मों का अभाव करना पड़ेगा। आठ कर्मों के अभाव के लिये शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करनी पड़ेगी।

लोग परवशता से दु:ख सहन करते हैं; परन्तु स्ववशपने नहीं। लोग कहते हैं कि शरीर निरोग हो, तो अन्य सब सहन कर सकूंगा। यहाँ सुख प्रिय है यह सिद्ध करना है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों को सुख प्रिय लगता है। चैतन्य का (आत्मा का) स्वभाव ही सुख है, इसमें तर्क नहीं है।

संयोग दु:ख नहीं है, द्रव्य या गुण में दु:ख नहीं है, कर्म में दु:ख नहीं है; आत्मा की अवस्था में दु:ख है- ऐसा निश्चय करना चाहिये। दु:ख न होना ही सुख है। दु:ख का लक्षण आकुलता है। पैसा हो और प्रतिष्ठा हो तो सुख मिलता है यह मान्यता आकुलता है। मैं आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी हूँ, मेरी अस्ति में समस्त पर पदार्थों की नास्ति है, इसलिये मेरा सुख-दु:ख पर के आधार से नहीं है। इस निर्णय में ही सुख है।

सामग्री के सद्भाव में सुख नहीं है और अभाव में दु:ख नहीं है। कर्मों के अभाव में सुख है; उन आठ कर्मों का अभाव आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और लीनतापूर्वक होता है।

कोई परवस्तु अनुकूल है और कोई प्रतिकूल है-ऐसी मान्यता से आकुलता होती है। शरीर अच्छा रहे तो ठीक- इसप्रकार अज्ञानी परपदार्थों को अपने अनुकूल परिणमाना चाहता है; परन्तु वे इसके आधीन नहीं हैं। अज्ञानी जीव विपरीतमान्यता के कारण अपने से भिन्न

पदार्थों को अन्य-अन्यरूप परिणमाना चाहता है; परन्तु मैं अनंत पदार्थों का ज्ञाता हूँ- यह बात स्वीकार नहीं करता है। मेरा ज्ञानस्वभाव अनंत परपदार्थों को जानने का है, किसी भी परपदार्थ को परिणमित कराना मेरे अधिकार में नहीं है-यह एक ही आकुलता मिटाने का उपाय है; परन्तु अज्ञानी जीव चाहता है कि यह आवे तो ठीक और यह चला जावे तो ठीक; परन्तु परपदार्थ इसकी इच्छानुसार परिणमित नही होते और इसीलिये इसकी आकुलता नहीं मिटती। वहाँ या तो स्वयं मिथ्यात्व, राग द्वेषादि का अभाव करे या परद्रव्य स्वयं की इच्छा के अनुसार परिणमित हो तो आकुलता मिटे; परन्तु परद्रव्य तो इसके आधीन परिणमित नहीं होते। सभी कार्य इसकी इच्छा के अनुसार हो तो निराकुलता हो; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता; कारण कि किसी भी परद्रव्य का परिणमन इसके आधीन नहीं है। शरीर की अवस्था भी आत्मा के आधीन नही है। इसलिये पर को परिणमित कराना आकुलता को मिटाने का उपाय नहीं है। अपितु स्वलक्ष्य करने और ज्ञाता रहने से ही आकुलता का अभाव होता है।

परजीव का बचना या मरना, पैसा आना अथवा जाना-इत्यादि कोई भी आत्मा के आधीन नहीं है। अपने आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य में तेरा कुछ भी अधिकार नहीं है। अतः पर से भेदज्ञान करके स्व को रुचि कर! पर का तेरे में और तेरा पर में अधिकार नहीं है। आत्मा की रुचि और लीनता करने से पर की रुचि और आसक्ति छूट जाती है और यह कार्य (सुखरूप कार्य) बन सकता है। आत्मा परपदार्थों का कार्य तो कर नही सकता है; परन्तु अपने में होनेवाले पुण्य-पाप आदि के भाव को पलट सकता है। उस भाव में (पुण्य-पापादि में) निमित्त मोहकर्म का उदय है, उसका नाश होने पर समस्त रागादिभावों का अभाव होता है। पर को सुखी-दुःखी करूँ -ऐसी भ्रांति जीव करता है, उसमें मोहकर्म निमित्त है। कोई भी पर की अवस्था को न तो कर सकता है और न रोक सकता है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ- ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि परलक्ष्य से होनेवाली अशुद्धता उपाधिभाव है, उसे मिटाया जा सकता है। परवस्तु की अवस्था को नहीं बदला जा सकता । परवस्तु के कर्म भी आ जाते हैं; परन्तु आकुलता मिटने पर कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं। चिदानंद स्वभाव में लीन होने पर आकुलता दूर होती है और सुख प्रगट होता है। आत्मा का हित सुख है। मोह-राग-द्वेष को रखना

हितकारी नहीं है; अपितु राग का और निमित्तरूप कर्म का अभाव करना हितकारी है और वही मोक्ष की पर्याय की प्राप्ति का कारण है।

अज्ञानी धर्म के नाम पर परवस्तु का त्याग करके सुख प्राप्त करना चाहता है; परन्तु आत्मा पर से सदाकाल निवृतस्वरूप है इस बात का उसे पता नहीं है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के छियानवें हजार रानियां होती है, बाहर का त्याग भी नहीं है; परन्तु आत्मा का भान है- इसकारण वह सुखी है। इसलिये कहते हैं कि पर तरफ की आकुलता मिटाकर मोहकर्म का अभाव करना हितकारी है।

....तथा उस आकुलता का सहकारी कारण ज्ञानावरणादिक का उदय है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण के उदय से ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं होते; इसलिये इसको देखने-जानने की आकुलता होती है। अथवा यथार्थ सम्पूर्ण वस्तु का स्वभाव नहीं जानता तब रागादिरूप होकर प्रवर्तता है, वहाँ आकुलता होती है।

तथा अंतराय के उदय से इच्छानुसार दानादि कार्य न बनें, तब आकुलता होती है। उनका उदय है वह मोह का उदय होने पर आकुलता को सहकारी कारण है; मोह के उदय का नाश होने पर उनका बल नहीं है; अन्तर्मुहूर्त काल में अपने आप नाश को प्राप्त होते हैं; परन्तु सहकारी कारण भी दूर हो जाये तब प्रगट निराकुलदशा भासित होती है। वहाँ केवलज्ञानी भगवान अनन्तसुखरूप दशा को प्राप्त कहे जाते हैं।

तथा अघाति कर्मों के उदय के निमित्त से शरीरादिक का संयोग होता है; वहाँ मोहकर्म का उदय होने से शरीरादिक का संयोग आकुलता को बाह्य सहकारी कारण है। अन्तरंग मोह के उदय से रागादिक हों, और बाह्य अघाति कर्मों के उदय से रागादिक के कारण शरीरादिक का संयोग हो- तब आकुलता उत्पन्न होती है। तथा मोह के उदय का नाश होने पर भी अघाति कर्म का उदय रहता है, वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता; परन्तु पूर्व में आकुलता का सहकारी कारण था, इसलिये अघाति कर्म का भी नाश आत्मा को इष्ट ही है। केवली को इनके होने पर भी कुछ दुःख नहीं है, इसलिये इनके नाश का उद्यम भी नहीं है; परन्तु मोह का नाश होने पर यह कर्म अपने आप थोड़े ही काल में सर्वनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार सर्व कर्मों का नाश होना आत्मा का हित है। तथा सर्व कर्म के नाश ही का नाम मोक्ष है। इसलिये आत्मा का हित एक मोक्ष ही है, और कुछ नहीं- ऐसा निश्चय करना।....

अब सहकारी कारणों की बात करते हैं। आकुलता का सहकारी कारण ज्ञानावरणादि का उदय है। जीव स्वयं आकुलता करता है तो ज्ञानावरणी आदि कर्म को सहकारी कारण (निमित्त) कहते हैं; नहीं करे तो निमित्त नहीं कहते । स्वयं को जानपना कम हो और शास्त्र पढ़ना न आता हो तो उसमें ज्ञानावरणी का उदय है; परन्तु ज्ञानावरणी का उदय आकुलता का वास्तविक कारण नहीं है। मोहभाव के कारण उसको सहकारी कारण कहा जाता है। इसलिये ज्ञानावरणी का नाश करना हितकारी है। ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी के उदय से ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं होते- यह निमित्त का कथन है। अपनी नैमित्तिकदशा हीनतावाली है तो उन्हें निमित्त कहा जाता है।

जिस भाव से आठ कर्म बँधते हैं उस भाव को हितकारी माननेवाला जीव मोक्ष को हितकारी नहीं मानता है। यहाँ ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी का उदय कहा वह निमित्तमात्र है। उसके निमित्त से अपने ज्ञान-दर्शन की हीनता है। इसकारण देखने -जानने की आकुलता होती है। इसलिये उन कर्मों का अभाव करना हितकारी है।

अब अंतराय कर्म के निमित्त से ज्ञान दर्शनादि प्रगट करने में वीर्य को (बल को) फैला नहीं सकता तब आकुलता होती है। इसलिये (अंतराय को) निमित्तकारण कहते हैं। मोह का उदय होने पर अंतराय कर्म सहकारी कारण है; परन्तु बारहवें गुणस्थान में मोह का अभाव होने पर उसका बल नहीं है। अन्तर्मुहूर्त में अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाता है और निराकुलदशा प्रकट भासित होती है। भगवान के अंतराय कर्म का उदय नही होता, वे अनंतसुखरूपदशा को प्राप्त हैं। अत: अंतराय कर्म का नाश हितकारी है।

इसप्रकार चारों घातिकर्मों का अभाव हितकर है।

अब अघातिकर्मों की बात करते हैं:-

वेदनीय के निमित्त से बाह्य संयोग मिलते हैं। मोह का उदय होने पर अर्थात् उसमें जुड़ने से शरीर आदि सामग्री सहकारी कारण होती है। जीव आकुलता न करे तो उन्हें निमित्त नहीं

कहते हैं। अन्तर में होनेवाली पुण्य-पाप की वृत्ति आकुलता है और उसमें बाह्य निमित्त शरीरादि का संयोग है। मोह का नाश होने पर अघाति कर्म आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकते। केवली भगवान के उनके होने पर भी दु:ख नहीं है, इसलिये उनके नाश का उद्यम भी नहीं है।

मोह का नाश होने पर शेष घाति कर्मों का अभाव अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है और तत्पश्चात थोड़े ही काल में अघातिकर्मों का भी नाश होता है। इसलिये आठों कर्मों का नाश होना हितकर है और सर्व कर्मों का नाश ही मोक्ष है, इसलिये आत्मा का हित मोक्ष ही है, अन्य कोई नहीं ऐसा अनंत ज्ञानी कहते हैं। उससे विरुद्ध जाने और माने उससे ज्ञानावरणी कर्म बंधता है। ज्ञानी की आशातना करना, जिसके पास से ज्ञान मिला हो उसका नाम छिपाना, ज्ञान की प्रभावना मे विघ्न करना-इत्यादि भावों से ज्ञानावरणी कर्म बंधता है और जिसको ये भाव अच्छे लगते हैं उसको मोक्ष अच्छा नहीं लगता है। कुदेवादि को माननेवाला मोहनीय कर्म बांधता है और ऐसे भावों को अच्छा माननेवाला जीव मोक्ष को अच्छा नहीं मानता ।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थरूप से जाने बिना कुदेवादि की श्रद्धा नहीं मिटती। सच्चे देवादि को मानने का राग भी बंध का कारण है और उसे भला माननेवाला मोक्ष को हितरूप नहीं मानता है। आत्मा का हित मोक्ष है। आठों ही कर्मों का अभाव करना सुख है। जिस भाव से यशकीर्ति नामकर्म बंधता है, तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, वह भाव भी हितकर नही है। पुण्य तो बंधेगा न! ऐसा माननेवाला बंधन को हितकर मानता है। पुण्य बांधने के उल्लासवाला जीव मोक्ष को हितकर नहीं मानता। पैसा रखने का राग तो हितकर नहीं है, परन्तु पैसा खर्च करने का राग भी हितकर नहीं है। किसी भी बंधन के भाव को संमत हो, उसे अनुमोदना दे वह मोक्ष को हितकर नहीं मान सकता। मोक्ष एक ही हितकर है। मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि है और वह आत्मा के आश्रय से होता है। इसलिये मोक्ष एक ही हितकर है, अन्य कोई नहीं -ऐसा निश्चय करना चाहिये।

....यहाँ कोई कहे- संसारदशा में पुण्यकर्म का उदय होने पर भी जीव सुखी होता है; इसलिये केवल मोक्ष ही हित है ऐसा किसलिये कहते हैं?

समाधान:- संसारदशा में सुख तो सर्वथा है ही नहीं; दु:ख ही है। परन्तु किसी के कभी बहुत दु:ख होता है, किसी के कभी थोड़ा दु:ख होता है; सो पूर्व में बहुत

दु:ख था व अन्य जीवों के बहुत दु:ख पाया जाता है, उस अपेक्षा से थोड़े दु:खवाले को सुखी कहते हैं। तथा उसी अभिप्राय से थोड़े दु:खवाला अपने को सुखी मानता है; परमार्थ से सुख है नहीं। तथा यदि थोड़ा भी दु:ख सदाकाल रहता हो तो उसे भी हितरूप ठहरायें, सो वह भी नहीं है; थोड़े काल ही पुण्य का उदय रहता है, और वहाँ थोड़ा दु:ख होता है, पश्चात् बहुत दु:ख हो जाता है; इसलिये संसार अवस्था हितरूप नहीं है।

जैसे -किसी को विषम ज्वर है; उसको कभी असाता बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है। थोड़ी असाता हो तो वह अपने को अच्छा मानता है। लोग भी कहते हैं- अच्छा है; परन्तु परमार्थ से जबतक ज्वर का सद्भाव है तबतक अच्छा नहीं है। उसी प्रकार संसारी को मोह का उदय है; उसको कभी आकुलता बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है। थोड़ी आकुलता हो तब वह अपने को सुखी मानता है। लोग भी कहते हैं- सुखी है; परन्तु परमार्थ से जबतक मोह का सद्भाव है तबतक सुख नहीं है।

तथा सुनो, संसारदशा में भी आकुलता घटने पर सुख नाम पाता है, आकुलता बढ़ने पर दु:ख नाम पाता है; कहीं बाह्यसामग्री से सुख-दु:ख नहीं है। जैसे किसी दरिद्री को किंचित धन की प्राप्ति हुई- वहाँ कुछ आकुलता घटने से उसे सुखी कहते हैं, और वह भी अपने को सुखी मानता है। तथा किसी बहुत धनवान को किंचित् धन की हानि हुई- वहाँ कुछ आकुलता बढ़ने से उसे दु:खी कहते हैं, और वह भी अपने को दु:खी मानता है।

इसीप्रकार सर्वत्र जानना।....

प्रश्न:- जिस जीव ने पूर्व में व्रत तपादि करके पुण्य बंध किया हो वह सुखी दिखता है, राजा-महाराजा सुखी दिखते हैं, तब केवल मोक्ष ही हित है-ऐसा क्यों कहते हो ?

उत्तर:- भाई ! वह सुख नहीं है। संसार अवस्था में सर्वथा सुख का संभवपना तो है ही नहीं; इन्द्रपद और राजादि को भोगने का भाव दु:खरूप है। जीव धन, पुत्र और महल में रागभाव करता है वह दु:ख है। थोड़े दु:ख को अज्ञानी सुख मानता है। किसी समय किसी जीव को बहुत दु:ख होता है। पूर्व में नारकी अथवा रोगी दशा में बहुत दु:ख था अथवा अन्य

जीवों को वर्तमान में बहुत दु:ख होता है। इस अपेक्षा से थोड़े दु:ख वाले को सुखी कहते हैं; परन्तु वास्तव में वह सुख नहीं है। पूर्व में गरीब हो और वर्तमान में धनवान हो गया होवे तो सुखी कहलाता है। (है नही) वस्तुत: संसार में दु:ख ही है ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। जिस भाव से संसार उत्पन्न होता है वह भाव दु:खदायक है। अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पर में सुख मान लेता है; परन्तु उसमें सुख जरा भी नही है। पदार्थ के अवलम्बन से दु:ख है। आत्मा के भान बिना राजपद में होने पर भी राग के परिणाम से दु:ख है और निवृति ली इसलिये सुखी मानता है; परन्तु वस्तुत: वह सुखी नहीं है।

अब कहते हैं कि जो थोड़ा सुख है वह भी सदाकाल नहीं रहता है। धन,पुत्रादिक थोड़े काल रहते हैं। पुण्य का उदय थोड़े काल रहता है। उसके निमित्त से धनादि मिलते है; परन्तु नित्यानंद स्वभाव के भान बिना सुख नहीं हो सकता है। पुण्य की स्थिति नष्ट होने पर निरोगपना नष्ट होकर सड़ा हुआ शरीर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि साधु नौवें ग्रैवेयक तक जाता है; वहाँ से मरकर मनुष्य होकर नरक में चला जाता है। इसलिये संसार दशा हितरूप नही है, मोक्ष हितरूप है। मोक्ष को हितकर माननेवाला ही मोक्षमार्ग को हितकर मानता है।

यदि थोड़ा सुख भी सदाकाल रहता हो तब तो उसको भी हितरूप ठहरायें परन्तु ऐसा भी नहीं है। अनंतकाल में पचास-सौ वर्ष धनादिक रहे तो वह भी थोड़ा काल है। एक भव में भी बहुत फेरफार होता है। पुण्य का उदय थोड़े काल और पाप का उदय बहुत काल रहता है। निगोद की अपेक्षा से मनुष्य और देव की स्थिति अल्प है। मिथ्यादृष्टि का पुण्य बदलकर पापरूप होता है। अज्ञानी जीव उत्कृष्ट शुभपरिणाम करके पन्द्रह कोड़ाकोड़ीसागर की स्थितिवाला सातावेदनीय कर्म बांधता है; परन्तु उसको पुण्यरूप विकार की रुचि होने से मिथ्यात्व के कारण वह उस स्थिति का अभाव कर देगा और त्रस पर्याय की दो हजार सागर की स्थिति पूरी करके निगोद में चला जायेगा। कषाय मंदता से किया हुआ पुण्य बदलकर पापरूप हो जायेगा।

सम्यग्दृष्टि ने सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ीसागर की बांधी; परन्तु उसको पुण्य का निषेध वर्तता होने से और स्वभाव का अवलम्बन होने से वह उस स्थिति का अभाव करके मोक्ष जायेगा। तात्पर्य यह है कि संसार अवस्था और उसके कारण हितरूप नहीं

है। जबतक जीव को संसार अहितरूप और मोक्ष हितरूप भासित नहीं होता तबतक वह संसार को छोड़ना नही चाहता।

जीव ने दया,दान, व्रत, ब्रह्मचर्य आदि के भाव किये हो तो उस शुभभाव के फल में देव अथवा देवी होता है; परन्तु पुण्य का काल थोड़ा होता है; इसलिये उसके निमित्त से प्राप्त संयोग भी थोड़े काल तक रहता है। इसलिये संसार हितरूप नहीं है। जीव ने आत्मा के भान बिना पूर्व में शुभभाव किये उसके फल में राजा अथवा स्वर्ग में देव होता है; परन्तु पुण्य से कल्याण मानता है; इसलिये वह क्रमशः (परम्परा से) निगोद में जाता है।

संसारी जीवों को दया दानादि शुभपरिणाम होने पर किसी समय थोड़ी आकुलता होती है तब वह अपने को सुखी मानता है और किसी समय बहुत आकुलता होती है तब वह अपने को दुःखी मानता है; परन्तु जहाँतक मिथ्यात्व और राग-द्वेष का अस्तित्व है वहाँतक जरा भी सुखी नहीं है।

जैसे किसी को विषम ज्वर है उसको किसी समय बहुत असाता होती है, तब वह अपने दुःखी मानता है। किसी समय कम असाता होती है तब वह अपने को ठीक मानता है और अन्य लोग भी कहते हैं कि रोग कम हुआ है; परन्तु जहाँतक बुखार है वहाँतक ठीक नहीं है; इसी प्रकार संसारी जीव को मोह का उदय है। अर्थात् उस तरफ जुड़ान है, तब नरक निगोद में बहुत आकुलता दिखती है और मनुष्य हो उस समय थोड़ी आकुलता दिखती है। नरक की अपेक्षा भी निगोद में बहुत दुःख है। निगोद के जीव असाध्य दशा में है, उन्हे दुख की मात्रा बहुत बढ़ गई है; परन्तु वह लोगों को भासित नही होती। निगोदिया का ज्ञान अत्यन्त हीन हो गया है और मनुष्य होने पर थोड़ा दुःखी है; परन्तु परमार्थ से जहाँतक मोह का सद्भाव है वहाँ तक वह सुखी नही है। शरीर में रोग हो गरीब हो वहाँतक दुःखी है यह नहीं कहा है; परन्तु अपने ज्ञान स्वभाव का भान नहीं है; वहाँतक दुःखी है ऐसा कहा है।

अज्ञानी कहता है कि कंचन,कामिनी,कुटुम्ब को छोड़ो तो संसार छूट जायेगा; परन्तु भाई! वह तेरा संसार नहीं है। मैं परद्रव्य से सुखी-दुःखी हूँ अथवा पर को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ-यह मान्यता ही दुःखदायक है-संसार है।

तथा संसार अवस्था में भी संतोषी को सुखी कहते हैं। आकुलता बढ़ने पर दुःखी और

घटने पर सुखी कहते हैं। बाह्य सामग्री के कारण सुखी-दु:खी नहीं है। थोड़ी सम्पत्तिवाला संतोष करता है तो सुखी दिखता है और अधिक सम्पत्तिवाला आकुलता करता है तो सुखी नही दिखता। दस लाख की सम्पत्तिवाला थोड़ा रुपया जाने पर अपने को दु:खी मानता है और दूसरे किसी के पास पाँच हजार की सम्पत्ति हो और पाँच रुपये वेतन बढ़े तो सुखी मानता है।-यह सब कल्पना है। आशय यह है कि दु:ख का कारण आकुलता है, संयोग नहीं।

....तथा आकुलता घटना-बढ़ना भी बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं है, कषायभावों के घटने-बढ़ने के अनुसार है। जैसे- किसी के थोड़ा धन है और उसे सन्तोष है, तो उसे आकुलता थोड़ी है; तथा किसी के बहुत धन है और उसके तृष्णा है, तो आकुलता बहुत है। तथा किसी को किसी ने बहुत बुरा कहा और उसे क्रोध नहीं हुआ तो उसको आकुलता नहीं होती; और थोड़ी बातें कहने से ही क्रोध हो आये तो उसको आकुलता बहुत होती है। तथा जैसे गाय को बछड़े से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, परन्तु मोह बहुत है, इसलिये उसकी रक्षा करने की बहुत आकुलता होती है; तथा सुभट के शरीरादिक से बहुत कार्य सधते हैं, परन्तु रण में मानादिक के कारण शरीरादिक से मोह घट जाये, तब मरने की भी थोड़ी आकुलता होती है। इसलिये ऐसा जानना कि संसार अवस्था में भी आकुलता घटने-बढ़ने से ही सुख-दु:ख माने जाते हैं। तथा आकुलता घटना-बढ़ना रागादिक कषाय घटने-बढ़ने के अनुसार है।

तथा परद्रव्यरूप बाह्यसामग्री के अनुसार सुख-दु:ख नहीं है। कषाय से इसके इच्छा उत्पन्न हो और इसकी इच्छा अनुसार बाह्यसामग्री मिले, तब इसके कुछ कषाय का उपशमन होने से आकुलता घटती है, तब सुख मानता है- और इच्छानुसार सामग्री नहीं मिलती, तब कषाय बढ़ने से आकुलता बढ़ती है, और दु:ख मानता है। सो है तो इस प्रकार; परन्तु यह जानता है कि मुझे परद्रव्य के निमित्त से सुख-दु:ख होते हैं। ऐसा जानना भ्रम ही है। इसलिये यहाँ ऐसा विचार करना कि संसार अवस्था में किंचित् कषाय घटने से सुख मानते हैं, उसे हित जानते हैं; -तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होने पर व कषाय के कारण दूर होने पर परम निराकुलता होने से अनन्त सुख प्राप्त होता है- ऐसी मोक्ष अवस्था को कैसे हित न मानें?

तथा संसार अवस्था में उच्चपद को प्राप्त करे तो भी या तो विषयसामग्री मिलाने की आकुलता होती है, या विषय सेवन की आकुलता होती है, या अपने को अन्य किसी क्रोधादि कषाय से इच्छा उत्पन्न हो उसे पूर्ण करने की आकुलता होती है; कदापि सर्वथा निराकुल नहीं हो सकता; अभिप्राय में तो अनेक प्रकार की आकुलता बनी ही रहती है। और कोई आकुलता मिटाने के बाह्य उपाय करे; सो **प्रथम तो कार्य सिद्ध नहीं होता; और यदि भवितव्ययोग से वह कार्य सिद्ध हो जाये तो तत्काल अन्य आकुलता मिटाने के उपाय में लगता है। इसप्रकार आकुलता मिटाने की आकुलता निरन्तर बनी रहती है। यदि ऐसी आकुलता न रहे तो वह नये-नये विषयसेवनादि कार्यों में किसलिये प्रवर्त्तता है? इसलिये संसार अवस्था में पुण्य के उदय से इन्द्र-अहमिन्द्रादि पद प्राप्त करे तो भी निराकुलता नहीं होती, दु:खी ही रहता है। इसलिये संसार अवस्था हितकारी नहीं है।**

तथा मोक्ष अवस्था में किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रही, इसलिये आकुलता मिटाने का उपाय करने का भी प्रयोजन नहीं है; सदाकाल शांतरस से सुखी रहते हैं, इसलिये मोक्ष अवस्था ही हितकारी है। पहले भी संसार अवस्था के दु:ख का और मोक्ष अवस्था के सुख का विशेष वर्णन किया है, वह इसी प्रयोजन के अर्थ किया है। उसे भी विचारकर मोक्ष को हितरूप जानकर मोक्ष का उपाय करना। सर्व उपदेश का तात्पर्य इतना है।....

आकुलता का बढ़ना- घटना भी सामग्री के आधीन नहीं है। मिथ्यात्व-राग-द्वेष अधिक करे तो आकुलता अधिक है और कम करे तो आकुलता कम है। यहाँ कहते हैं कि पुण्य तो सोजा (एक रोग) के समान हैं, पुण्य के कारण सुख नहीं है।

किसी के पास धन अधिक हो तो तृष्णा कम होती है ऐसा नहीं है। किसी के पास थोड़ा धन हो और आकुलता कम करे तो कम दु:खी है और अधिक आकुलता करे तो अधिक दु:खी है। जो जीव संतोष धारण करता है और आकुलता कम करता है वह कम दु:खी है।

तथा कोई किसी का बहुत बुरा करे, तिरस्कार करे तथापि वह जीव समाधान करे कि यह प्रसंग पूर्व कर्म के कारण बना है। बुरा सुनने को मिलने पर भी थोड़ी आकुलता करे तो

कम दु:खी है। और किसी का जरा अपमान होने पर भी वह अधिक आकुलता करता है तो अधिक दु:खी है। इसलिये दु:ख संयोगों के अनुसार किन्तु आकुलता के अनुसार है –ऐसा निर्णय करना चाहिये। तथा जैसे गाय को बछड़े से प्रयोजन नहीं है, बछड़ा उसके लिए घास अथवा पानी नही देता; परन्तु गाय बछड़े से मोह करती है–वह दु:ख का कारण है। गाय को बछड़े की रक्षा की आकुलता रहा करती है। सुभट को शरीर से बहुत कार्य सधते हैं; परन्तु रणक्षेत्र में मान के लिये शरीर का मोह घटाता है और मरण की भी थोड़ी आकुलता होती है। इसप्रकार संयोग सुख–दु:ख का कारण नही है। आकुलता बढ़ना दु:ख और घटना सुख है। तथा आकुलता का घटना या बढ़ना मिथ्यात्व और राग–द्वेष के घटने–बढ़ने के आधीन है, संयोग के आधीन नहीं है । अज्ञानी जीव लक्ष्मी को सबसे अधिक सुख मानता है और वह न हो तो दु:ख मानता है– यही भ्रम है। आकुलता स्वयं कर्ता होकर करता है तथापि मानता है कि सहज हो जाती है –यह भ्रम है। आकुलता कार्य है, वह कर्ता के बिना नही होता। आकुलता का कर्ता आत्मा है वह करता है तो होती है। जीव को शांति रखना चाहिये। प्रतिकूल संयोगों को जानना चाहिये, उसके बदले कल्पना करता है–यह दु:ख का कारण है।

इसलिये यहाँ ऐसा विचार करना चाहिये कि संसार अवस्था में किंचित् कषाय घटने पर सुख मानते हैं। सेठ अथवा राजा की पदवी मिलने पर जीव सुख की कल्पना करता है तथा भार (जिम्मेदारी) आने पर चिंता करता है। जड़ की अवस्था तो जैसी होना हो होती है; परन्तु जीव आकुलता करता है।जब थोड़ी कषाय घटने पर सुख मानते हैं और उसको हितरूप जानते है, तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होती है और उसके कारण मोहकर्म तथा उसके सहकारी कारण ज्ञानावरणादि कर्म –उनके अभाव में मोक्षदशा को हितरूप क्यों नहीं माने ? मानेंगें ही।

पुण्य के परिणाम से सामग्री मिलेगी और भगवान के पास जाया जा सकेगा–ऐसा मानने वाला मोक्ष को हितकर नही मानता ।

तथा संसार में उच्चपद मिलने पर भी अज्ञानी जीव आकुलता करता है। विषय सामग्री मिलाने की अथवा विषय भोगने की इच्छा रहती है वह दु:ख है। कोई उच्चपद मिले तो उसके अनुसार साधन रखना पड़ता है और घर में कीमती सामान खरीदना पड़ता है, ऐसी सामग्री संग्रहित नहीं करेंगे तो लोग निंदा करेंगे –इस प्रकार कल्पना करके दु:खी होता है। स्वयं

धनवान होने पर भी नगरसेठ की पदवी नही मिले और दूसरे को वह पदवी मिल जाये तो आकुलता करता है। एक व्यक्ति की सेठ पदवी चली जाने के बाद दुबारा मिली तब उसने कहा कि अब मर भी जाऊँ तो परेशानी नहीं है। देखो आकुलता यह सब दु:ख है। संसार में कहीं भी सुख नहीं है।

जीव पहले तो सामग्री मिलाने की इच्छा करता है, वह नहीं मिले तो दु:खी होता है। कदाचित् सामग्री मिल जाये तो अन्य आकुलता करता है। इसप्रकार एक के बाद एक आकुलता किया ही करता है। विवाह न हो तो विवाह करने की आकुलता और विवाह हो जानें पर यदि स्त्री रोगी हो तो आकुलता किया करता है। तथा आकुलता मिटाने की आकुलता करता रहता है। इसलिये संसारी जीव दु:खी है। पुण्य के उदय से सेठ हो अथवा देव हो तो भी दु:ख है। त्यागी नाम धराकर बंध को हितकारक मानता है। बंध के भाव आकुलतावाले हैं। बंध को दु:खदायक नहीं माननेवाला मोक्ष को हितकारक नही मान सकता । अत: संसार अवस्था हितकारी नहीं है।

मोक्ष अर्थात् प्रगट पूर्ण आनंददशा; उसमें जरा भी आकुलता नहीं हैं, इसलिये वहाँ आकुलता मिटाने का उपाय करने का प्रयोजन भी नहीं है। मोक्ष का उपाय ही आकुलता मिटाने का उपाय है। चिदानंद आत्मा में से शान्तरस प्रगट होता है वह सुख है। अत: मोक्षदशा हितकारी है-यह बात निश्चित करना चाहिये।

संसार में सर्वत्र आकुलता है। पूर्व में भी (अधिकार तीन में) संसार अवस्था के दु:ख का तथा मोक्ष अवस्था के विशेष सुख का वर्णन किया है वह इसी प्रयोजन के लिए किया था। संसार आत्मा की विकारी दशा है, वह दशा दु:खदायक है और मोक्ष सुखदायक है। इसलिये मोक्ष को हितकारी जानकर उसका उपाय करना यही तात्पर्य है।

पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्ति

....यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है, या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमे उपदेश किसलिये देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या?

समाधानः- एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं हैं; जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है उसका आत्मा कर्त्ताहर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।....

अब **प्रश्न** करता है कि आत्मा में पूर्णदशा प्रगट होने के कारणरूप मोक्षमार्ग है वहः-

* काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है? या
* कर्म के मंद पड़ने पर बनता है? या
* पुरुषार्थ पूर्वक होता है?

आत्मा की पर्याय में आकुलता होती है उसको मिटाने का उपाय हमारे आधीन है या काल के आधीन है? अथवा कर्मोदय मंद पड़ने पर मोक्ष का उपाय होता है या पुरुषार्थ से होता है?

* यदि काललब्धि आने पर और कर्म का उपशमादि होने पर होता है तो उपदेश किसलिये देते हो? तथा
* यदि आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव पुरुषार्थ से होते हैं-ऐसा कहना चाहते हो तो सभी उपदेश सुनते हैं तो कोई पुरुषार्थ कर सकता है तथा कोई नहीं कर सकता उसका क्या कारण है?

उत्तरः- मोक्ष की पर्याय हितरूप है, संसार पर्याय अहितरूप है-ऐसा निर्णय करने में सब आ जाता है। पुरुषार्थ करने पर सभी कारण मिल जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में अकेला पुरुषार्थ है। जिससमय जो होना है वह होता है-यह निर्णय स्वभाव के निर्णय से होता है और इसमें अनंत पुरुषार्थ है। पर का जैसा होना हो वैसा होता है-ऐसा माननेवाला पर से उदास होकर स्वभाव सन्मुख हो गया है।(और स्वसन्मुखता ही पुरुषार्थ है)।

एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। अनेक कारण मिलाना पड़ता है-ऐसा नही लिखा है; परन्तु अनेक कारण मिलते हैं। ज्ञानानंद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा प्रगट होती है, वह मोक्ष का उपाय है। वहाँ पूर्व कथित तीनों कारण (1) काललब्धि (2) कर्म के उपशमादि तथा (3) पुरुषार्थ मिल जाते हैं तथा आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान आचरण नहीं करनेवाले को एक भी कारण नहीं मिलता।

पूर्व कथित तीन कारणों में भवितव्य तो कोई वस्तु नहीं है। जिस समय आत्मसन्मुख होकर निर्विकारीदशा करता है वह काल है, जिससमय कार्य बना वही काललब्धि है; अन्य कोई काललब्धि नहीं है। जो कार्य होता है वह भवितव्य है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा हुई वह भवितव्य है, वह अपनी पर्याय में लागू पड़ता है, बाहर में लागू नहीं पड़ता।

तथा कर्म के उपशमादि का होना पुद्गल की शक्ति है। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब कर्म स्वयं उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयरूप होते हैं; आत्मा कर्मों को बांधता अथवा टालता नही हैं। इसलिये उनके सामने देखने की आवश्यकता नहीं है। जड़ की पर्याय उसके कारण आती -जाती है, उसमें आत्मा का कार्य बिल्कुल नहीं है।

स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ करना आत्मा का कार्य है और उसको आत्मा कर सकता है। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ ऐसी श्रद्धा स्वयं करता है वह आत्मा का कार्य है, इसीलिये (आत्मा को) पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करने का उपदेश देते हैं। देह की क्रिया में अथवा पुण्य में धर्म मानना उल्टा (विपरीत) पुरुषार्थ है। उसे त्यागकर स्वसन्मुखता करने को कहते हैं। जीव के पुरुषार्थ से होता है, इसलिये यह उपदेश देते हैं। कर्म तो जड़ है, अत: उनको उपदेश नही देते । पुरुषार्थ आत्मा का किया होता है,इसलिये पुरुषार्थ करने को कहते हैं।

देखो! यहाँ यह प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि पकने पर बनता है या कर्म का उपशम होने से बनता है या पुरुषार्थ पूर्वक बनता है। उसका उत्तर दिया कि एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। जो मोक्ष का पुरुषार्थ करता है उसको भवितव्य, कर्म के उपशमादि और पुरुषार्थ तीनों मिलते हैं और मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं करनेवाले को तीनों कारण नहीं होते। इन कारणों में काललब्धि अथवा भवितव्य तो कोई वस्तु नहीं है। शुद्ध चिदानंद स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य होता है वह काललब्धि है और जो कार्य हो

वह भवितव्य है। उससमय वह होना ही था और कर्म के उपशमादि होना पुद्गल के अधीन है। आत्मा कर्मों को बांधे या छोड़े-यह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप विकार है, शरीरादि जड़ है, मैं शुद्ध हूँ -ऐसा अन्तर पुरुषार्थ करना वह कार्य है। जो आत्मा का कार्य हो वह करने के लिए कहा जाता है। शरीरादि का कार्य, कर्म का कार्य आत्मा का नही है। कर्म का अभाव आत्मा के आधीन नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति और ज्ञान कर सकता है, इसलिये वह करने को कहा जाता है।

....वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिलें तो सिद्धि नहीं होती।

सो जिनमत में जो मोक्ष उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिये जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है- ऐसा निश्चय करना। तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती -ऐसा निश्चय करना।....

अब, जिस कारण से आत्मा का कार्य अवश्य हो उस कारणरूप पुरुषार्थ करे वहाँ अन्य कारण अवश्य मिलते ही हैं, वे न हो ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्तर के पुरुषार्थ से होता है।जिसकारण से कार्य की निष्पत्ति हो उस कारण का सेवन करने से कार्य अवश्य होता है। जहाँ पुरुषार्थ हो वहाँ अन्य कारण अवश्य मिलते ही हैं।

'जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो'-गुरु आदि का निमित्त मिले,

संहनन,पर्याप्तपना, मनुष्यदेह इत्यादि कारण मिलें वहाँ यदि आत्मा का पुरुषार्थ करे तो सिद्धि होती है; परन्तु अकेले पुण्य से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता। गुरु का समागम करे, समवसरण में जाये वहाँ सम्यग्दर्शन हो अथवा नहीं भी हो।

केवलज्ञानी ने आत्मा के मोक्ष का उपाय कहा है कि तेरा स्वभाव सिद्ध समान है, कोई अन्य ईश्वर तुझे कुछ दे दे ऐसा नहीं है। तू अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण करे; तो मोक्ष अवश्य होता है। जो जीव जिनेश्वरदेव के उपदेशानुसार (मोक्ष का उपाय) करता है उसको मोक्ष होता है। इसलिये उपदेश को सही प्रकार से जानना चाहिये। उपदेश सुनते समय शुभराग है,शरीर है, इंद्रियां हैं, जिनेश्वरदेव हैं, गुरु हैं, शास्त्र हैं; परन्तु ये सब मोक्ष के कारण नहीं हैं। यहाँ 'उपदेश अनुसार' कहा है; परन्तु लिखे अनुसार ऐसा नहीं कहा है। किसी निमित्त अथवा राग अनुसार मोक्षमार्ग नहीं है। निमित्त के कर्तापने का अथवा निमित्त को मिलाने का (जिनदेव का) उपदेश नहीं होता; वीतरागता का उपदेश होता है। तथा पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करने को कहा गया है; परन्तु यह नहीं कहा है कि कर्म मंद पड़े तब करना। जो जीव पुरुषार्थ करता है उसको कर्म के उपशमादि स्वयं होते हैं। उपदेश में निमित्त, परपदार्थ और राग की उपेक्षा और शुद्धस्वभाव की अपेक्षा कराते हैं।

कोई कहे कि भगवान तीनकाल तीनलोक के ज्ञाता हैं, हमारा भी उनके जाने अनुसार होना है; तो फिर पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ?

उसका समाधानः- सर्वज्ञ कहते हैं कि हम द्रव्य-गुण-पर्याय के श्रद्धा-ज्ञान करके चारित्रदशा को प्राप्तकर सर्वज्ञ हुए हैं। तुम भी द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करके अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान आचरण करोगे तो अवश्य मुक्ति प्राप्त करोगे। तेरा पुरुषार्थ राग-द्वेष में अथवा कुदेवादि में रुक गया है वह पुरुषार्थ तेरे स्वभाव तरफ कर! मोक्षमार्गरूपी पर्याय का कारण आत्मद्रव्य है। जो जीव उसका श्रद्धा-ज्ञान करता है, उसकी काललब्धि पक गई है। वहाँ पाँचो समवाय एकसाथ होते है, उनमें मुख्य गौण नहीं है। अर्थात् पहले पुरुषार्थ और बाद में काललब्धि ऐसा नहीं है, सब एक साथ हैं।

पैसा मिलना वह पुरुषार्थ के आधीन नहीं किन्तु पूर्व पुण्य के आधीन है और मोक्ष अंतर के पुरुषार्थ के आधीन है। जो अंतर का उपाय करता है उसको काललब्धि और भवितव्य हो

चुके हैं। पुरुषार्थ किया वहाँ सब आ जाते हैं। आत्मा की अंतर रमणता ही धर्म है। चारित्र का मूल दर्शन और दर्शन का मूल आत्मा है। जो ऐसा कहनेवाले हैं उन देव-गुरु-शास्त्र का उपदेश सुनकर अंतर पुरुषार्थ करनेवाले को काललब्धि और भवितव्य हो चुके हैं और उपाय करता है अर्थात् कर्म के उपशमादि हो चुके हैं। उनकी राह नहीं देखनी पड़ती। जीव पुरुषार्थ करे तब कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय न हो-ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये जो आत्मा में पुरुषार्थ पूर्वक श्रद्धा करके, लीनता करता है उसको सर्वकारण आ मिलते हैं। कारण बाद में मिलते हैं ऐसा नहीं है।

अकेले व्रत,तप आदि का पुरुषार्थ करना वह जिनदेव की आज्ञानुसार पुरुषार्थ नहीं है। आत्मा के स्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को सर्वकारण आ मिलते हैं। गुरु का उपदेश, मनुष्य देह पंचेन्द्रियपना,पर्याप्तपना आदि निमित्त न हो ऐसा नही होता। पुरुषार्थ करनेवाले को सर्वसिद्धि होती है। ऐसा निश्चय करना चाहिये।

जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पुरुषार्थ करता है उसको उतनी सामग्री मिलती है और जीव पंचमकाल में केवलज्ञान का पुरुषार्थ नहीं करता इसलिये उसके योग्य बाह्य सामग्री नहीं होती। सामग्री के अभाव के कारण केवलज्ञान रुकता है- ऐसा नहीं है। यहाँ मोक्षमार्ग की बात है। मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करनेवाले को योग्य सामग्री मिलती है।

जीव यदि स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ करें तो अन्य कारण मिलते हैं। यहाँ अकेली इच्छा की बात नहीं है। मोक्षमार्ग की इच्छा तो राग है। अन्दर ज्ञानानंद स्वभाव की रुचि और रमणता करे, तो अन्य कारण मिलते हैं। बाहर का वेष चारित्र नहीं है। बाहर में चारित्र मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। पर का ग्रहण या त्याग करु-यह मान्यता मिथ्यात्व है। यह जिनेश्वर की आज्ञानुसार पुरुषार्थ नहीं है। विकार और निमित्त की उपेक्षा करके स्वभाव की अपेक्षा करना ही जिनेश्वर के उपदेशानुसार पुरुषार्थ है।

लोग कहते हैं कि कर्म मंद हो तो कार्य होता है; परन्तु भाई ! कर्म का तो तुझमें अत्यंताभाव है। आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसी श्रद्धा ज्ञान और रमणता कर तो अवश्य कर्म के उपशमादि होते हैं। इसप्रकार निश्चय करना चाहिये। जब मोक्ष की लायकात (योग्यता) होती है तो अन्य सभी कारण मिल जाते हैं। उसे काल, संयोग, संहनन आदि होते ही हैं। कोई कहता है कि

'मोक्ष जीव के पुरुषार्थ के आधीन नहीं, किन्तु काल के आधीन हैं'-तो यह बात मिथ्या है। मोक्ष अपने हाथ की बात है। जो जीव स्वभाव सन्मुख उल्लसित वीर्य (बल) को नहीं लगाता उसको काललब्धि नहीं है तथा भवितव्य नहीं है। काललब्धि नहीं है, इसलिये वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं करता-ऐसा नहीं है। वस्तुतः मोक्ष न होने में अपना विपरीत पुरुषार्थ ही है। यहाँ वजन पुरुषार्थ पर है, कर्म का वजन नहीं है। जो स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ नहीं करता उसको कर्म के उपशमादि नहीं होते।

मिथ्यादृष्टि मुनि परीषहादि सहन करता है वह विपरीत पुरुषार्थ है। वह बाह्य क्रिया और राग में धर्म मानता है-यह मिथ्यात्व का पुरुषार्थ है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुषार्थ पूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता उसको काललब्धि, भवितव्य और कर्म के उपशमादि कारण नहीं मिलते -ऐसा निश्चय करना चाहिये।

जीव व्यापार-धंधे में पुरुषार्थ करता है उसके बदले स्वभाव तरफ पुरुषार्थ करे तो हो वैसा है। कर्त्ता के बिना कार्य नहीं होता।

इसप्रकार शिष्य ने प्रश्न किया था कि मोक्ष का उपाय काललब्धि पकने पर बनता है तो उपदेश की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर आ गया है। अब अंतिम प्रश्न का उत्तर देते हैं।

....तथा तू कहता है- उपदेश तो सभी सुनते हैं, कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या?

उसका कारण यही है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं वे मोक्ष का उपाय कर सकते हैं, और जो पुरुषार्थ नहीं करते वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो शिक्षामात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करे वैस लगता है।....

प्रश्नः- उपदेश तो सब सुनते हैं, तथापि उनमें कोई पुरुषार्थ कर सकता है और कोई नहीं कर सकता-इसका क्या कारण है?

उत्तरः- उसका कारण यह है कि जो उपदेश सुनकर मोक्ष का पुरुषार्थ करता है वह पुरुषार्थ कर सकता है। अंतर पुरुषार्थ करनेवाले को मोक्षमार्ग की प्राप्ति अवश्य होती है। यों

तो जीव केवली भगवान की वाणी सुनकर भी पुरुषार्थ नहीं करे तो कोरा रह जाता है। केवली भगवान तो निमित्तमात्र हैं। उपदेश शिक्षामात्र है। वास्तविक तत्त्व का मनन करके, अंतर में श्रद्धा-ज्ञान करके पुरुषार्थ करे तो फल प्राप्त होता है।

कोई पूछता है कि पुरुषार्थ क्रमसर होना होगा तब होगा?

उत्तर:- स्वभाव का निर्णय करना ही पुरुषार्थ है। ऐसे उपदेश का नकार (अस्वीकार) करनेवाला सुनने का पात्र नहीं है। तीर्थंकरों ने उपदेश किया कि हमने जिस द्रव्य-गुण-पर्याय के नियम से आत्मा का ज्ञान किया, उसका निर्णय तुम करो तो आत्मज्ञान होगा।

कोई कहता है कि जब सब क्रमबद्ध है, तो उपदेश व्यर्थ है? उसका उत्तर यह है कि जो ऐसा कहता है उसमें उपदेश सुनने की भी योग्यता नहीं है। पुरुषार्थ पूर्वक कार्य तेरा है और तू पुरुषार्थ कर सकता है, इसीलिये उपदेश देते हैं। उपदेशकार कहते हैं कि तेरा स्वभाव ज्ञान है, उसकी सन्मुखता होने पर ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय होता है।

उपदेश सुनकर पात्र जीव विचार करेंगे कि क्रम होता है और ज्ञान उसको जानता है। ज्ञान स्वभाव के अतिरिक्त आत्मा का अन्य कोई कार्य नहीं है। ऐसा निर्णय करने के लिये उपदेश देतें हैं।

वह उपदेश तो शिक्षामात्र है। शिक्षा का ग्रहण करना तो स्वयं के हाथ में है। तू स्वभाव का निर्णय करे तो क्रम का निर्णय यथार्थ है। अज्ञानी को तो अक्रम का निर्णय है, उसको पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं मिटती। यहाँ तो मोक्षमार्ग की बात है।

अज्ञानी को क्रम का पता नहीं है। जिसको क्रम बैठा (स्वीकृत) ही नहीं उसको क्या पता पड़ेगा? जिसको क्रम का निर्णय हुआ हो वह तो पर का मात्र ज्ञाता रहता है। वस्तुत: पुरुषार्थ पूर्वक निर्णय करनेवाला ही सर्वज्ञ को मानता है। स्व के पुरुषार्थवाला जीव स्व-पर के क्रम को जानता है। अज्ञानी को क्रम की समझ नहीं होने से वह पर में फेरफार करना चाहता है। ज्ञानी तो जानता है कि अज्ञानी जीव को क्रम (क्रमबद्ध) की समझ नहीं है, वह तो मात्र क्रम की बात करता है। ज्ञानी को स्व-पर प्रकाशक स्वभाव खिला है इसलिये वह जानता है कि अपनी अवस्था क्रमबद्ध है और मिथ्यादृष्टि की अवस्था भी क्रमबद्ध है।

....फिर प्रश्न है कि द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के अर्थ गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करता है, वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिये पुरुषार्थ करने से तो कुछ सिद्धि नहीं है?

समाधानः- अन्यथा पुरुषार्थ से फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो? तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्ते उसका फल शास्त्र में तो शुभबन्ध कहा है, और यह उससे मोक्ष चाहता है, कैसे होगा? यह तो भ्रम है।....

प्रश्नः- जीव अनंतबार मुनि हुआ; मोक्ष के लिये गुहस्थपने का त्याग किया, पंचमहाव्रतादि का पालन किया, उपवास किये, दया पालन की, प्रतिक्रमण और प्रोषध किये, वहाँ पुरुषार्थ करने पर भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसलिये पुरुषार्थ करने से भी कुछ भी सिद्धि नहीं है?

उत्तरः- पांच महाव्रत के परिणाम राग है, उनका पालन किया, गृहस्थपना छोड़ा; परन्तु आत्मा की पहिचान नहीं की। इसप्रकार यह सब अन्यथा पुरुषार्थ किया, इससे फल की सिद्धि किस प्रकार हो? वह जीव व्यवहार साधन का प्रेमी-उत्साही हुआ, व्यवहार से धर्म होता है-ऐसा माना, इसलिये उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं हुआ। व्यवहार साधन पुण्य है। राग का अनुरागी होकर मोक्ष को चाहता है तो उसकी सिद्धि किस प्रकार हो? अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है, परन्तु यह सब राग है और अज्ञानी इससे धर्म मानता है। अतः किस प्रकार सिद्धि हो? व्यवहार क्रियाकाण्ड से कल्याण मानना भ्रम है और अन्यथा पुरुषार्थ है। द्रव्यलिंगी को आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ का पता नहीं है इसलिये वह पाप छोड़कर पुण्य में आया है, जंगल में रहा, एक समय आहार और गर्म पानी लेता है अथवा उपवास करता है; परन्तु यह सब राग है। रागरहित आत्मा की पहिचान के बिना कल्याण का बीज (सम्यग्दर्शन) नहीं है। अतः अन्यथा पुरुषार्थ करके कल्याण माननेवाला मूढ़ है।

द्रव्यलिंगी ने अन्यथा पुरुषार्थ किया है। स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं किया है, किन्तु विभाव का किया है। दया,दानादि,पूजा,भक्ति आदि व्यवहार साधन करनेवाले को क्रमबद्ध की समझ नहीं है। क्रमबद्ध की समझ (निर्णय) वाले को स्वभाव की श्रद्धा होती है। वह विभाव को विभाव जानता है। जबकि अज्ञानी विभाव को स्वभाव मानता है। स्वभाव को नहीं समझता, इसलिये अन्यथा पुरुषार्थ करता है, शुभराग से मोक्ष चाहता है।

कोई प्रश्न करें कि यह भी क्रम में था? तो कहते हैं कि क्रम किसको? क्रम तो वस्तु का स्वभाव है, परन्तु उसकी (अज्ञानी की) मान्यता में क्रम नहीं आया है। यदि क्रम (क्रमबद्ध) माना होता तो पुण्य से धर्म नहीं मानता, किन्तु स्वभाव की श्रद्धा करता।

यहाँ शिष्य के प्रश्न का उत्तर दिया कि द्रव्यलिंगी व्यवहार से धर्म मानता है और मोक्ष को चाहता है–यह भ्रम है।

....फिर प्रश्न है कि भ्रम का भी कारण कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करें?

उत्तरः– सच्चे उपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है; परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसी से भ्रम रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे– तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादि हों तब भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति–अनुभाग घटते हैं।....

प्रश्नः– इस भ्रम का कारण भी कोई कर्म हीं है, पुरुषार्थ क्या करे?

उत्तरः– तीर्थंकर भगवान ने स्वभाव का, विभाव का और निमित्त का उपदेश दिया है। सच्चे उपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है, कर्म रोकता नहीं है। सुनने वाला निर्णय करता है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसका कार्य जानना देखना है, पर में फेरफार करना कार्य नहीं है। इसप्रकार सच्चा निर्णय करने पर धर्म होता है; परन्तु यह जीव ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसलिए भ्रम दूर नहीं होता। निमित्त और विकार की दृष्टि छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करने पर भ्रम मिटता है; परन्तु अज्ञानी जीव उस तरह का पुरुषार्थ नहीं करता है। यदि जीव तत्वनिर्णय करे तो मोहकर्म स्वयं टल जाता है। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ–ऐसा निर्णय करने से मोह के स्थिति–अनुभाग घट जाते हैं।

....फिर प्रश्न है कि निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, उसका भी तो कारण कर्म है?

समाधानः– एकेन्द्रियादिक के विचार करने की शक्ति नहीं है, उनके तो कर्महीका कारण है। इसके तो ज्ञानावरणादिक के क्षयोपशम से निर्णय करने की शक्ति हुई है, जहाँ उपयोग लगाये उसी का निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्य

निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता। सो यह तो इसी का दोष है, कर्म का तो कुछ प्रयोजन नहीं है।....

प्रश्नः– इसका कारण भी तो कर्म है न? अर्थात पर तरफ उपयोग लगता है और स्व तरफ नहीं लगता इसका कारण भी तो कर्म है न?

उत्तरः– यहाँ आत्मा का निर्णय करने की बात चलती है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, विकार उपाधि है, संयोग पर है–ऐसे निर्णय में तो जीव पुरुषार्थ नहीं लगाता और दोष कर्म पर डालता है। (यह भ्रान्ति है)

निगोद में भी मति- श्रुतज्ञान का उघाड़ है। वहाँ द्रव्य–गुण पारिणामिक भावरूप है, ज्ञान–दर्शन–वीर्य क्षयोपशमिकभावरूप हैं और भ्रान्ति (मिथ्यादर्शन), राग–द्वेष औदयिक भावरूप हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक में विचार करने की शक्ति नहीं है, उसमें निमित्त कारण कर्म है। उनमें शुद्ध उपदेश के श्रवण की योग्यता नहीं है, इसलिये निर्णय करने की योग्यता नहीं है। इसकारण जड़कर्म को निमित्त कहा जाता है। तुझमें तो निर्णय करने की योग्यता है। जहाँ उपयोग लगावे वहाँ निर्णय हो सकता है। शुद्ध स्वभाव में उपयोग लगावे तो निर्णय हो सकता है; परन्तु यह जीव अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है। सभी आत्मा शुद्धज्ञान से भरे हुए हैं। वैसा ही मैं भी हूँ। मैं अपनी भूल से परिभ्रमण करता हूँ। भूल का अभाव स्वभाव के भान द्वारा होता है। जीव शास्त्र के पाठ पढ़ा करता है; परन्तु आत्मा और ज्ञान के भेद ज्ञान का पुरुषार्थ नहीं करता। व्यापार, धनादि की व्यवस्था, पत्र लिखना इत्यादि में उपयोग लगाता है। अथवा अकेले शास्त्र में ही उपयोग लगाता है। सारी जिंदगी अन्य विचारों में चली जाती है; परन्तु अपना विचार नहीं करता ।

कोई जड़ की क्रिया से अथवा पुण्य–पाप के भाव से आत्मा का निर्णय करना चाहे तो नहीं होता; परन्तु वर्तमान ज्ञानपर्याय को अन्तर्मुख करने पर निर्णय होता है–स्वयं करे तो होता है। जैसे शरीर की खोज के लिए शरीर का अवयव चाहिये, परन्तु लकड़ी काम नहीं आती अथवा अँगुली पर गौंद लगाया हो तो वह काम नहीं आता। इसी तरह आत्मा चैतन्यमूर्ति है। शरीर–मन–वाणी लकड़ी के समान है, उनके द्वारा आत्मा का निर्णय नहीं होता। पुण्य पाप अँगुली पर गौंद के समान हैं, उनके द्वारा भी निर्णय नहीं होता। ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान का

अंश है, उसके द्वारा अंशी आत्मा का निर्णय होता है। जीव इस प्रकार प्रयत्न नही करता। पर्यायवान-शक्तिवान प्रभु का माहात्म्य नहीं करके पुण्य-पाप का माहात्म्य करता है। दोष उपदेशक का नही, स्वयं का है।

व्यवहार करते-करते निश्चय होगा तथा शुभराग कारण और निर्विकारी दशा कार्य-इत्यादि विपरीत निर्णय में उपयोग लगाता है; परन्तु आत्मा का निर्णय नहीं करता। इसलिये भ्रम नहीं मिटता। कोई किसी का कार्य नहीं कर देता है। सारा दोष तेरा है, कर्म का नहीं। कर्म पर दोष डालना मिथ्या है। कर्म का तो कुछ भी प्रयोजन नहीं है। प्रगट ज्ञान पर्याय को राग अथवा निमित्त के सन्मुख झुकाना अथवा स्वभाव सन्मुख झुकाना यह तेरे हाथ की बात है। दुनियां के काम में उपयोग लगाता है,परन्तु निर्णय करने में नहीं लगाता। इस प्रकार दोष स्वयं करता है और कर्म पर दोष डालता है। स्वयं उल्टा निर्णय करता है, उसमें कर्मादि का दोष नहीं है।

....फिर प्रश्न है कि सम्यक्त्व-चारित्र का घातक मोह है, उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे बने?

उत्तरः- तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये वह तो इसीका दोष है। तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है। इसलिये मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। तथा उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है, तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।

और तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है; सो जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषयकषायरूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखादेखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे यह असंभव है।....

प्रश्न:- सम्यग्दर्शन का तथा चारित्र का घातक तो मोह है। अत: उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे हो सकता है?

उत्तर:- तत्वनिर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता यह तो इसी का दोष है। उपदेश सुनकर ज्ञानस्वभाव, विभावस्वभाव, निमित्त का स्वभाव आदि का निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता वह अपना दोष है। आत्मा में अन्तर सन्मुखता करना और बहिर्मुखता छोड़ना ही पुरुषार्थ है।

आत्मा संयोग को लानेवाला अथवा हटानेवाला नहीं है। जब इच्छा को तोड़कर स्वभाव में लीनता करने से पवित्रदशा प्रकट होती है तब कर्म स्वयं टल जाते हैं। इसलिये तत्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जीव ज्ञानस्वभावी है, शरीर अजीवस्वभावी है, आत्मा के आश्रय से संवर, निर्जर और मोक्ष प्रगट होता है। इसप्रकार उपदेश स्वभाव का निर्णय करने के लिये है। उपादान-निमित्त ,निश्चय-व्यवहार,द्रव्य गुण-पर्याय क्या है? इसका निर्णय करने में पुरुषार्थ लगाने से मोक्ष के उपाय के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। प्रथम वस्तु के निर्णय पूर्वक यथार्थ श्रद्धा करना चाहिये। इसके बदले व्रत, तपादि करने लग जाये और उसमें धर्म मान ले तो चार गतियों में परिभ्रमण करता है।

तत्त्वनिर्णय न करने में कर्म का दोष नहीं है; परन्तु तेरा ही दोष है। तू स्वयं तो महंत रहना चाहता है और निर्णय करने को पुरुषार्थ नहीं करता तथा कर्म, काल, भवितव्य आदि का दोष निकालता है। अज्ञानी जीव स्वयं को महंत मानता है और मानता है कि कर्म का अभाव होवे तो धर्म हो; सो त्रिलोकनाथ की आज्ञा मानें तो ऐसी अनीति संभव नहीं है। काल पके तब (धर्म) होता है, कर्म मार्ग दे तो होता है-यह सब अनीति है। वह आत्मा के साथ अन्याय करता है। भगवान से विरूद्ध कहता है।

वीतराग परमात्मा ने देखा होगा तब अपना मोक्ष होगा-ऐसा मानकर प्रमाद करता है। जो कर्म के कारण विकार, संसार अव्रत और प्रमाद होना मानता है वह अनीति करनेवाला है, वह वीतरणीनीति को माननेवाला नहीं है। वीतरागी की आज्ञा तो पुरुषार्थ करने की है। अज्ञानी कहता है कि कर्म के कारण विकार होता है अथवा उपयोग स्थिर नहीं होता- ऐसा गोम्मटसार में कहा है। वस्तुत: वह शास्त्र का अर्थ नहीं समझता। मेरे वीर्यांतराय कर्म का जोर होने से पुरुषार्थ स्फुरायमान नहीं होता; मोहनीय का जोर है इसलिये चारित्र नहीं होता-ऐसा अज्ञानी

कहता है; परन्तु यह जिनआज्ञा नहीं है। निकाचित कर्म बांधा हो तो भोगना ही पड़ता है, रामचन्द्रजी लक्ष्मण की मृतक देह को छह माह तक लेकर घूमते रहे, क्योंकि उनके चारित्रमोहनीय का तीव्र उदय था और जब मंद उदय हुआ तब शव को छोड़ दिया–ऐसा अज्ञानी कहता है। चारित्रमोहनीय कर्म के कारण चारित्र नहीं हो सकता–यह मान्यता अनीति है। स्वयं विपरीत श्रद्धा करता है अथवा चारित्र नहीं लेता वह स्वयं का दोष है। स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। जीव ज्ञान का पुरुषार्थ करता है तो ज्ञान होता है, चारित्र का पुरुषार्थ करता है तो चारित्र होता है। प्रत्येक गुण में शक्ति विद्यमान है, वह अपने से ही कार्य कर रही है। अपने पुरुषार्थ की क्षति से ही सब अटका है।

समयसार गाथा 278–279 में कहा है कि जिसको द्रव्यदृष्टि हुई है वह रागरूप नहीं परिणमता परन्तु निमित्त की रुचि द्वारा बंधन होता है, इसलिए अन्य द्वारा परिणमाया जाता है–ऐसा कहा है। वहाँ आशय यह है कि स्वभाव बंध का कारण नहीं किन्तु पर की रुचि बंध का कारण है, इसलिये परचीज बंध कराती है–ऐसा कहा जाता है। अर्थात् स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वभाव से च्युत होता है तो बंध होता है।

जब द्रव्य–गुण में अशुद्धता नहीं है तो फिर पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आई ? इसलिये कर्म के कारण अशुद्धता आई–ऐसा अज्ञानी मानता है। यहाँ कहते हैं कि जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव नहीं है। आत्मा में केवलज्ञान की सामर्थ्य पड़ी है, उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है–ऐसा माननेवाला अपनी सामर्थ्य को मानता है, वह कर्म की ताकत नहीं मानता।

अज्ञानी कहता है कि कर्म के उदय के कारण बहुत जीव पड़ जाते है ? परन्तु भाई ! ऐसी मान्यतावाला अनीति का सेवन करनेवाला है। तुझे स्वभाव का निर्णय नहीं करना है, पर के प्रति लक्ष्य करके रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। तू लौकोत्तर नीति को नहीं समझता है। कर्म के कारण विषय–कषाय होता है अथवा कर्म टलने पर पुरुषार्थ किया जा सकता है–यह जिनआज्ञा नहीं है।

भगवान ने तो कर्म का ज्ञान कराया है, परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा है कि कर्म आत्मा को रोकते हैं। अज्ञानी जीव को मिथ्यात्वादि भ्रमरूप रहना है और वह पुण्य पाप में उपयोग लगाता है, इसलिये ऐसा झूठ बोलता है। अज्ञानी विपरीत पुरुषार्थ करता है–वह विकार की रुचि

करता है, आत्मा की रुचि नहीं करता। जिसको मोक्ष की अर्थात् आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा की अभिलाषा हो, क्या वह कर्मों को दोष देगा? कर्मों को दोष तो अज्ञानी देता है।

अज्ञानी जीव को स्वभाव की बात नहीं बैठती। वह व्यापारादि में युक्ति करता है और उसमें वीर्य रोकता है, परन्तु धर्म मैं युक्ति लगाकर नहीं समझता। संसार के कार्यों में, व्यापार में फायदा नहीं दिखे तो दूसरा व्यापार करता है; वहाँ पुरुषार्थ किया करता है और यहाँ स्वरूप को समझने में पुरुषार्थ गँवा बैठा है, इससे जाना जाता है कि मोक्ष को देखा-देखी उत्तम कहता है; मोक्ष के स्वरूप को पहचानकर हितरूप नही मानता । उसकी आवश्यकता लगे और पुरुषार्थ न हो- यह असंभव है। तुझे विषय अर्थात् पर के प्रति लक्ष्य और कषाय अर्थात्, मिथ्यात्व,राग, द्वेष इन्हीं का सेवन करना है; परन्तु स्वयं का ध्येय बनाकर सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करना है, इसलिये ऐसा झूठ बोलता है।

जैसे जगत में किसी के रुपये लेकर उसका इन्कार करे तो वह लौकिक अनीति है और दोष अपने से होने पर भी कर्म के कारण दोष होना मानना लौकोत्तर अनीति है। यदि तुझे मोक्ष की वास्तविक अभिलाषा हो तो ऐसा तर्क क्यों बनाता है? अन्य द्रव्य के कारण, कर्म के कारण आत्मा विकाररूप होता है-ऐसा कहकर (प्रमाण के लिये) शास्त्र के कथन बताता है; परन्तु शास्त्र के अर्थ को नहीं समझता। तुझे स्वभाव से हटकर मिथ्यात्व में रहना है, इसलिये ऐसी युक्ति बनाता है।

संसार के कार्यों में सिद्धि होती न लगे तो भी वहाँ राग द्वारा उद्यम किया करता है। इतना माल रक्खूं-इत्यादि संसार के कार्य विचारा करता है-इसप्रकार राग का पुरुषार्थ किया करता है, परन्तु यहाँ धर्म में पुरुषार्थ नहीं करता। इसलिये ज्ञात होता है कि मोक्ष को देखादेखी उत्तम कहता है।

हम क्या करें? अन्तराय कर्म रोकता है -इसतरह अज्ञानी कर्म को दोष देता है। भाई! शास्त्र में निमित्त से कथन आते हैं, परन्तु वहाँ दोष अपना है कर्म तो निमित्तमात्र है-ऐसा समझना चाहिये। अज्ञानी जीव मोक्ष को देखादेखी भला कहता है, परन्तु वास्तव में वह उसको हितरूप नहीं जानता। संसार को हितरूप जानता है, इसलिये उसके लिये पुरुषार्थ करता है, परन्तु मोक्ष को हितरूप नहीं जानता अतः उसके लिये पुरुषार्थ नहीं करता। यदि मोक्ष को हितरूप जाने तो स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रह सकता।

तथा कोई जीव क्रमबद्धपर्याय के नाम से भी स्वच्छन्दता का सेवन करता है। वस्तुतः तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णयवाले को पर से विमुखता और स्वभाव दृष्टि होती है।

अहो! आत्मा ज्ञानस्वभावी है। ज्ञान ज्ञेय को जानता है, राग तथा निमित्त को भी जानता है, जिसको ऐसा स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ हुआ होता है उसको राग और निमित्त की दृष्टि नहीं होती। अर्थात स्वभाव दृष्टिवंत को ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है।

....यहाँ प्रश्न है कि तुमने कहा सो सत्य; परन्तु द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होता है, भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध होता, तथा फिर उसके उदय से भावकर्म होता है- इसीप्रकार अनादि से परम्परा है, तब मोक्ष का उपाय कैसे हो?

समाधानः- कर्म का बन्ध व उदय सदाकाल समान ही होता रहे तब तो ऐसा ही है; परन्तु परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्धकर्म के भी उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमणादि होने से उनकी शक्ति हीनाधिक होती है; इसलिये उनका उदय भी मन्द-तीव्र होता है। उनके निमित्त से नवीन बन्ध भी मन्द-तीव्र होता है। इसलिये संसारी जीवों को कर्मोदय के निमित्त से कभी ज्ञानादिक बहुत प्रगट होते हैं, कभी थोड़े प्रगट होते हैं; कभी रागादिक मन्द होते हैं, कभी तीव्र होते हैं। इसप्रकार परिवर्तन होता रहता है।....

प्रश्नः- तुमने कहा वह सत्य है, परन्तु जड़कर्म के उदयानुसार भावकर्म होता है। तथा जैसा दया, दानादि विकार (भावकर्म) करे वैसा नया बंधन होता है, पुनः कर्म के उदय से राग-द्वेष करने पड़ते हैं - इसी प्रकार अनादि से परम्परा चलती रहती है, वहाँ मोक्ष का उपाय किस प्रकार हो सकता है?

उत्तरः- कर्म का बंध और उदय सदाकाल समान ही हुआ करे तब तो ऐसा ही है। अर्थात् तू कहता है वैसा ही है। परन्तु जीव के परिणामों के निमित्त से पूर्व में बंधे हुए कर्म में स्थिति घट जाती है अथवा बढ़ जाती है। साताकर्म असातारूप अथवा असाताकर्म सातारूप परिणाम जाता है। तथा उस कर्मोदय के समय जीव के परिणाम भी तीव्र-मंद होते हैं। जीव के परिणामों में परिवर्तन होता है। परिणामों की जाति कर्मानुसार रहा करे-ऐसा नहीं होता। कर्म में फेरफार कर्म के कारण होता है। विकार होने में कर्म निमित्त है, परन्तु आत्मा में विकारीभाव तीव्र या मंद स्वयं के कारण होता है। उसके निमित्त से नवीन बंध भी तीव्र अथवा मंद होता है। यहाँ

निमित्त-नैमित्तिक संबंध सिद्ध करना है । कर्म में एक प्रकार का परिणमन नहीं होता और राग में भी एक प्रकार का परिणमन नहीं होता।

जैसे स्फटिक पाषाण के पीछे लाल या काला फूल लगाये वैसी झांई स्फटिक में पड़ती है, इसीतरह कर्म का जैसा उदय हो वैसा राग करना पड़ता है, कर्म का तीव्र उदय हो तो तीव्र और मंद उदय हो तो मंद राग करना पड़ता है- ऐसा अज्ञानी कहता है, परन्तु यह बात मिथ्या है। जीव अपने अपराध के कारण तीव्र-मंद राग-द्वेष करता है। यदि कर्म के कारण राग-द्वेष किया करे तब तो संसार का अन्त कभी आ ही नहीं सकता।

जड़कर्म सत्ता में है वह उदय में आता है। उसका कार्य उसमें है। जीव अच्छे परिणाम करे तो पूर्व के कर्मों में परिवर्तन होता है और नवीन बंध की कम-ज्यादा होता है। यदि यह माना जाये कि कर्म के उदय के कारण जीव को विकार करना पड़ता है, तो कर्म का उदय तो सदा है और उसमें सदा जुड़ना पड़े तब तो संसार का अभाव कभी नहीं होगा। इसलिये यह बात मिथ्या है।

जीव में ज्ञान-दर्शन के क्षयोपशम में परिवर्तन देखा जाता है तथा कषायादि में तीव्रता-मंदता होती है। इसलिये सदा समान विकार हुआ करता है-ऐसा नही होता। समान ही उदय आवे और समान ही विकार करना पड़े-ऐसा नहीं है। अर्थात् कर्म के उदयानुसार राग-द्वेष करने पड़ते हैं-ऐसा नहीं है।

जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है तो आत्मा के परिणाम कर्म के आधीन कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय की कर्ता-हर्ता नहीं है। आत्मा की पर्याय करने में आत्मा स्वतंत्र है। कर्ता, कर्म, करण आदि सब स्वतंत्र है। किसी समय जीव के (ज्ञानादि का) विकास कम-ज्यादा होता है और विकार कम-ज्यादा होता है। (अत: यह सब कर्माधीन नहीं हैं)

....वहाँ कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय प्राप्त की, तब मन द्वारा विचार करने की शक्ति हुई। तथा इसके कभी तीव्र रागादिक होते हैं, कभी मन्द होते हैं। वहाँ रागादिक का तीव्र उदय होने से तो विषयकषायादिक के कार्यों में ही प्रवृत्ति होती है। तथा रागादिक का मन्द उदय होने से बाह्य उपदेशादिक का निमित्त बने और

स्वयं पुरुषार्थ करके उन उपदेशादिक में उपयोग को लगाये तो धर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो; और निमित्त न बने व स्वयं पुरुषार्थ न करे तो अन्य कार्यों में ही प्रवर्ते, परन्तु मन्द रागादिसहित प्रवर्ते। ऐसे अवसर में उपदेश कार्यकारी है।

विचारशक्ति रहित जो एकेन्द्रियादिक हैं, उनके तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है; और तीव्र रागादिसहित जीवों का उपयोग उपदेश में लगता नहीं है। इसलिये जो जीव विचारशक्ति सहित हों, तथा जिनके रागादि मन्द हों; उन्हें उपदेश के निमित्त से धर्म की प्राप्ति हो जाये तो उनका भला हो; तथा इसी अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।

एकेन्द्रियादिक तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें? और तीव्रकषायी पुरुषार्थ करे तो वह पापही का करे, धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

इसलिये जो विचारशक्तिसहित हो और जिसके रागादिक मन्द हों- वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये- या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों में प्रवर्ते, या व्यवहारधर्म कार्यों में प्रवर्तें; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्त्तव्य कुछ नहीं है।

तथा उसके होने पर जीव के स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होनेपर श्रद्धान तो यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना'; परन्तु चारित्रमोह के उदय से रागादिक होते हैं। वहाँ तीव्र उदय हो तब तो विषयादि में

प्रवर्तता है और मन्द उदय हो तब अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में व वैराग्यादि भावना में उपयोग को लगाता है; उसके निमित्त से चारित्रमोह मन्द हो जाता है; –ऐसा होनेपर देशचारित्र व सकलचारित्र अंगीकार करने का पुरुषार्थ प्रगट होता है। तथा चारित्र को धारण करके अपने पुरुषार्थ से धर्म में परिणति को बढ़ाये वहाँ विशुद्धता से कर्म की शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है, और उससे कर्म की शक्ति अधिक हीन होती है। इसप्रकार क्रम से मोह का नाश करे तब सर्वथा परिणाम विशुद्ध होते हैं, उनके द्वारा ज्ञानावरणादिका नाश हो तब केवलज्ञान प्रगट होता है। पश्चात् वहाँ बिना उपाय अघाति कर्म का नाश करके शुद्ध सिद्धपद प्राप्त करता है।

इसप्रकार उपदेश तो निमित्त बने और अपना पुरुषार्थ करे तो कर्म का नाश होता है।....

वहाँ कदाचित संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय प्राप्त की, वहाँ मन द्वारा विचार करने की शक्ति प्रगट हुई। उस जीव को किसी समय तीव्रराग होता है और किसी समय मंदराग होता है। जब परिणामों की तीव्रता हो तब तो अशुभ विषयों में वर्तता है और तब उपयोग धर्म श्रवण में काम नहीं करता। अपने परिणामों में तीव्र विकार होने से धर्म श्रवण में रुचि नहीं करता। कर्म के उदय के कारण रुचि नहीं करता–ऐसा नहीं है। पूर्व में आ चुका है कि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। यदि जड़कर्मों के कारण राग होता हो तब तो यह सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होगा।

जिस प्राणी को रागादिक के तीव्र परिणाम वर्तते हैं और कुदेवादिक की श्रद्धा वर्तती है उसको तो सत्य सुनने का अवसर भी नहीं है; परन्तु राग की मंदता करे, उससमय बाहर से उपदेशादिक का निमित्त बने और अपने पुरुषार्थ पूर्वक उसका विचार करके उससे उपयोग लगाये तो धर्मकार्य में प्रवृति होती है।

तथा उपदेश का निमित्त मिलने पर भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं करे तो उपदेश को निमित्त भी नहीं कहा जाता। बाह्य में निवृत्ति हो, पुस्तक आदि का साधन हो, परन्तु पुरुषार्थ नहीं करे और अन्य कार्य में रुक जाये तो अवसर व्यर्थ चला जाता है; परन्तु मंद रागादिक में वर्ते तव उपदेश को निमित्त कहा जाता है।

विचार शक्ति रहित जीवों को तो उपदेश सुनने का ज्ञान नहीं है। अर्थात् उनमें उपदेश सुनकर विचार करने की शक्ति ही नहीं है। असंज्ञी मछली, असंज्ञी मेढ़क आदि को विशेष ज्ञानशक्ति नहीं होती। तथा संज्ञी जीवों को ज्ञान का विकास तो है; परन्तु उसको उपदेश में न लगाकर तीव्रराग में प्रवर्तन करे तो उपदेश कार्यकारी नहीं है। यदि संसार के कार्यों में रचा-पचा हो तो उपदेश सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। तीव्र विषय-वासना में लगा हो तो उसका उपयोग उपदेश में नहीं लगता। जिस जीव को विचार करने की योग्यता है और रागादिक की मंदता है उसको उपदेश के निमित्त से धर्म की प्राप्ति हो तो उसका भला हो। ऐसे अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है। जो आत्मा के स्वरूप का विचार कर सके उस जीव को उपदेश देते हैं। अल्पज्ञानवाले (असंज्ञी जीवों) को तथा विषय-कषाय में लगे जीवों को उपदेश नहीं देते। जिसको विचार शक्ति प्रगटी है और राग की मंदता हुई है उसको उपदेश का निमित्त मिले और वह पुरुषार्थ करे तो उपदेश कार्यकारी है।

जीव अन्यथा पुरुषार्थ तो अनादि से कर ही रहा है। वह अपने को विकार जितना ही मानता है अथवा कर्म के कारण विकार होना मानता है यही विपरीत पुरुषार्थ है।

स्वयं ज्ञानानंद स्वभावी है- ऐसा निर्णय करके उसमें उपयोग लगाये तो उपदेश कार्यकारी होता है। यदि जीव तत्वनिर्णय करने में उपयोग लगाये तो वहाँ उपयोग लगता है, पर में उपयोग लगाये तो पर में लगता है। शरीर की पर्याय आत्मा के आधीन नहीं है, ज्ञायक स्वभाव शक्ति से परिपूर्ण है, रागादि विकार है, जड़ (शरीर कर्मादि) पर है - ऐसा निर्णय करने से जीव का भला होता है।

जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है उसको स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ चालू ही है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् वह क्रमशः स्वभाव में स्थिरता करता है।

इस काल में स्वभाव की रुचि नहीं करे, संसार के कार्यों की रुचि करे और तत्वनिर्णय नहीं करे तो अवसर चला जायेगा। इसलिये आत्मा में पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। एकेन्द्रियादि में तो सम्यक् पुरुषार्थ नहीं हो सकता था, अब संज्ञी पंचेन्द्रिय होकर भी प्रमाद से काल गंवाता है अथवा मंद रागादि सहित विषय-कषाय के कार्यों में प्रवर्त्तता है अथवा दया,दान,पूजादि व्यवहार धर्म में प्रवर्त्तता है, तो भी अवसर चला जायेगा और संसार में

परिभ्रमण चालू रहेगा। कषाय मंदतावाले जीव शुभ परिणाम में प्रवर्तते हैं; परन्तु जड़ क्या, पुण्य क्या, शुद्ध चिदानंद आत्मा क्या,–इसका निर्णय नहीं करते तो अवसर तो चला जायेगा।

इस जगत में सर्वज्ञ हैं – ऐसा निर्णय जिस ज्ञान ने किया उसको स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ होना चाहिये। आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी है–ऐसा निर्णय करनेवाले को केवलज्ञानी की श्रद्धा है और केवलज्ञानी की श्रद्धावाले को अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा है।

केवली भगवान तो तीनकाल–तीनलोक को एक समय में जानते हैं; तथापि 'अपन जिस काल में जो कार्य करेंगे उस काल सर्वज्ञ भगवान उसको जानेंगे'– ऐसा कोई अज्ञानी कहता है –तो यह बात भी मिथ्या है। यदि ऐसा हो तो केवलज्ञान ही नहीं रहा,परन्तु वह तो अधूरा ज्ञान हुआ। केवलज्ञान भूत–वर्तमान और भविष्य तीनों काल को एक समय में जानता है। सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है और वह ज्ञाता हो जाता है। सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार किसने किया ? अपनी अल्पज्ञ पर्याय होने पर भी मेरी योग्यता अल्पज्ञ रहने की नहीं है। सर्वज्ञदेव भी संसार अवस्था के समय अल्पज्ञ थे और स्वभाव के आश्रय से सर्वज्ञ हुए हैं। वही स्वभाव मेरे में भी है। इसप्रकार अपने सर्वज्ञ स्वभाव का हकार (स्वीकार) और अल्पज्ञ पर्याय का निषेध किया, इसमें पुरुषार्थ है।(और ऐसे जीव ने ही सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार किया है)।

तथा अनेकांत तत्त्व है। ज्ञान में राग नहीं है और राग में ज्ञान नहीं है। इसप्रकार निर्णय करने पर स्वयं ज्ञानसन्मुख होता है यह पुरुषार्थ है।

इस अवसर में, इसतरह तत्त्वनिर्णय नहीं करे और मंदराग सहित वर्ते अथवा व्यवहार धर्म कार्यों में प्रवर्ते, तो भी कार्यकारी नहीं है। कितने ही जीव भद्रपरिणामी होते हैं। उनमें कषाय की मंदता वर्तती है, परन्तु नौ तत्त्वो के निर्णय का पुरुषार्थ नहीं करे तो चौरासी के भव–भ्रमण से छूटना नहीं हो सकता।

इस अवसर में तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास करे तो विशुद्धता बढ़ती है और स्वयं ही दर्शनमोह का उपशम होने पर आत्मा की प्रतीति होती है। दर्शनमोह जड़ है, उसका उपशम करने के लिये आत्मा को पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; परन्तु जब जीव सच्ची प्रतीति करता है तब दर्शनमोह का उपशम होता है। इसलिये जीव का कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय करना

है। तत्त्वनिर्णय करनेवाले को समस्त कारण मिल जाते हैं। अर्थात् दर्शनमोह का उपशम स्वयं होता है। जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार का अभाव नहीं करना पड़ता, उसका अभाव स्वयं होता है, इसीप्रकार आत्मा का निर्णय करने पर स्वयं कर्म का उपशम (क्षयोपशम-क्षयादि) हो जाते हैं, कर्म का अभाव करना नहीं पड़ता। आत्मा का पुरुषार्थ आत्मा से होता है । मैं आत्मा हूँ, पर्याय में पुण्य-पापादि के भाव होते हैं वे मुझे नहीं करना-ऐसा श्रद्धान हुआ। मुझे शुभाशुभभावरूप परिणमन नहीं करना; सम्यक् श्रद्धा होने पर यह प्रतीति होती है।

मैं शरीर,मन,वाणी आदि परपदार्थों की अवस्था नहीं कर सकता, मैं पर की दया अथवा हिंसा नहीं कर सकता, आहार की शुद्धि नहीं कर सकता, इसलिये ये सब बातें तो ली ही नहीं है; परन्तु अपनी पर्याय में जो रागादिभाव होते हैं, वे भी नहीं करना-यह बात ली है। मैं आत्मा हूँ-यह कहते ही जड़, शरीर, मन,वाणीरूप नहीं हूँ -यह बात इसमें आ जाती है। यहाँ तो शुभभाव से भी इंकार किया है। मैं ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा हूँ, मेरे में जड़, शरीर, कर्मादि नहीं है। अनंत अजीव और अनंत आत्मायें मुझसे भिन्न हैं। दया, दानादि के परिणाम भी करने योग्य नहीं हैं। ऐसा श्रद्धान तो (सम्यग्दर्शन होने के साथ ही) हो जाता है; परन्तु स्वयं की कमजोरी से और चारित्रमोह के उदय से व्रतादि के परिणाम होते हैं; तथापि वे करने योग्य नहीं है,क्योकि वे आत्मा को हितकर नहीं है।

चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त से और अपनी कमजोरी से चौथे, पाँचवें, छठवें, गुणस्थान में भूमिकानुसार राग-द्वेष हो जाते हैं। यदि सर्वथा ही पुण्यादिरूप परिणाम न होते हों, तब तो वीतरागता हो जाये और पुण्यादि व्यवहार करने योग्य है-ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। राग करने योग्य नहीं है-ऐसी श्रद्धा होने पर भी साधक को राग हो जाता है। चारित्रमोह में स्वयं का जुड़ना अस्थिरता के कारण है। ज्ञानी को किसी समय आर्त्त-रौद्र ध्यान भी हो जाता है। वह तीव्रराग के समय विषय कषायादि में प्रवर्तता है। खाने में, पीने में, युद्ध में, क्रोधादि में प्रवर्त्तता है; तथापि समझता है कि यह मेरा दोष है। अर्थात् श्रद्धा में इन भावों का निषेध वर्तता है। तथा जब मंदरागरूप प्रवर्त्तता हो तब दया,दानादि की प्रवृति में जुड़ता है। जब स्वयं मंदराग करता है तब चारित्रमोह का उदय मंद है-ऐसा कहा जाता है। उस समय मैत्री, करुणा, प्रमोद, मध्यस्थ की भावना अथवा अनित्यादि बारह भावनायें आती हैं। संसार और शरीर के स्वरूप

का विचार करता है।पाँचवें गुणस्थान में तीव्रराग के समय विषय-कषायादि में तथा मंदराग के समय व्यवहार धर्म कार्यों में जुड़ता है। इसतरह शुभभाव के निमित्त से चारित्रमोह मंद होता है। उसकी दृष्टि तो अकषाय स्वभाव पर ही है। इसप्रकार होने पर दो कषाय के अभाव से पंचम अथवा तीन कषाय के अभाव से छठवें गुणस्थान का अथवा अंतर स्थिरता प्रगट करने का विकल्प आता है।

तथा श्रावकपना-मुनिपना धारण करके पुरुषार्थ करता है-अपने स्वभाव की शुद्धता बढ़ाता है। इसतरह आत्मा में स्थिरता बढ़ाने से विशुद्धता बढ़ती है और कर्मों की शक्ति अधिक हीन होती है और क्रम से मोह का अभाव होकर केवलज्ञान होता है।

इसप्रकार जीव में वीतराग परिणाम होने के पश्चात ज्ञानावरणादि का अभाव होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान प्रगट करने की विधि है, अन्य कोई विधि नहीं है। अज्ञानी जीव कहता है कि व्रत करो, तप करो, उपवास करो; परन्तु यह विधि नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा भी मोक्ष का उपाय नहीं है। वे क्या कहते हैं उसे ख्याल में लेना चाहिये। जीव का नित्य स्वभाव तत्त्व है, पर्याय का उघाड़ तत्त्व है -इसप्रकार तत्त्वाभ्यास करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यहाँ सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक का उपाय बता दिया है। तत्पश्चात प्रयत्न बिना अघातिकर्मों का अभाव हो जाता है और शुद्ध सिद्धदशा प्रगट होती है।

इसप्रकार उपदेश का निमित्त बने और जीव अपने स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म का अभाव स्वयं होता है, कर्म का अभाव करना नहीं पड़ता।

....तथा जब कर्म का उदय तीव्र हो तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता; ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है; वहाँ तो जैसी होनहार हो वैसा होता है। परन्तु जहाँ मन्द उदय हो और पुरुषार्थ हो सके वहाँ तो प्रमादी नही होना; सावधान होकर अपना कार्य करना।

जैसे- कोई पुरुष नदी के प्रवाह मे पड़ा बह रहा है, वहाँ पानी का जोर हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नही, उपदेश भी कार्यकारी नहीं और पानी का जोर थोड़ा हो तब यदि पुरुषार्थ करके निकले तो निकल आयेगा। उसी को निकलने की शिक्षा

देते हैं। और न निकले तो धीरे-धीरे बहेगा और फिर पानी का जोर होने पर बहता चला जायेगा। उसीप्रकार जीव संसार में भ्रमण करता है, वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है, उपदेश भी कार्यकारी नहीं और कर्म का मन्द उदय हो तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे तो मोक्ष प्राप्त कर ले। उसी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं और मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो किंचित् विशुद्धता पाकर फिर तीव्र उदय आने पर निगोदादि पर्याय को प्राप्त करेगा।

इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिये श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्यजीवों को प्रवृति करना।....

'तथा कर्म का तीव्र उदय हो तब तो पुरुषार्थ नहीं हो सकता' -यह भी निमित्त का कथन है। निमित्त है वह नैमित्तिक दशा को बताता है। कोई जीव कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता हो और अशुभ रागादि में ही लगा हो तब तो कर्म का तीव्र उदय होता है और उस समय वह धर्म का पुरुषार्थ नहीं कर सकता। वहाँ जीव अन्यथा पुरुषार्थ तो करता है; परन्तु सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता। अर्थात् मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं करता।

आशय यह है कि तीव्र मिथ्यात्वादि के भाव हों तब निमित्तरूप कर्म का तीव्र उदय होता है, तब तो उपदेश सुनने का अवसर भी नहीं है, इसकारण धर्म का पुरुषार्थ नहीं हो सकता। एकान्त को माननेवाला अर्थात् अनेकान्त को नहीं माननेवाला तीव्र मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार से लाभ माननेरूप एकान्त की रुचिवाले को अनेकान्त का उपदेश सुनने का अवसर भी नहीं है।

तथा अपना पुरुषार्थ कमजोर हो तो ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है। यहाँ करणानुयोग की अपेक्षा से कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाया है। जीव का उल्टा पुरुषार्थ होता है तब कर्म का तीव्र उदय निमित्त होता है । अत: तीव्र उदय के कारण मंद पुरुषार्थ करता है और ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है। वस्तुत: तो अपनी योग्यतानुसार गिरता है। वहाँ तो जैसी होनहार हो वैसा ही होता है। होनहार अर्थात् अपनी आत्मा की उस समय की योग्यता अनुसार दशा। कर्म का तीव्र उदय निमित्तमात्र है। वह निमित्त तो उस जीव के उल्टे-पुरुषार्थ को दर्शाता है। कर्म का दाव कभी नहीं आता, प्रत्येक समय उपादान ही

बलवान है। चैतन्य सूर्य का ऐसा स्वभाव है कि अपने उपादान बल से ही कार्य करता है, निमित्त का दाव नहीं हैं। निमित्त और नैमित्तिक के काल भेद नहीं है, दोनो का समय एक ही है।

तथा अपने में मिथ्यात्व की मंदता हो और विकार की मंदता हो तब पुरुषार्थ करना चाहिये, प्रमाद नही करना चाहिये। सावधान होकर अपना कार्य करना चाहिये। जैसे कोई पुरुष नदी के प्रवाह में पड़ा बहता जाता हो, वहाँ पानी का जोर हो तब तो उसका कुछ पुरुषार्थ नहीं चलता, वहाँ उसके तिरने की शक्ति मंद है, इसलिये पानी का जोर निमित्त कहलाता है। वहाँ दूसरा उसको निकलने के लिये कहे तो भी कार्यकारी नहीं होता, परन्तु जब पानी का जोर थोड़ा हो तब पुरुषार्थ करके निकलना चाहे तो निकल सकता है और उसी को निकलने की शिक्षा देते हैं; परन्तु यदि नहीं निकले तो प्रवाह में बहेगा और पानी का जोर होने पर बहता चला जायेगा।

इसीप्रकार यह जीव संसार में भ्रमण करता है, वहाँ कर्म का तीव्र उदय हो तब तो सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है। ''कुछ पुरुषार्थ नहीं'' अर्थात धर्म का पुरुषार्थ नहीं, किन्तु अन्यथा पुरुषार्थ तो करता है; तब उपदेश भी कार्यकारी नहीं है; परन्तु स्वयं सही पुरुषार्थ करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा को प्राप्त कर सकता है।

जीव के पुरुषार्थ की उग्रता हो और कर्म का उदय मंद हो तो पुरुषार्थ करके धर्म को प्राप्त कर सकता है और उसी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। परन्तु यदि वह मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो फिर से तीव्र परिणाम होने पर नरकादि में जाता है। अर्थात् दया,दानादि के शुभभाव में ही रुक जाये, किन्तु तत्त्व का निर्णय नहीं करे तो फिर से तीव्र मिथ्यात्व हो जाने पर निगोदादि में चला जायेगा।

इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। सुननेवाले को शुभ विकल्प वर्तता है, अतः उससे कहते हैं कि अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है। अर्थात् पंचेन्द्रियपना है, क्षयोपशम है, मनुष्यपना है, उपदेश मिला है- इसप्रकार सब अवसर आया है। तेरे लिये कर्म की तीव्रता है ही नहीं- ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिये श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना। दुनिया में मान-सम्मान के लिये, प्रतिष्ठा के लिये यह अवसर मत चूकना। इस सत्य बात को स्वीकार

करने से हमारी बात मिथ्या सिद्ध होगी- ऐसा विचारकर अवसर चूकना योग्य नहीं है। तेरी काललब्धि, होनहार सब पक गई है, तेरे कर्म का तीव्र उदय नहीं है। तू सुनने आया है, इसलिये तेरे कर्म की स्थिति घट गई है -इसप्रकार मोक्षमार्ग की प्राप्ति का सब अवसर आया है। पूर्ण स्वभाव को स्मरण (स्वीकृत) कर! वर्तमान पुरुषार्थ कर! मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कर! साधकदशा में पुण्य-पाप के परिणाम तो आयेंगे; परन्तु उनमें प्रवृत्ति करने को नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही प्रवृत्ति करने को कहा है।

मोक्षमार्ग का स्वरूप

....अब मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते है :-

जिनके निमित्त से आत्मा अशुद्ध दशा को धारण करके दु:खी हुआ- ऐसे जो मोहादिककर्म उनका सर्वथा नाश होने पर केवल आत्मा की सर्वप्रकार शुद्धअवस्था का होना- वह मोक्ष है। उसका जो उपाय -कारण; उसे मोक्षमार्ग जानना।....

यहाँ तक पीठिका बताई है। अब मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाते हैं।

मोहकर्म के निमित्त से आत्मा अशुद्धता धारण करता है। निमित्त है सो नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है। पुण्य-पाप, काम-क्रोधादि अशुद्ध भावों से जीव दु:खी हुआ है। परपदार्थ की इच्छा ही दु:ख है। राग में सुख मानना भ्रम है। यहाँ कर्म का सर्वथा नाश होने पर आत्मा की सर्वप्रकार से शुद्धदशा होना मोक्ष है। जिस जीव को संसारदशा का अभाव करके मोक्षदशा प्रगट करना हो उसको मोक्षमार्ग का स्वरूप समझना चाहिये।

"मोक्ष कही निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ"

अपने स्वरूप की सम्पूर्ण शुद्धता ही मोक्ष है और मोक्ष का उपाय मोक्षमार्ग है।

....वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता, और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो। जैसे- मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यत: तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे-

अनशनादि बाह्यतप का साधन करने पर मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्यतप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं जिनके होने पर कार्यसिद्धि होती ही होती है, और जिनके न होनेपर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही है, और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता। -ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव सो मोक्षमार्ग जानना। इस सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।

वही 'सूत्र में' कहा है :- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।।"

इस सूत्र की टीका में कहा है कि यहाँ "मोक्षमार्गः" ऐसा एकवचन कहा, उसका अर्थ यह है कि तीनों मिलने पर एक मोक्षमार्ग है, अलग-अलग तीन मार्ग नहीं हैं।....

अब कारण की बात आती है। कारण अनेक प्रकार के होते हैं, कोई कारण तो ऐसे होते हैं कि:-

(1) जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य होता भी है अथवा नहीं भी होता।

मुनिलिंग-दिगम्बर दशा हुए बिना तो किसी को केवलज्ञान नहीं होता। जो जीव स्वयं केवलज्ञान प्रगट करता है तो उसको (मुनिदशा को) निमित्तरूप समर्थ कारण कहते हैं; परन्तु अंतर में भावलिंग दशा न हो तो बाह्य नग्नदशा को असमर्थ कारण कहते हैं। उपादान में भावलिंगपना प्रगटे और बाह्य में नग्नपना न हो ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ कहते हैं कि मुनिलिंग बिना केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है अथवा नहीं भी होता। भावलिंग होता है तो मोक्ष होता है और भावलिंग नहीं हो तो मोक्ष नहीं होता। भावलिंग हो तो द्रव्यलिंग में समर्थ कारण का आरोप आता है।

जीव आत्मा के दर्शन-ज्ञान (सम्यग्दर्शन-ज्ञान) सहित चारित्र प्रगट करता है तब नग्न दशा होती है। इसप्रकार उपादान और निमित्त दो कारण को समर्थ कारण कहते हैं। मुनिलिंग

धारण किये बिना मोक्ष नहीं होता। अर्थात् अंतर चारित्रदशा (सकलचारित्ररूप भावलिंग) और बाह्य मुनिलिंग –इन दो कारणों को समर्थकारण कहते हैं। परन्तु यदि आत्मा का ज्ञान न हुआ हो और अकेली बाह्य नग्नदशा हो तो उसको असमर्थकरण कहते हैं। अर्थात् उसमें निमित्त होने की योग्यता नहीं है। चारित्र प्रगटने पर तीन कषाय की प्रवृत्ति का अभाव नहीं होवे ऐसा नहीं होता। जब प्रतिबंध का अभाव होवे और स्वरूप लीनता का पुरुषार्थ करे तब बाह्य में नग्नदशा न हो ऐसा नहीं होता। अंतर में चारित्र का पुरुषार्थ और बाह्य में नग्नदशा दोनों को सहकारी समस्त सामग्री कहते हैं और उससमय कर्म के प्रतिबंध का अभाव होता है उसकों समर्थकारण कहते हैं।

बाहर के संयोग मिलाने का प्रयत्न करना नहीं पड़ता। जब अंतर स्वभाव के आश्रय से रागरहित रुचि होकर अंतर स्थिरता होती है, तब कर्मरूपी प्रतिबंध का अभाव और अन्य सहकारी सामग्री का सद्भाव होता है।

(2) कोई कारण ऐसे होते हैं कि मुख्यपनें तो जिनके होने पर कार्य होता है तथा किसी को उनके हुए बिना भी कार्य सिद्ध होता है।

मोक्षमार्ग में कितने ही जीवों के बारह प्रकार के तप का निमित्त होता है; परन्तु भरत आदि किन्हीं जीवों के तप का निमित्त नहीं था। वह निमित्तकारण होवे ही–ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मुनिलिंगरूप निमित्तकारण तो होता ही है। इसप्रकार निमित्तकारणों में अंतर डालते है। तप (बाह्यतप) न होने पर भी भरत महाराज स्वभाव में लीन होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। जिनको उपादान में चारित्रदशा प्रगटी हो उनमें से किन्हीं को तप का निमित्त होता है, किन्हीं को नहीं भी होता। तप का तो नियम नहीं है; परन्तु शरीर का नग्नदशा का नियम है। मोक्षदशा में मनुष्यपना, बादरपना उत्तम संहनन आदि सहकारी समर्थकारण है।

(3) कोई कारण ऐसे हैं कि जिनके होने से कार्यसिद्धि अवश्य होती है तथा जिनके न होने पर कार्यसिद्धि सर्वथा नहीं होती।

आत्मा की श्रद्धा–ज्ञान और चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। इसके होने पर मोक्षरूपी कार्य सिद्ध होता ही है, और इसके हुए बिना सर्वथा कार्य नहीं होता। और उस समय इसके प्रतिबंध (कर्म) का अभाव न हो यह भी नहीं होता।

इसप्रकार यहाँ तीन कारण कहे गये हैं-

(1) मोक्ष के समय निमित्तकारणरूप नग्नदशा होती ही है।

(2) मोक्ष के समय तप को निमित्तकारण कहा; परन्तु वह हो ही ऐसा नियम नहीं है।

(3) उपादान कारण अर्थात् आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्ररूप कारण होता ही है।

आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धदशा का उत्पाद, संसाररूप मलिनदशा का व्यय और जीवद्रव्य का ध्रुवपना-इसप्रकार एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप कारण ऐसा है कि जिसके होने से मोक्ष अवश्य होता है और नहीं होने पर मोक्ष ही नहीं होता। यहाँ सम्यग्दर्शन अथवा मोक्षमार्ग का कारण द्रव्य (द्रव्यस्वभाव) सिद्ध नहीं करना है, परन्तु मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग है -यह बात बतलाना है।

आत्मा एक समय में परिपूर्ण है, वर्तमानदशा के अल्पज्ञता और विकार होने पर भी (आत्मस्वभाव) सर्वज्ञशक्ति से भरा है। ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करने से मोक्ष होता है। उस समय मनुष्य देह, उत्तम संहनन आदि बाह्य निमित्त होते हैं। दोनों को समर्थ कारण कहते हैं। साथ ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप प्रतिबंध का अभाव होता है।

जैसे दीपक प्रगटने (जलने) की योग्यता के समय तेल, डिब्बी, दियासलाई आदि सहकारी सामग्री होती है और पवनरूप प्रतिबंध का अभाव होता है। इन सबको समर्थकारण कहते हैं। इसीप्रकार मोक्ष के कारणरूप व्यवस्था समझना चाहिये।

जीव को क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्रगटता के समय केवलीभगवान को सहकारी समर्थकारण कहते हैं और जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट नहीं करता उसके लिए भगवान असमर्थकारण कहलाते हैं। इसप्रकार एक ही पदार्थ में दो प्रकार का आरोप आता है। उपादान में होनेवाले कार्य के अनुसार निमित्त में आरोप किया जाता है। केवलज्ञान के समय उत्तम संहनन को समर्थकारण कहते हैं; परन्तु जीव केवलज्ञान प्रगट नहीं करे तो उसको ही असमर्थकारण कहते हैं। संहनन तो वह का वही है, तथापि समर्थकारण होने की योग्यता नहीं है, क्योकि उपादान में कार्य प्रगट नहीं हुआ।

यह तीसरा कारण, जो कि उपादान कारण है, इस पर वजन है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करने से अवश्य मोक्ष होता है। बाहर के तप से मोक्ष हो अथवा नहीं भी हो, इसलिये वह नियमरूप निमित्त नहीं है। आत्मा का पुरुषार्थ न हो और मोक्षरूपी कार्य हो जाये-ऐसा तो कभी होता ही नहीं। अत: आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार तीन कारण कहे, उनमें अतिशयपने निश्चय से आत्मा की पूर्णदशा अथवा सिद्धदशा का साधक अथवा कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकतामय भाव है।

पण्डित टोडरमलजी का क्षयोपशम बहुत था। उन्होंने अनेक पक्षों से बात लिखी है, तथापि लोग सम्प्रदाय चलाने के लिये, परम्परा टिकाने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास नहीं करते; परन्तु उनकी लिखी यह बात बहुत सरस है।

श्वेताम्बरमत पन्द्रह भेद से सिद्ध होना कहता है। उसमें गृहस्थलिंग और स्त्रीलिंग से सिद्ध होना कहता है, परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान होने के बाद देव उन्हे शरण और मुहपट्टी देते हैं-यह बात मिथ्या है। नग्न मुनिदशा हुए बिना केवलज्ञान होता ही नही। स्त्री को मुनिलिंग नहीं होता और न केवलज्ञान होता है।

अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से एक भी नहीं होता तो मोक्षमार्ग नहीं होता। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। ये तीनों अलग-अलग मार्ग नहीं है। व्यवहार, मोक्षमार्ग नहीं है यह बात तो आ गई; परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से एक न हो तो भी मोक्षमार्ग नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा मोक्षमार्ग नहीं है। वह तो 'घी का घड़ा' की तरह (उपचार से) मोक्षमार्ग कहलाता है; परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ये तीनों मिलकर एक मोक्षमार्ग है, इनमें से एक भी कम हो तो मोक्षमार्ग नहीं है, तो फिर राग को मोक्षमार्ग किस प्रकार कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन होकर एक मोक्षमार्ग है, तीन मोक्षमार्ग नहीं है।

....यहाँ प्रश्न है कि असंयत सम्यग्दृष्टि के तो चारित्र नहीं है, उसको मोक्षमार्ग हुआ है या नहीं हुआ है?

समाधान:- मोक्षमार्ग उसके होगा, यह तो नियम हुआ; इसलिये उपचार से इसके मोक्षमार्ग हुआ भी कहते हैं; परमार्थ से सम्यक्चारित्र होने पर ही मोक्षमार्ग होता है। जैसे किसी पुरुष को किसी नगर चलने का निश्चय हुआ; इसलिये उसको व्यवहार से ऐसा भी कहते हैं कि 'यह उस नगर को चला है'; परमार्थ से मार्ग में गमन करने पर चलना होगा। उसी प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि को वीतरागभावरूप **मोक्षमार्ग का श्रद्धान हुआ; इसलिये उसको उपचार से मोक्षमार्गी कहते हैं; परमार्थ से वीतरागभावरूप परिणमित होने पर ही मोक्षमार्ग होगा। तथा प्रवचनसार में भी तीनों को एकाग्रता होने पर ही मोक्षमार्ग कहा है। इसलिये यह जानना कि तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना तो रागादि घटाने से मोक्षमार्ग नहीं है, और रागादि घटाये बिना तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है। तीनों मिलने पर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है।....**

प्रश्न:- निमित्त की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है, रागादि परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु चैतन्य स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है, तो फिर असंयत सम्यग्दृष्टि के चारित्र नहीं है। अत: उसको मोक्षमार्ग है या नही ? चौथे गुणस्थानवाले को सम्यग्दर्शन तो है; परन्तु चारित्र नहीं है, तो उसको मोक्षमार्ग है या नहीं ?

उत्तर:- मै शुद्ध आनंदकंद सिद्धसमान आत्मा हूँ , ऐसी प्रतीतिवंत को चारित्र आये बिना नहीं रहेगा, वह नियम से चारित्र प्रगट करेगा। ऐसी अपेक्षा से उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र आये बिना नहीं रहेगा। चारित्र होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होगी। इसलिये उसके वर्तमान में मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। जिसको जैसा सत्य है वैसा प्रतीति में आया है उसको स्वरूपरमणता होगी ही, इसलिये सम्यग्दृष्टि को-चौथे गुणस्थानवाले को उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। वस्तुत: तो सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकता छठवें गुणस्थान में होती है। मुनिराज को एक बार आहार ग्रहण करने की वृत्ति होती है। उन वनविहारी मुनिराज के चारित्र प्रगट होने से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

जैसे किसी पुरुष को किसी नगर में जाने का निश्चय हुआ, इसलिये व्यवहार से ऐसा भी कहते हैं कि यह अमुक नगर जाता है; परन्तु परमार्थ से तो मार्ग में गमन करने पर ही चलना

होगा। इसीप्रकार चौथे गुणस्थानवाले धर्मीजीव को पंचेन्द्रियों के विषयों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है तथा अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का अभाव भी नहीं हुआ है, परन्तु पुण्य-पाप रहित स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान हुए हैं, इसलिये उसको उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। प्रवचनसार में भी मुनि को वास्तव में मोक्षमार्ग कहा है। ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता यह एक ही मोक्षमार्ग है। असंयत सम्यग्दृष्टि को वीतरागभाव का श्रद्धान हुआ है। इसलिये व्यवहार से मोक्षमार्ग कहते हैं। वह भी परमार्थ से छठवें-सातवें गुणस्थान में वीतरागभावरूप दशा होने पर मोक्षमार्ग होगा। मुनिराज सम्पूर्ण दुनिया से उदास हुए हैं; उनके रोमरोम में वैराग्य है; एक बार आहार ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न होती है उसको भी वे प्रमाद मानते हैं। वे ध्यान के अभिलाषी हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर मुनिपना अथवा मोक्षमार्ग है। यहाँ मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग है, उस कारण से मोक्ष होता है-यह बतलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शन को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। जबकि समयसार में सम्यग्दर्शन हुआ अत: मोक्ष हुआ और मिथ्यात्व जाने पर संसार नहीं रहता ऐसा कहा है। वहाँ द्रव्य की श्रद्धा अपेक्षा से मुक्ति कही है। पर्याय में मुक्ति नहीं, परन्तु मोक्ष का कारणरूप मोक्षमार्ग भी व्यवहार से है। इसलिये कथनों की अपेक्षा समझना चाहिये।

यहाँ ऐसा जानना कि तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना तो रागादि घटाने पर भी मोक्षमार्ग नहीं है। आहार के प्रति राग घटाये, कषाय की मंदता करे, उपवास करे तो भी वह मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्ष का वास्तविक कारण तो यथार्थ मोक्षमार्ग है।

तथा स्वरूप की लीनता बिना मात्र तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी जहाँतक राग नहीं घटता और तीन कषाय चौकड़ी का अभाव नहीं होता वहाँतक मोक्षमार्ग नहीं है। तत्त्वश्रद्धान और ज्ञान साथ होते हैं, तथापि चारित्र के बिना मोक्षमार्ग नहीं हैं।

तत्त्वश्रद्धान ज्ञान और राग को घटाना-इन तीनों के मिलने से मोक्षमार्ग होता है। मुनिराज के साक्षात मोक्षमार्ग है, चौथे गुणस्थानवर्ती के परम्परा से मोक्षमार्ग है। चारित्र साक्षात् धर्म है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना चारित्र और चारित्र के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता।

....अब, इनका निर्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षाद्वार से निरूपण करते हैं:-

वहाँ 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' -ऐसा नाममात्र कथन वह तो 'निर्देश' जानना।

तथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भवपने से रहित हो और जिससे इनको पहिचाना जाये सो 'लक्षण' जानना; उसका जो निर्देश अर्थात् निरूपण सो 'लक्षणनिर्देश' जानना।

वहाँ जिसको पहिचानना हो उसका नाम लक्ष्य है, उसके सिवा और का नाम अलक्ष्य है। सो लक्ष्य व अलक्ष्य दोनों में पाया जाये, ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये वहाँ अतिव्याप्तिपना जानना। जैसे- आत्मा का लक्षण 'अमूर्त्तत्व' कहा; सो अमूर्त्तत्वलक्षण लक्ष्य जो आत्मा है उसमें भी पाया जाता है, और अलक्ष्य जो आकाशादिक हैं उनमें भी पाया जाता है; इसलिये यह 'अतिव्याप्त' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को पहिचानने से आकाशादिक भी आत्मा हो जायेंगे; यह दोष लगेगा।

तथा जो किसी लक्ष्य में तो हो और किसी में न हो, ऐसे लक्ष्य के एकदेश में पाया जाये- ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये वहाँ अव्याप्तिपना जानना। जैसे- आत्मा का लक्षण केवलज्ञानादिक कहा जाये; सो केवलज्ञान किसी आत्मा में तो पाया जाता है, किसी में नहीं पाया जाता; इसलिये यह 'अव्याप्त' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा को पहिचानने से अल्पज्ञानी आत्मा नहीं होगा; यह दोष लगेगा।

तथा जो लक्ष्य में पाया ही नहीं जाये, ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये- वहाँ असम्भवपना जानना। जैसे- आत्मा का लक्षण जड़पना कहा जाये; सो प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह विरुद्ध है; क्योंकि यह 'असम्भव' लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा मानने से पुद्गलादिक आत्मा हो जायेंगे, और आत्मा है वह अनात्मा हो जायेगा; यह दोष लगेगा।

इसप्रकार अतिव्याप्त, अव्याप्त तथा असम्भवी लक्षण हो वह लक्षणाभास है। तथा लक्ष्य में सर्वत्र पाया जाये और अलक्ष्य में कहीं न पाया जाये वह सच्चा लक्षण है। जैसे- आत्मा का स्वरूप चैतन्य है; सो यह लक्षण सर्व ही आत्मा में तो पाया जाता है, अनात्मा में कहीं नहीं पाया जाता; इसलिये यह सच्चा लक्षण है।

इसके द्वारा आत्मा मानने से आत्मा-अनात्मा का यथार्थज्ञान होता है; कुछ दोष नहीं लगता। इसप्रकार लक्षण का स्वरूप उदाहरणमात्र कहा।....

अब मोक्षमार्ग का निर्देश,लक्षणनिर्देश तथा परीक्षा द्वारा निरूपण करते हैं।

वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसे शब्द कहना तो निर्देश है। तथा उसका लक्षण ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा इसे ही पहिचाना जा सके, उसमें कोई दोष नहीं आना चाहिये। मोक्षमार्ग का लक्षण उसके पूरे भाग में व्यापना चाहिये, वह अव्याप्ति दोष रहित है। उसके सिवा अन्य में नहीं व्यापना चाहिये, वह अतिव्याप्ति दोष रहित है, और वह लक्षण उसमें न हो ऐसा नहीं होना वह असंभव दोष रहित लक्षण है। इसप्रकार तीन प्रकार के दोषों से रहित ही सच्चा लक्षण होता है। उसका निरूपण करने को लक्षण निर्देश कहते हैं।

वहाँ जिसको पहिचानना हो उसका नाम लक्ष्य है, उसके अतिरिक्त अन्य का नाम अलक्ष्य है। सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्वार्थश्रद्धान लक्षण है।

अब जो लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में हो ऐसा लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला जानना। जैसे आत्मा का लक्षण अमूर्तिक कहे तो वह मिथ्या है। अमूर्तपना आत्मा में तो है, परन्तु धर्मादि द्रव्यों में भी है; इसलिये यह वास्तविक लक्षण नहीं हैं यह अतिव्याप्ति दोषवाला लक्षण है।

लक्षण के द्वारा एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से भिन्न किया जा सकता है; परन्तु अमूर्त्तपने से मात्र आत्मा ही नहीं पहिचाना जाता, कारण कि वह लक्षण धर्मादि द्रव्यों में भी व्याप्त है। इसलिये अमूर्त्तपना आत्मा का सच्चा लक्षण नहीं है, वह अतिव्याप्ति दोषवाला है। जो लक्षण लक्ष्य की ही पहिचान कराता है वह सच्चा लक्षण है। अमूर्त्तपने से आत्मा की पहिचान करने पर आकाशादि भी आत्मा हो जायेंगे -यह दोष आयेगा।

जो लक्षण किसी लक्ष्य में तो हो और किसी में न हो-इसप्रकार लक्ष्य के एक भाग में व्याप्त हो वह अव्याप्ति दोषवाला लक्षण है। आत्मा का लक्षण केवलज्ञान कहा जाये तो अनंतसिद्धों और केवलियों में केवलज्ञान है, परन्तु इनके अतिरिक्त छद्मस्थ जीवों में केवलज्ञान (लक्षण) व्याप्त नहीं है। इसलिये केवलज्ञान लक्षण अव्याप्ति दोषवाला है।

अज्ञानी जीव सावद्य-निरवद्य की बातें करता है, परन्तु उनके लक्षण का उसको पता नहीं है। सावद्य और निरवद्य आत्मा के परिणाम हैं। स्वभाव के लक्ष्य से रागरहित दशा प्रगट करना निरवद्य है और आत्मा के भान बिना मात्र शुभाशुभ परिणाम करना सावद्य है। तथा अज्ञानी कहता है कि मेघकुमार के जीव ने पूर्व में हाथी के भव में पैर ऊँचा किया और खरगोश बच गया। उस बचाने के शुभपरिणाम को अज्ञानी निरवद्य कहता है और धर्म कहता; परन्तु यह बात मिथ्या है। वह शुभ परिणाम सावद्य है-पुण्यबंध का कारण है। यदि शुभभाव को निरवद्यपने का लक्षण माना जाये तो वह अभव्य में भी लागू पड़ेगा और तब तो अभव्य का भी मोक्ष हो जायेगा; परन्तु यह सच्चा लक्षण नहीं हैं। यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है।

यहाँ अव्याप्तिदोष की बात चलती है। केवलज्ञान को जीव का लक्षण माना जाये तो केवलज्ञान समस्त जीवों में नहीं होता। इस लक्षण के द्वारा आत्मा को पहिचानने पर अल्पज्ञानी जीव आत्मा नहीं ठहरेंगें।

तथा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाये तो उसमे अव्याप्तिदोष आता है। कारण की केवली भगवान को वैसा राग नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शन है। तथा वैसा राग मिथ्यादृष्टि जीवों में भी होता है, तो सम्यग्दर्शन मिथ्यादृष्टि जीवों में व्याप जायेगा और अतिव्याप्ति दोष आयेगा। इसलिये यह सच्चा लक्षण नहीं है।

लक्षण लक्ष्य की सब जातियों में होना चाहिये; किसी में हो और किसी में न हो तो अव्याप्तिदोष आता है।

अब तीसरे असंभव दोष की बात करते हैं। जो लक्षण लक्ष्य में हो ही नहीं उस लक्षण में असंभव दोष आता है।

आत्मा मूर्त है-ऐसा कहने में असंभवदोष आता है। किसी भी आत्मा में जड़पना नहीं हो सकता। यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाणादि से विरुद्ध है, इसलिये यह आत्मा का लक्षण नहीं है। यदि जड़पने को आत्मा का लक्षण कहा जाये तो पुद्गलादि आत्मा हो जायेंगे और आत्मा अनात्मा हो जायेगा। कोई जीव समझता नहीं हो तो उसको जड़ जैसा कहते हैं; परन्तु इससे वह जड़ हो नहीं जाता।

इसप्रकार जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवित लक्षण होते हैं वे सच्चे लक्षण नहीं हैं। जो लक्षण लक्ष्य में तो सर्वत्र पाया जाये और अलक्ष्य में कहीं नहीं पाया जाये वह सच्चा लक्षण है। जैसे आत्मा का लक्षण चैतन्य है। अर्थात् जानना-देखना यह लक्षण है; यह लक्षण निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों में है, इसलिये यह सच्चा लक्षण है। अमूर्त्तपना, केवलज्ञान और जड़पना-यह आत्मा का सच्चा लक्षण नहीं है।चैतन्य लक्षण अभव्य में है, निगोद में है और सिद्ध में भी है। अर्थात् समस्त आत्माओं में है और किसी भी अनात्मा में नहीं है। इसलिये यह सच्चा लक्षण है। इस लक्षण के द्वारा आत्मा को मानने पर आत्मा और अनात्मा का सच्चा ज्ञान होता है और कोई दोष नहीं आता है।

इसप्रकार जीव का लक्षण चैतन्य ही है। यही निर्दोष लक्षण है। इस लक्षण से जीव को पहिचाना जाता है।

इसप्रकार यहाँ जीव के लक्षण का तो दृष्टान्त दिया है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनो का लक्षण बताना है।

संतों द्वारा कथित आगम का सार लेकर पण्डित टोडरमलजी ने इस शास्त्र की रचना की है; परन्तु अभी सम्यग्दर्शन का वर्णन भी पूरा नहीं हुआ था कि पण्डितजी का देहान्त हो गया और यह शास्त्र अपूर्ण ही रह गया।

सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण

....अब सम्यग्दर्शनादिक का सच्चा लक्षण कहते हैं :-

विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिकतत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-यह सात तत्त्वार्थ हैं। इनका जो श्रद्धान- 'ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है' -ऐसा प्रतीति भाव, सो तत्त्वार्थश्रद्धान; तथा विपरीताभिनिवेश जो अन्यथा अभिप्राय उससे रहित; सो सम्यग्दर्शन है।

यहाँ विपरीताभिनिवेश के निराकरण के अर्थ 'सम्यक्' पद कहा है, क्योंकि 'सम्यक्' ऐसा शब्द प्रशंसावाचक है; वहाँ श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव होने पर ही प्रशंसा सम्भव है ऐसा जानना।....

सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है-यह बताते हैं।

विपरीत अभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यहाँ सात तत्त्वों की बात ली है, उसमें देव-शास्त्र-गुरु भी समाहित हो जाते हैं।यहाँ मोक्षमार्ग के सम्यग्दर्शन की बात है । अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है । तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं, किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन है। जीव,अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा होनी चाहिये। संवर-निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा में गुरु की श्रद्धा समाहित हो जाती है और मोक्ष तत्त्व में देव की श्रद्धा समाहित हो जाती है।

जीव, जीव है, अजीव नहीं। जीव के कारण शरीरादि नहीं है और शरीरादि के कारण जीव नहीं है। जीव और अजीव दोनो तत्त्व भिन्न-भिन्न है। जीव तो ज्ञायकमूर्ति चैतन्य है और शरीरादि अजीव है। आत्मा के कारण शरीर चलता है-ऐसा माननेवाले को जीव-अजीव की श्रद्धा नहीं हैं।

पुण्य-पापादि आस्रव अर्थात् आत्मा की पर्याय में होनेवाले विकारीभाव। उन्हें धर्म माननेवाले को आस्रव तत्त्व की श्रद्धा नहीं है। उसने सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न नहीं माना है। जैसे एक तरबूज के साथ टुकड़े किये हो, वहाँ कोई लड़का दो भाग ले लेवे तो सात भाग नहीं रहते। इसीप्रकार इस जगत में जीव-अजीव आदि सात तत्त्व है, उन्हे जैसे हैं वैसे स्वतंत्र न जाने और एक को दूसरे में मिला दे, तो ऐसे जीव को सात तत्त्वों की प्रतीति नहीं है। धर्म पिता सर्वज्ञदेव ने इन सात तत्त्वों के सात भाग करके बतलाये हैं। उसमें कर्म के कारण जीव को विकार माननेवाले ने अपना भाग नहीं जाना है। सात तत्त्वों में प्रत्येक का लक्षण अलग-अलग है। प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने लक्षण से पहिचाना जाता है।

जीवतत्त्व की ताकत अपने गुण-पर्याय में है; परन्तु जीव की ताकत शरीर आदि अजीव में नहीं है। इसप्रकार सात तत्त्वों को ज्यों का त्यों जानकर श्रद्धा करना तत्त्वार्थश्रद्धान है और वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। बंध तत्त्व से धर्म माननेवाले ने बंध तत्त्व का भाग छीन लिया है, उसको सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

संवर-निर्जरा जीव की शुद्ध पर्याय है, उसे पर के कारण माननेवाले ने उन तत्त्वों को नहीं माना है। शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा माननेवाले ने संवर-निर्जरा का भाग लूटकर अजीव को दिया हे।

मोक्ष आत्मा की पूर्णानंदमय वीतरागीदशा है, उसके बदले पुण्य से मोक्ष बतावे अथवा मोक्ष होने के बाद पुन: अवतार होना बतावे, तो उसने मोक्ष तत्त्व को लूट लिया है, उसको मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा नहीं है।

भगवान ने जीवादि सातों तत्त्वों को जिस प्रकार से स्वतंत्र कहा है उसी अनुसार पहिचान कर "यह तत्त्व ऐसे ही है, अन्य प्रकार नही"-ऐसी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

देखो! शास्त्र अजीव है; परन्तु उस शास्त्र के कथन करनेवाले संतो के भाव कैसे हैं? उन्हें नहीं पहिचाननेवाले को तत्त्व की पहिचान नहीं होती। अहो! संतो ने गजब का काम किया है।

भगवान सच्चे, परन्तु भगवान ने क्या कहा यह नहीं पहिचाने तो स्वयं को यथार्थ श्रद्धा नहीं होती; स्वयं को भावों की यथावत् पहिचान होना चाहिये। विपरीत अभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय, उससे रहित तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन में 'सम्यक्' शब्द का अर्थ 'विपरीतमान्यतारहित' है और 'दर्शन' वह 'प्रतीति' है। सम्यक् शब्द प्रशंसावाचक है। विपरीतता रहित यथार्थ श्रद्धान करना ही प्रशंसावाचक है। जिसकी श्रद्धा में विपरीत मान्यता का अभाव है वही प्रशंसावाचक है। देखो,यह मोक्षमार्ग का मूल!

जहाँ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में भूल है वहाँ तो सातों तत्त्वों में भूल होती ही है। मुनिदशा न होने पर भी उसमें मुनिदशा माने तो उसको सातों तत्त्वों की श्रद्धा नही है। सर्वज्ञ भगवान की परम्परा में सात तत्त्वों का तथा देव-शास्त्र-गुरु का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा ही यथावत् पहिचानकर, उसकी श्रद्धा ही प्रशंसावाचक है। सम्यग्दर्शन कहो, प्रशंसायोग्य श्रद्धान कहो-एक ही है। श्रद्धान में विपरीत का अभाव करके सच्ची श्रद्धा होना ही प्रशंसनीय है।

....यहाँ प्रश्न है कि 'तत्त्व' और 'अर्थ' यह दो पद कहे, उनका प्रयोजन क्या?

समाधान :-'तत्' शब्द है सो 'यत्' शब्द की अपेक्षा सहित है, इसलिये

जिसका प्रकरण हो उसे तत् कहा जाता है और जिसका जो भाव अर्थात् स्वरूप सो तत्त्व जानना। कारण कि 'तस्य भावस्तत्त्वं' ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है। तथा जो जानने में आये ऐसा 'द्रव्य' व 'गुण-पर्याय' उसका नाम अर्थ है। तथा 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप, उससे सहित पदार्थ उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है, उसके श्रद्धान बिना केवल भावही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा यदि अर्थश्रद्धान ही कहते तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है।

जैसे- किसी को ज्ञान-दर्शनादिक व वर्णादिका का तो श्रद्धान हो- यह जानपना है, यह श्वेतपना है, इत्यादि प्रतीति हो; परन्तु ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है, मैं आत्मा हूँ; तथा वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न-अलग पदार्थ है; ऐसा पदार्थ का श्रद्धान न हो तो भाव का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा जैसे 'मैं आत्मा हूँ'- ऐसा श्रद्धान किया; परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। इसलिये तत्त्वसहित अर्थ का श्रद्धान होता है सो ही कार्यकारी है। अथवा जीवादिक को तत्त्वसंज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी है, इसलिये 'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः' जो तत्त्व सो ही अर्थ, उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है।

इस अर्थ द्वारा कहीं तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे और कहीं पदार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे, वहाँ विरोध नहीं जानना।

इसप्रकार 'तत्त्व' और 'अर्थ' दो पद कहने का प्रयोजन है।....

प्रश्नः- यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान में तत्त्व और अर्थ ऐसे दो शब्द कहे हैं, उसका क्या प्रयोजन है?

उत्तरः- 'तत्' शब्द है वह 'गत्' शब्द की अपेक्षा सहित है। इसलिये जिसका प्रकरण हो उसको 'तत्' कहते हैं और जिसका जो भाव अर्थात् स्वरूप है उसको तत्त्व जानना। कारण कि 'तस्य भावस्तत्त्वं ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है। तथा जाननें में आते ऐसे जो द्रव्य गुण पर्याय है उनका नाम अर्थ है। तथा "तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थ।" तत्त्व कहने पर अपना स्वरूप इस सहित पदार्थ का श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है। यहाँ यदि 'तत्त्वश्रद्धान' ही कहते तो जिसका

यह भाव (तत्त्व) है उसके श्रद्धान बिना केवल भाव ही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा यदि 'अर्थश्रद्धान' ही कहते तो भाव के श्रद्धान बिना केवल पदार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है।

जानने में आते हुए ऐसे जो द्रव्य-गुण-पर्याय वे सब अर्थ हैं। उन पदार्थों का स्वरूप वह 'तत्त्व' है। तत्त्व अर्थात अपना स्वरूप अथवा अपना भाव। उस भाव सहित वस्तु अर्थ है। सातों तत्त्व हैं वे अर्थ हैं और उनका अपना जो भाव वह तत्त्व है-ऐसे तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। तत्त्वों का भाव भासन हुए बिना सच्ची प्रतीति नहीं होती। वस्तु क्या है और उसका स्वरूप क्या है -यह जानकर श्रद्धा करने से यथार्थ प्रतीति होती है। इसीलिये कहा है कि विपरीतमान्यतारहित तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

वस्तु को जाने बिना उसके अकेले भाव का श्रद्धान करे तो वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह भाव किसका है? तथा वस्तु को तो माने, परन्तु उसका जैसा भाव है वैसा नहीं जाने तो यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। 'आत्मा' ऐसा कहे, परन्तु आत्मा वस्तु कैसी है, उसका स्वरूप नहीं जाने तो तत्त्व की श्रद्धा नहीं होती। और 'ज्ञानस्वरूप' ऐसा कहे, परन्तु वह ज्ञानस्वरूप आत्मा का है - ऐसा नहीं जाने तो वस्तु के भान बिना तत्त्व की सच्ची श्रद्धा नहीं होती। इसलिये वस्तु और उसके भाव को पहिचानने से ही यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान होता है।

जैसे किसी को ज्ञान-दर्शनादिक, वर्णादिक का तो श्रद्धान हो कि यह जानपना है, यह श्वेतवर्ण है; इत्यादि प्रतीति तो हो, परन्तु ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है और मैं आत्मा हूँ तथा वर्णादिक पुद्गल का स्वभाव है और पुद्गल मेरे से भिन्न अलग पदार्थ है। इसप्रकार पदार्थ का श्रद्धान न हो तो मात्र भाव का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है। तथा 'मैं आत्मा हूँ' - ऐसा श्रद्धान किया, परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान नहीं किया गया हो तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है।

मैं ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव का धारक आत्मा हूँ और वर्णादि स्वभाव का धारक पुद्गल है, वह मेरे से भिन्न है-इसप्रकार पहिचान किये बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं होता। सत्य तत्त्वश्रद्धान ही आत्मा को हितकारी है, वही आत्मा को कल्याणकारी है। मोक्ष के उपाय का मूल वही है। वस्तु और वस्तु के स्वभाव को जानकर यथार्थ तत्त्वश्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। हाथ हिलता है, तो वह हाथ हिलने की क्रिया पुद्गल का भाव है। वह जीव से भिन्न है।

जीव तो ज्ञान-दर्शन स्वभावी हैं। इसतरह तत्त्व की समझ करना चाहिये। यही करने योग्य बात है। जीव बाहर की (लौकिक) पढ़ाई करने की मेहनत करता है; परन्तु वहाँ तो पुण्य होवे तो पास (उत्तीर्ण) होता है, वहाँ प्रयत्न व्यर्थ है। और इस तत्त्व की यथार्थ समझ का प्रयत्न करे तो वह प्रयत्न सफल हुए बिना नहीं रहता।

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, शरीरादि से भिन्न है- ऐसा कहे और फिर ऐसा भी कहे कि आत्मा शरीर को चलाता है- तो उसको जीव अजीव तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। वह अजीव के भाव को जीव में मानता है और जीव के भाव को अजीव में मानता है। यदि जीव और अजीव पदार्थ को उनके भावों सहित मानें तो जीव के भाव को अजीव में नही मानें और अजीव के भाव को जीव में नही मानें। अर्थात् जीव शरीर को चलाता है अथवा शरीर की क्रिया से जीव को धर्म-अधर्म होता है - ऐसा नहीं मानें।

सात तत्त्व में तो सारी बात आ जाती है। सात तत्त्व में जिसका जो भाव है वह उसी के साथ संबंध रखता है। शरीर की क्रिया पलटना अजीव का भाव है, जीव का भाव नहीं। अर्थात् वह क्रिया जीव के कारण नहीं हुई है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। उसमें अभी सम्यग्दर्शन की बात चल रही है। सम्यग्दर्शन बाहर की वस्तु नहीं है, वरन् जीवादि तत्त्वार्थ की यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा को हितकर है।

ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, परन्तु किसका? कि जीव पदार्थ का; और वह जीव मैं ही हूँ। मै जीव पदार्थ हूँ और ज्ञान-दर्शन मेरा भाव है -इसप्रकार जीव की श्रद्धा करनी चाहिये। तथा मेरे से पुद्गल द्रव्य भिन्न है, वर्णादि उसका भाव है वह मेरे से भिन्न है -इसप्रकार जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न पहिचानने पर यथार्थ श्रद्धा होती है।

'मै आत्मा हूँ'-ऐसा तो बहुत से कहते हैं; परन्तु आत्मा का क्या स्वरूप है, आत्मा का भाव क्या है, आत्मा का तत्त्व क्या है-यह पहिचाने बिना आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जैसे सिद्ध भगवान है, वैसी ही केवलज्ञान सामर्थ्यरूप भाव का धारक मैं हूँ, मेरे स्वभाव में केवलज्ञान होने की सामर्थ्य है- इसप्रकार पहिचानकर श्रद्धा करने से सच्ची श्रद्धा होती है। मैं आत्मा हूँ और शरीरादि के काम मैं करता हूँ-ऐसा माननेवाले ने आत्मा को माना ही नहीं है

पुद्गल द्रव्य है, उसका स्वभाव अलग-अलग शरीर, भाषा आदि अवस्थारूप होने का है। शरीर,जड़-पुद्गल का भाव है, जीव का भाव नहीं। शरीर अजीव है-ऐसा कहते हुए भी यह माने कि उसकी क्रिया आत्मा करता है, तो उसको अजीव तत्त्व की श्रद्धा नहीं है।

जीव-अजीव के भावों को भिन्न-भिन्न ज्यों का त्यों जाने बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। अहो! अनंतकाल से जीव ने तत्त्वों को यथार्थरूप से जाना ही नहीं है।

अज्ञानी जीव अरिहन्त भगवान की भक्ति करता है, परन्तु अरिहन्त भगवान कैसे है, उनका आत्मा कैसा है और उस आत्मा का भाव कैसा है- यदि यह नहीं पहिचाने तो पहिचाने बिना अरिहन्त की सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। और यदि अरिहन्त भगवान के आत्मा को और उसके भावों को पहिचाने तो अपने आत्मा का परमार्थ स्वरूप भी पहिचान ले और उसके सच्ची भक्ति होती है। परमार्थ से अपने चिदानंद स्वभावी भगवान आत्मा की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना ही निश्चय भक्ति है और अरिहन्त भगवान की भक्ति का शुभभाव वह आस्रव तत्त्व का भाव है। उसके बदले उस भाव को संवर माननेवाला आस्रव तत्त्व को नहीं पहिचानता।

पदार्थों के भाव की पहिचान रहित श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं है। इसलिये पदार्थ और उसका स्वभाव क्या है यह जानना चाहिये। दुकान पर व्यापार करने बैठा हो और किसी को पाँच रुपये का माल दे, परन्तु माल किसको दिया है यह नहीं पहिचाने तो रुपये किससे लेगा? माल ले जाने वाली एक महिला थी ऐसा कहे, परन्तु वह महिला कैसी थी, कैसे कपड़े पहने थी, कहाँ रहती थी, क्या नाम था-यह सब नहीं पहिचाने तो, उसने महिला को जाना ही नहीं है; क्योकि भाव के भासन बिना अर्थ की श्रद्धा सच्ची नहीं होती। तथा ऐसा कहे कि लाल साड़ी वाली महिला थी, परन्तु वह महिला कौन थी यह नहीं जाने तो उसे भी अर्थ की श्रद्धा बिना वस्तु की सच्ची श्रद्धा नहीं होती। इसप्रकार जीव-अजीवादि पदार्थ हैं, उन पदार्थों को और उनके भाव को यथावत् पहिचान कर श्रद्धा करने पर ही सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होता है और वह तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) में 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनम्' -ऐसा सूत्र कहा है। लोग इस सूत्र को पढ़ तो जाते हैं; परन्तु इस सूत्र में कितना रहस्य है यह नहीं जानते। तत्त्वार्थ माने

क्या और उसका श्रद्धान कब कहलाता है-यह पहिचाने बिना सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती। जगत में अनंत जीव-अजीव पदार्थ हैं, वह प्रत्येक स्वतंत्र 'अर्थ' है और वह प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने भावसहित है वह उसका तत्त्व है। वस्तु और वस्तु का स्वरूप अभेद है। तथा अन्य वस्तु और उसका स्वरूप इससे (आत्मा से) प्रथक् है। एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व का काम होना माननेवाले को तत्त्वार्थ की श्रद्धा नहीं है। कोई हाथ से लकड़ी ऊँची होना मानता है, तो उसने हाथ और लकड़ी के भाव को भिन्न नहीं माना है। अत: उसने तत्त्वार्थ को नहीं जाना है। तत्त्वार्थश्रद्धान के बिना व्रत अथवा श्रावकपना नहीं होता। अध्यात्म दृष्टि की बात लो या सात तत्त्वो की श्रद्धा की बात लो; परन्तु उसमें मूल बात तो यही आकर खड़ी होती है।

जगत में अनेक अजीव पदार्थ हैं, वह प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने भिन्न-भिन्न भावों सहित है- ऐसा नहीं माननेवाले ने और एक पदार्थ के कारण दूसरे पदार्थ का भाव होना मानने वाले ने अनंत अजीव तत्त्वों को माना ही नहीं है।

* जीव पदार्थ है, उसकी शक्ति वह उसका तत्त्व है।

* अजीव पदार्थ है, उसकी शक्ति वह उसका तत्त्व है।

अजीव को मानें; परन्तु उसके हिलने-चलने की शक्ति को नहीं मानें, वह जीव के कारण हिलता चलता है-ऐसा मानें तो उसने अजीव पदार्थ को माना ही नहीं; क्योकि उसकी शक्ति के ज्ञान बिना पदार्थ की श्रद्धा नहीं होती।

देखो, यह 'तत्त्वार्थश्रद्धानसम्यग्दर्शनम्' इस एक सूत्र का स्पष्टीकरण! लोग हर वर्ष तत्त्वार्थसूत्र पढ़ जाते हैं; परन्तु उसके एक-एक सूत्र में कितना भाव है वह नहीं समझते। वस्तु, वह अर्थ और उसकी स्वभावशक्ति, वह तत्त्व-इसप्रकार पदार्थ को और उसके भाव को पहिचानकर श्रद्धा करना तत्त्वार्थश्रद्धान है और ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन लक्ष्य है और वह जिसके द्वारा पहिचाना जाये वह लक्षण है। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अकेला तत्त्व कहे तो जिसका भाव है उसकी श्रद्धा बिना कार्यकारी नहीं होता। अकेला अर्थ अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय को कहे तो उसके भाव बिना कार्यकारी नहीं होता। इसलिये स्वभाव सहित पदार्थ का श्रद्धान कार्यकारी है।

कोई अज्ञानी कदाचित् शरीर को अजीव कहता है; परन्तु आत्मा से शरीर की क्रिया होना मानता है और अपने दया के भाव से अन्य जीव का बचना मानता है -तो उसको तत्त्वार्थ का पता नहीं है। पुद्गल का द्रव्यपना, गुणपना और पर्यायपना पुद्गल में है, जीव में नहीं। पुण्य-पाप विकारी भाव है, वह आस्रव है, वह पर के कारण नहीं है। निर्विकारदशा संवर है -इसप्रकार समस्त तत्त्वों को यथार्थरूप से समझना चाहिये। इन तत्त्वों को पदार्थ भी कहते हैं। संवर-निर्जरा आदि एक समय के होने पर भी वे पदार्थ हैं; वे एक समय के सत् हैं। पर्याय सत् है, पर्याय पदार्थ है। उसके वाचक शब्द हैं और शब्द अर्थ को बतलाते हैं। इसलिये पदार्थ कहलाते हैं। कहीं तो पदार्थश्रद्धान को और कहीं तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसप्रकार तत्त्व और अर्थ ये दो पद कहने का प्रयोजन जानना चाहिये।

तत्त्वार्थ सात ही क्यों?

....फिर प्रश्न है कि तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं। वे सामान्य अपेक्षा से जीव-अजीव में सर्व गर्भित हुए; इसलिये दो ही कहना थे या अनन्त कहना थे। आस्रवादिक तो जीव-अजीवही के विशेष हैं, उनको अलग कहने का प्रयोजन क्या?

समाधानः- यदि यहाँ पदार्थश्रद्धान करने का ही प्रयोजन होता तब तो सामान्य से या विशेष से जैसे सर्व पदार्थों का जानना हो, वैसे ही कथन करते; वह तो यहाँ प्रयोजन है नहीं; यहाँ तो मोक्ष का प्रयोजन है। सो जिन सामान्य या विशेष भावों का श्रद्धान करने से मोक्ष हो और जिनका श्रद्धान किये बिना मोक्ष न हो; उन्हीं का यहाँ निरूपण किया है।

सो जीव-अजीव यह दो तो बहुत द्रव्यों की एक जाति अपेक्षा सामान्यरूप तत्त्व कहे। यह दोनों जाति जानने से जीव को आपापर का श्रद्धान हो- तब पर से भिन्न अपने को जाने, अपने हित के अर्थ मोक्ष का उपाय करे; और अपने से भिन्न पर को जाने, तब परद्रव्य से उदासीन होकर रागादिक त्याग कर मोक्षमार्ग में प्रवर्ते। इसलिये इन दो जातियों का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष होता है, और दो जातियाँ जाने बिना आपापर का श्रद्धान न हो तब पर्यायबुद्धि से सांसारिक प्रयोजन ही का उपाय करता है। परद्रव्य में रागद्वेषरूप होकर प्रवर्ते, तब मोक्षमार्ग में कैसे प्रवर्ते? इसलिये

इन दो जातियों का श्रद्धान न होने पर मोक्ष नही होता। इसप्रकार दो सामान्य तत्व तो अवश्य श्रद्धान करने योग्य कहे है।

तथा आस्रवादि पाँच कहे,वे जीव-पुद्गल की पर्याय है; इसलिये यह विशेषरूप तत्त्व है; सो इन पाँच पर्यायो को जानने से मोक्ष का उपाय करने का श्रद्धान होता है।

वहाँ मोक्ष को पहिचाने तो उसे हित मानकर उसका उपाय करे; इसलिये मोक्ष का श्रद्धान करना।

तथा मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है; सो इनको पहिचाने तो जैसे संवर-निर्जरा हो वैसे प्रवर्ते; इसलिये संवर-निर्जरा का श्रद्धान करना।

तथा संवर-निर्जरा तो अभावलक्षण सहित है; इसलिये जिनका अभाव करना है उनको पहिचानना चाहिये। जैसे-क्रोध का अभाव होने पर क्षमा होती है; सो क्रोध को पहिचाने तो उसका अभाव करके क्षमारूप प्रवर्तन करे। उसीप्रकार आस्रव का अभाव होने पर संवर होता है और बन्ध का एकदेश अभाव होने पर निर्जरा होती है; सो आस्रव-बन्ध का पहिचाने तो उनका नाश करके संवर-निर्जरारुप प्रर्वतन करे; इसलिये आस्रव-बन्ध का श्रद्धान करना।

इसप्रकार इन पाँच पर्यायों का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष होता है, इनको न पहिचाने तो मोक्ष की पहिचान बिना उसका उपाय किसलिए करे? संवर-निर्जरा की पहिचान बिना उनमे कैसे प्रवर्तन करे? आस्रव-बन्ध की पहिचान बिना उनका नाश कैसे करें? इसप्रकार इन पाँच पर्यायों का श्रद्धान न होने पर मोक्षमार्ग नहीं होता है।

इसप्रकार यद्यपि तत्त्वार्थ अनन्त है, उनका सामान्य-विशेष अनेक प्रकार प्ररूपण हो; परन्तु यहाँ मोक्ष का प्रयोजन है; इसलिये दो तो जाति अपेक्षा सामान्यतत्त्व और पाँच पर्यायरूप विशेषतत्त्व मिलाकर सात ही तत्त्व कहे।

इनके यथार्थ श्रद्धान के आधीन मोक्षमार्ग है। इनके सिवा औरों का श्रद्धान हो या न हो या अन्यथा श्रद्धान हो; किसी के आधीन मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जानना।

तथा कहीं पुण्य-पाप सहित नवपदार्थ कहे हैं; सो पुण्य-पाप आस्रवादिक के

ही विशेष हैं, इसलिये सात तत्त्वों में गर्भित हुए। अथवा पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर पुण्य को मोक्षमार्ग न माने, या स्वच्छन्दी होकर पापरूप न प्रवर्ते; इसलिये मोक्षमार्ग में इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर दो तत्त्व विशेष के विशष मिलाकर नवपदार्थ कहे। तथा समयसारादि में इनको नवतत्त्व भी कहा है।....

प्रश्न:- पदार्थ तो अनंत हैं और वे सब सामान्य अपेक्षा से जीव-अजीव में समाहित होते हैं, इसलिये दो कहने थे अथवा विशेष अपेक्षा से अनंत कहने थे; परन्तु तुमने सात ही क्यों कहे? न तो जीव-अजीव की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा और न अनंत की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा; परन्तु सात तत्त्वों को (तत्त्वों की श्रद्धा को) सम्यग्दर्शन कहा है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, ये जीव-अजीव के विशेष हैं। पुण्य-पाप आस्रव है, वीतरागी दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह संवर-निर्जरा है, बंध में अटकना भावबंध है, पूर्ण शुद्धदशा मोक्ष है-ये सभी जीव के विशेष हैं और जड़ की जो-जो पर्यायें होती हैं वह अजीव का विशेष है। तो इन पर्यायों को अलग क्यों कहा?

उत्तर:- यदि यहाँ पदार्थ का ही श्रद्धान करने का प्रयोजन होता तब तो सामान्यपने अथवा विशेषपने जैसे सर्व पदार्थों का जानपना हो वैसे कथन करते। अकेले ज्ञेय को जानने का प्रयोजन नहीं है, परन्तु यहाँ तो मोक्ष का प्रयोजन है। अत: जिन सामान्य और विशेष भावों की श्रद्धा करने से मोक्ष होता है तथा जिनकी श्रद्धा किये बिना कभी भी मोक्ष नहीं होता उनका यहाँ निरूपण किया है। आत्मा में पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, केवलज्ञानादि दशा प्रगट हो और विकार न रहे यह प्रयोजन है। जीव-अजीव दो सामान्य हैं और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये पाँच विशेष हैं। जीव-अजीवरूप सामान्य की श्रद्धा किये बिना और आस्रवादि पाँच विशेषों की श्रद्धा किये बिना मोक्ष नहीं होता; इसलिये उनका यहाँ निरूपण किया है।

जीव-अजीव यह तो बहुत द्रव्यों की एक जाति अपेक्षा से सामान्यरूप तत्त्व कहे हैं। अनंत जीवों की एक जाति, अनंत अजीवों की एक जाति गिनकर जीव-अजीव सामान्यरूप तत्त्व कहे हैं। अजीव में अनंतानंत पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश (एक-एक) और (लोकप्रमाण असंख्यात) काल द्रव्य समाहित हो जाते हैं। एक जीवतत्त्व का भान करने पर अनंत जीवों का ज्ञान हो जाता है और एक अजीव का भान करने पर अनंत अजीवों का भान हो जाता है।

इन दोनों की जाति जानने पर क्या फल आया ? आत्मा को स्व-पर का श्रद्धान हुआ। आत्मा और जड़ पदार्थ भिन्न है, उनमें जातिभेद है। अजीव दोनों की जाति को नहीं जानता, जानने वाला केवल आत्मा है। जीव स्व है और जड़ पर है। इसप्रकार स्व-पर का श्रद्धान होता है।

मेरा आत्मा मेरे भाव सहित है और शरीर, कर्मादि अजीव है, वे उनके भाव सहित है। अजीव तत्त्व मुझसे और मैं अजीव तत्त्व से भिन्न हूँ-ऐसा भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान होने पर जीव अपने हित के लिये मोक्ष का उपाय करता है। अन्य जीव जाति अपेक्षा से समान होने पर भी द्रव्य अपेक्षा से मुझसे भिन्न हैं। इसप्रकार जीव अपने को पर से और अन्य जीवों से भिन्न जानकर निजहित के लिये मोक्ष का उपाय करता है। मेरा परपदार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है। मै होऊँ तो गौशाला चलती है-यह बात मिथ्या है, मेरे से उसकी अवस्था नहीं होती और वह (पर) मेरा कार्य नहीं करते। मै पर से भिन्न हूँ, परवस्तु मेरे कारण से नहीं, उसके स्वयं के कारण से है। इसप्रकार सच्चा श्रद्धान-ज्ञान होने पर वीतरागता होती है, पर से उदासीनता होती है। इसलिये प्रथम सच्ची श्रद्धा करना चाहिये। अपने को पर से भिन्न जानने के बाद 'यह हो तो मै हूँ अथवा मैं हूँ तो परपदार्थ है' यह बात रहती ही नहीं है। स्वभाव का आश्रय लेने पर राग छूट जाता है और मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है- इसकारण जीव-अजीव इन दोनों जाति का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष होता है।

अकेले जीव को माननेवाले अथवा अकेले अजीव को माननेवाले तथा जीव के कारण अजीव और अजीव के कारण जीव को माननेवाले का मोक्ष नहीं होता। कर्म के कारण आत्मा को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। वह जीव-अजीव को भिन्न नहीं मानता, परन्तु इन दोनों जातियों को भिन्न जाने बिना स्व-पर का श्रद्धान नहीं होता; किन्तु कर्म मैं हूँ -शरीर में हूँ -ऐसी पर्यायबुद्धि होती है।

नौवें ग्रैवेयक तक जानेवाले मिथ्यादृष्टि मुनि को भी 'मेरा तत्त्व अजीव से भिन्न हैं'-ऐसी बुद्धि नहीं हुई, इसलिये पर्यायबुद्धि से सांसरिक प्रयोजन का उपाय करता है। शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, मैं मन-वचन-काया को स्थिर रख सकता हूँ -ऐसा मानता है, मैंने शरीर की पर्याय को स्थिर रखा इससे सामायिक हुई ऐसा मानता है, अत: वह अज्ञानी है। उसको तत्त्व समझने की महिमा नहीं आती किन्तु शरीर की क्रिया की महिमा आती है। ऐसी

पर्याय बुद्धिवाला जीव शरीर को अपना तत्त्व मानता है। वह जीव मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं कर सकता। वह शरीर तथा पुण्य-पाप को रखना चाहता है। शरीर और आत्मा की क्रिया भिन्न-भिन्न है- ऐसी भिन्नता की श्रद्धा के बिना बंध को साधता है, मोक्ष को नहीं साधता।

पहले शरीर अच्छा रखेंगे तो भविष्य में धर्मकार्य में विघ्न नहीं आयेगा-ऐसा माननेवाला शरीर के साथ एकत्वबुद्धि करता है। वह शरीर को ही आत्मा मानता है। वह मोक्ष का उपाय नहीं कर सकता। दोनों की जाति को भिन्न नहीं जाननेवाला संसारमार्ग का उपाय करता है और परद्रव्यों में राग-द्वेषरूप परिणाम करता है। शरीर के बिगड़ने पर द्वेष करता है। अनुकूल पदार्थों के प्रति राग और प्रतिकूल पदार्थों के प्रति द्वेष करता है। वह किस प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करेगा? अर्थात् नहीं प्रवर्तन करेगा। इसलिये(जीव-अजीव) इन दो जातियों का श्रद्धान न होने पर मोक्ष भी नहीं होता। अज्ञानी जीव को विपरीत मान्यता होने के कारण राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते, उसको पर में इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि होती ही है। वह, शरीर अच्छा रहे तो ठीक है-ऐसा मानता है अथवा शरीर को ऐसा जीर्ण करुँ कि विकार ही उत्पन्न न हो-इसप्रकार राग-द्वेष करता है। अत: वह मूढ़ है। शरीर को जीर्ण करने से विषय नहीं घटते हैं। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार से सामान्य तत्त्वों (जीव-अजीव) का तो अवश्य श्रद्धान करने योग्य है।

यहाँ मोक्षमार्ग के स्वरूप में सम्यग्दर्शन के लक्षण की बात चल रहीं है। शिष्य का प्रश्न है कि तुमने सात तत्त्व क्यों कहे, दो या अनंत कहना थे-इसका स्पष्टीकरण चल रहा है।

यहाँ कहते हैं कि यहाँ मोक्ष का प्रयोजन है। जीव-अजीव दो मूल तत्त्व है, उनके भेदज्ञान के बिना मोक्ष का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष-ये पाँच तत्त्व जीव तथा पुद्गल की पर्यायें हैं। विकार-आस्रव जीव का भाव है और कर्म का आना जड़ का भाव है। यहाँ जीव-अजीव दो तत्त्वों की बात की गई, परन्तु यहाँ आत्मा की पाँच पर्यायों का क्या प्रयोजन है? कि उनको जानने पर मोक्ष का उपाय करने का श्रद्धान होता है। इनमें मोक्ष को हितरूप जाने तो उसका उपाय करे। जगत के जीव मोक्ष का स्वरूप अनेक प्रकार से कहते हैं। कोई वैकुंठ में भगवान की सेवा को मोक्ष कहते हैं। आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा होना मोक्ष है। उसको जानने पर मोक्षमार्ग की श्रद्धा होती है। अत: मोक्ष का उपाय

करने के लिये मोक्ष का श्रद्धान करना चाहिये। आत्मा की पूर्ण परमानंद दशा प्रगट करना हित है, अन्य कोई हित नहीं है। यदि मोक्ष को हितरूप मानेगा तो मोक्ष का उपाय करेगा। मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; इसलिये मोक्ष की श्रद्धा करना प्रयोजनभूत है।

अब मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है-यह बताते हैं। पूर्व में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का उपाय कहा था, उनकां यहाँ संवर निर्जरा में समाहित कर दिया है। विकार का अंश न होना और अंतर में शुद्धदशा होना संवर तथा शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा है।

अज्ञानी लोग देह की क्रिया और राग को संवर-निर्जरा मानते हैं। सामायिक करने बैठ जाना संवर-निर्जरा नहीं है। शुद्धस्वरूपी आत्मा के ज्ञानपूर्वक अंतर में लीनता करना संवर-निर्जरा है। संवर-निर्जरा को पहिचाने तो उसरूप प्रवृत्ति करे। इसलिये संवर-निर्जरा की श्रद्धा करना योग्य है।

तथा संवर-निर्जरा में, पुष्प-पापरूपी आस्रव और विकार में अटकनेरूप बंध का अभाव होता है, इसलिये जिसका अभाव करना है उसको पहिचाने। जैसे क्रोध का अभाव करने पर क्षमा होती है, अत: क्रोधादि को पहिचाने तो उनका अभाव करके क्षमारूप प्रवर्ते। इसीप्रकार पुण्य-पाप के परिणामों का अभाव करने से संवर होता है; परन्तु आस्रव को संवर मानने से आस्रव का अभाव नहीं होता। तथा बंध का एकदेश अभाव होना निर्जरा है और बंध का सर्वथा अभाव होना मोक्ष है। पुण्य-पाप आस्रव है और उनमें अटकना बंध है-ऐसा जाने तो उनका अभाव करके संवर-निर्जरारूप प्रवर्ते।

इसप्रकार पाँच पर्यायों का श्रद्धान होने पर मोक्षमार्ग होता है। इसमें देव-गुरु की पहिचान भी आ जाती है। इसप्रकार इन पाँच पर्यायों को पहिचाननें वाला मोक्ष को पहिचानता है। यहाँ प्रथम मोक्ष बताया है, मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा को कहा है और वह संवर-निर्जरा आस्रव-बंध के अभाव बिना नहीं होती। इसप्रकार पाँचों तत्त्वों की पहिचान की आवश्यकता है। यदि इन पाँचों को नहीं पहिचानें तो मोक्ष को नहीं पहिचानें, मोक्ष का ज्ञान नहीं हो तो उसका उपाय किसप्रकार करे? संवर-निर्जरा के ज्ञान बिना संवर-निर्जरारूप किसप्रकार प्रवर्ते अन्तर वीतरागी दशा संवर है। संवर-निर्जरा की पहिचान बिना अन्तर रमणता किसप्रकार करे? इसलिये इन पाँचो पर्यायों की पहिचान होना चाहिये। इनका श्रद्धान न होने से मोक्ष भी नहीं होता। इसप्रकार यहाँ अस्ति-नास्ति से बात की है।

जीव-अजीव को जाति अपेक्षा से दो तत्त्व कहे हैं। जीव में अनंत जीव और अजीव में अनंत पुद्गल,धर्म, अधर्म, आकाश और काल आ गये। पर्यायें इनके विशेष हैं। इसप्रकार इन सात तत्त्वों के आधीन मोक्षमार्ग है। इसमें देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा भी आ जाती है। इन सात तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का श्रद्धान हो या न हो या अन्यथा हो, तो भी प्रयोजनभूत नहीं हैं। जैसे कि किसी की आयु आदि कहने में अंतर पड़े; नारकी की आयु कम से कम दस हजार वर्ष और अधिकतम तैंतीस सागर होती है -इत्यादि बातें अप्रयोजनभूत है। ये सभी बातें छद्मस्थ के ज्ञान में आये या न भी आये; परन्तु सात तत्त्वों का जानना तो प्रयोजनभूत हैं; क्योंकि उनक आधीन मोक्षमार्ग है।

तथा कहीं पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थ कहे हैं, ये पुण्य-पाप भी आस्रवादिक के ही भेद हैं, इसलिये इन सात तत्त्वों में ही गर्भित होते हैं। अथवा पुण्य को पहिचाने तो उसको मोक्षमार्ग नहीं माने तथा स्वच्छंदी होकर पापरूप नहीं प्रवर्ते; इसलिये भेद करके समझाया है। अत: इन दो तत्त्वों की श्रद्धा उपकारी जानकर सात तत्त्वों के साथ मिलाकर नौ पदार्थ कहे हैं। तथा श्री समयसारादि शास्त्र मे नौ तत्त्व भी कहे हैं। इसप्रकार सर्वज्ञ कथित इन नौ तत्त्वों की यथार्थ पहिचान करने पर सम्यग्दर्शन होता है।

....फिर प्रश्न:- इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा; सो दर्शन तो सामान्य अवलोकन मात्र और श्रद्धान प्रतीतिमात्र; इनके एकार्थपना किस प्रकार सम्भव है?

उत्तर:- प्रकरण के वश से धातु का अर्थ अन्यथा होता है। सो यहाँ प्रकरण मोक्षमार्ग का है। उसमें 'दर्शन' शब्द का अर्थ सामान्य अवलोकनमात्र नहीं ग्रहण करना, क्योंकि चक्षु-अचक्षुदर्शन से सामान्य अवलोकन तो सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के समान होता है, कुछ इससे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति नहीं होती। तथा श्रद्धान होता है सो सम्यग्दृष्टि ही के होता है, इससे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है। इसलिये 'दर्शन' शब्द का अर्थ भी यहाँ श्रद्धानमात्र की ग्रहण करना।....

प्रश्न:- सात तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा परन्तु दर्शन तो सामान्य अवलोकन मात्र है तथा श्रद्धान प्रतीतिमात्र है, तो इनके एकार्थपना कैसे संभव है?

उत्तर:-प्रकरणवश शब्द का दूसरा अर्थ भी होता है। जैसे कि भोजन के समय सैंधव लाने को कहे तो वहाँ उसका अर्थ नमक समझना, परन्तु वहाँ घोड़ा नहीं समझना और बाहर जाते समय सैंधव लाने को कहे तो वहाँ घोड़ा समझना। इसीप्रकार यहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है, उसकी विधि चलती है। उस विधि में दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान होता है, सामान्य अवलोकन नहीं। इस मोक्षमार्ग में सामान्य अवलोकन का प्रयोजन नहीं है। निगोद या अभव्य जीव को भी सामान्य अवलोकन होता है। इसलिये यहाँ उसका प्रयोजन नहीं है। दर्शन उपयोग और प्रतीति दोनो गुण (दर्शन व श्रद्धा गुण) अलग-अलग है। दर्शन उपयोग के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रतीति नहीं होती। सम्यक् श्रद्धान तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है और सामान्य अवलोकन तो अभव्य तथा निगोदादि मिथ्यादृष्टि जीवों के भी होता है; इसलिये मोक्षमार्ग के प्रकरण में दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन (श्रद्धान) कहते हैं। इसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। इसलिये यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान करना।

....फिर प्रश्न:- यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना कहा, सो प्रयोजन क्या?

समाधान:- अभिनिवेश नाम अभिप्राय का है। सो जैसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है वैसा न हो, अन्यथा अभिप्राय हो, उसका नाम विपरीताभिनिवेश है। तत्त्वार्थ श्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करनामात्र ही नहीं है; वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव-अजीव को पहिचानकर अपने को तथा पर को जैसा का तैसा माने, तथा आस्रव को पहिचानकर उसे हेय माने, तथा बन्ध को पहिचानकर उसे अहित माने, तथा संवर को पहिचानकर उसे उपादेय माने, तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण माने, तथा मोक्ष को पहिचानकर उसको अपना परमहित माने- ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है; उससे उलटे अभिप्राय का नाम विपरीताभिनिवेश है। सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर इसका अभाव होता है। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशरहित है -ऐसा यहाँ कहा है।

अथवा किसी के आभासमात्र तत्त्वार्थश्रद्धान होता है; परन्तु अभिप्राय में विपरीतपना नहीं छूटता। किसी प्रकार से पूर्वोक्त अभिप्राय से अन्यथा अभिप्राय

अन्तरंग मे पाया जाता है। तो उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैसे- द्रव्यलिंगी मुनि जिनवचन से तत्त्वों की प्रतीति करे, परन्तु शरीराश्रित क्रियाओं में अहंकार तथा पुण्यास्रव में उपादेयपना इत्यादि विपरीत अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि ही रहता है। इसलिये जो तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित है, वही सम्यग्दर्शन है।

इसप्रकार विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शन का लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है।

वही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है:-

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"

तत्त्वार्थों का श्रद्धान वही सम्यग्दर्शन है।

तथा सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्रों की टीका है- उसमें तत्त्वादिक पदों का अर्थ प्रगट लिखा है तथा सात ही तत्त्व कैसे कहे सो प्रयोजन लिखा है। उसके अनुसार यहाँ कुछ कथन किया है। ऐसा जानना।

तथा पुरुषार्थसिद्धपुपाय में भी इसीप्रकार कहा है:-

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्।।22।।

अर्थ:- विपरीताभिनिवेश रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है, दर्शनमोह उपाधि दूर होने पर प्रगट होता है, इसलिये आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदाकाल इसका सद्भाव रहता है- ऐसा जानना।....

प्रश्न:- यहाँ विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना कहा, उसका क्या प्रयोजन है?

उत्तर:- अभिनिवेश अर्थात अभिप्राय। जैसा सात तत्त्वों का अभिप्राय है वैसा अभिप्राय नहीं समझना विपरीत अभिनिवेश है। किसी ने एक व्यक्ति से कहा कि कुएं में लड़का गिर गया है और कुआं बहुत गहरा है-ऐसा सुनकर वह व्यक्ति कहता है कि मैंने बराबर सुना है, मुझे इसका पहले पता नहीं था। अब पता पड़ने पर भी लड़के को निकालने का प्रयत्न नहीं

करे तो वह कहनेवाले का आशय ही नहीं समझता। परन्तु यह बात सुनकर लड़के को बचाने का प्रयत्न करे तो यथार्थ सुना कहलाता है। इसीप्रकार तत्त्वश्रद्धान का केवल निश्चय करना इतना ही काफी नहीं है; परन्तु उसका अभिप्राय यह है कि हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर उपयोग को स्वोन्मुख करना चाहिये।

जीव-अजीव की श्रद्धा करने का आशय यह था कि स्वयं जीव है और अन्य पर है। पर का अंश अपने में नही मिलाना और अपना अंश पर में नहीं मिलाना। शरीरादि अजीव है, उनकी क्रिया उनसे होती है, मेरे से नहीं होती-ऐसी श्रद्धा करना, यह आशय था। यह नहीं करनेवाले को (जीव-अजीव का) यथार्थ श्रद्धान नहीं है। अच्छे अनाज के कारण शरीर अच्छा रहता है। राग के कारण अनाज आता है तथा आधा घंटा विश्राम किया हो तो पढ़ने में स्फूर्ति रहती है-इत्यादि माननेवाले को जड़-चेतन की स्वतंत्रता का पता नहीं हैं। शरीरादि का होना जड़ से है और चैतन्य का होना चेतन से है- इसप्रकार दोनों के भाव अथवा द्रव्य-गुण पर्याय जैसे हैं वैसे मानना प्रयोजन है। ऐसा नही मानकर परसन्मुख झुकना विपरीत मान्यता है।

तथा आस्रव तत्त्व को जानकर कहे कि पुण्य-पाप आस्रव है परन्तु इतने मात्र से नहीं चलता, उनको हेय मानना चाहिये। जैसे सर्प को जानकर वह घर में से बाहर निकालने योग्य है, घर में रखने योग्य नहीं है; इसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव को जानकर वे निकालने योग्य है ऐसा मानना चाहिये। आस्रव की ओर का झुकाव छोड़कर ज्ञानस्वभावोन्मुख होना चाहिये। ऐसा नहीं माननेवाले को आस्रव की श्रद्धा मिथ्या है।

बंध को पहिचानकर उसको अहितरूप मानना चाहिये। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है वह भाव भी अहितरूप है ऐसा मानना चाहिये। मैं शुभभाव करूँगा तो उससे पुण्य बंधेगा और फिर भगवान के पास जाऊँगा-ऐसी मान्यतावाला जीव बंध को हितरूप मानता है। वह भगवान के पास जायेगा तो भी विपरीत अभिप्राय लेकर जायेगा। उस जीव को बंध रुचता है, किन्तु मोक्ष नहीं रुचता है।

संवर को पहिचानकर उसको उपादेय मानना चाहिये। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ-ऐसी प्रतीति होने पर संवर होता है, उसको पहिचानकर उपादेय मानना चाहिये। निश्चय की दृष्टि में तो सात तत्त्वों के भेद हेय हैं और अकेला शुद्ध जीव उपादेय है; परन्तु वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सात तत्त्वों में हेय-उपादेय मानना चाहिये।

तथा निर्जरा को पहिचानकर उसको हित का कारण मानना चाहिये। निर्जरा के समय शुद्धि की वृद्धि होती है और वह मोक्ष का कारण है।

आत्मा की परिपूर्ण शुद्धदशा मोक्ष है। मोक्षदशा होने के बाद अवतार(जन्म-मरण करना) नहीं रहता है और न अपूर्णता रहती है -ऐसी दशा को परम हितरूप मानना चाहिये।

इसप्रकार जीव-अजीव को जैसा है वैसा मानना, आस्रव का हेय मानना,बंध को अहितरूप मानना, मोक्ष को परमहित मानना, संवर को पहिचानकर उसको अंगीकार करने योग्य मानना और निर्जरा अपूर्ण शुद्धदशा है (मोक्ष का कारण है) इसलिये परमहित का कारण है-ऐसा मानना।

देखो, पण्डितजी ने कितना सरस लिखा है। स्वयं श्रावक थे, ज्ञानी थे, इसलिये तोल-तोलकर शब्द लिखे हैं। संसार अपनी पर्याय में है, उसका अभाव होकर प्रगट होनेवाली मोक्षदशा भी अपनी पर्याय है। वीतरागीदशा से विपरीतदशा संसार है। दोनों दशायें आत्मा में होती हैं -ऐसा जानना चाहिये।

तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय यह है कि सात तत्वों की ज्यों की त्यों श्रद्धा करना। इससे विपरीत अभिप्राय का नाम विपरीताभिनिवेश है। सत्य तत्त्व श्रद्धान होनेपर विपरीत अभिप्राय का अभाव होता है। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित है ऐसा यहाँ कहा है।

अथवा किसी के आभासमात्र तत्त्वार्थश्रद्धान होता है; परन्तु अन्तर में विपरीतपना नहीं मिटता है। जीव सो मैं और मैं सो जीव-ऐसा नहीं मानता, मैं सुखी-दु:खी हो गया, मैंने व्यापार-धंधा छोड़ दिया इसलिये धन चला गया-ऐसा मानकर दु:खी होता है। अंतर में होने वाला रागभाव हेय है, संवरभाव उपादेय है और वह संवर जीव के आश्रय से होता है, ऐसा न मानकर अन्तरोन्मुख नहीं होता। इसप्रकार जैसे सात तत्त्व पूर्व में कहे गये हैं उससे विपरीत अभिप्राय अन्तर में होनेवाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता। जीव अनंतबार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ है; परन्तु अंतर में (आत्म) भान नहीं हुआ, इसलिये वह जिन वचनों से बाह्य है। वह बाह्य से जिन वचनों की प्रतीति करता है। जीव-अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न है-ऐसा बोलता है; परन्तु मैंने पैर ऊँचा किया तो चींटी बच गई ऐसा मानता है। जड़ की क्रिया का कर्त्ता आत्मा को माननेवाले का विपरीत अभिप्राय मिटा नहीं है। वह अपने स्वरूप को भूलकर पर में और शरीर की क्रिया में अहंकार करता है।

अज्ञानी शुभभाव में उपादेयपना मानता है। खरगोश की दया पालन से अमुक संसार से पार हुआ, भगवान की पूजा से आस्रव मिटता है और संवर बढ़ता है-ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। पुण्य-पाप रहित आत्मा का भान होने पर संवर प्रगट होता है। पूजा का भाव भी आस्रव है -ऐसा मानना चाहिये। आत्मा का स्वभाव कषाय के भाव से भिन्न है -ऐसी रुचि नहीं करने से वह मिथ्यादृष्टि है। जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है तथा सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। इस तत्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण के द्वारा लक्ष्यरूप सम्यग्दर्शन को पहिचाना जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी ऐसा ही कहा है-तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है, व्यवहार सम्यग्दर्शन की बात नहीं है। यहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है, इसलिये मोक्षमार्ग में निश्चय सम्यग्दर्शन की बात आती है। इसी सूत्र की टीका करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका ग्रंथ में तत्त्वादि पदाथों का अर्थ प्रगट लिखा है अथवा सात ही तत्त्व क्यों कहे उसका प्रयोजन कहा है, उसी के अनुसार यहाँ संक्षेप कथन किया है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय के अजोड़ टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य, जो कि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व इस भरतक्षेत्र में हुए हैं और जिन्होंने गणधर जैसा कार्य किया है उन्होंने, 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' -में यही कहा है कि विपरीत अभिप्राय से रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल करने योग्य है। यदि यहाँ व्यवहार श्रद्धा की बात होती तो सदाकाल करने को कहते? नहीं। इसलिये यह व्यवहार श्रद्धा की बात नहीं, किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। वह सदाकाल करने योग्य है।

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा अथवा सात तत्त्व जैसे हैं वैसे ज्ञानी कभी नहीं भूलता। यह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है। विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, पुण्य-पाप आत्मा का रूप नहीं है, सच्ची श्रद्धा ही आत्मा का रूप है, कारण कि वह दर्शनमोह के दूर होने पर प्रगट होता है, इसलिये वह आत्मा का स्वभाव है।

यह आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है। शरीर-मन-वाणी जड़ तथा पुण्य-पाप विकार है-ऐसा भेदज्ञान करना प्रयोजनभूत है। तत्त्वार्थों की श्रद्धा सदाकाल करना योग्य है। श्रद्धा करने के

बाद वह सादिअनंतकाल रहती है। तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन राग अथवा विकार नहीं है, वरन् आत्मा का स्वरूप है। जिस पर्याय में सात तत्त्वों की श्रद्धा होती है वह निर्मल पर्याय है। सातों ही तत्त्व निर्मल पर्याय नहीं है। उनमें जीव-अजीव तो द्रव्य है, आस्रव और बंध विकारी पर्याय है, संवर और निर्जरा अपूर्ण शुद्धपर्याय है तथा मोक्ष पूर्ण निर्मल पर्याय है। इसप्रकार सात तत्त्वों की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। वह निर्विकारी पर्याय है। सात तत्त्वों में जीव, अजीव, विकारी-अविकारी पर्यायें-इत्यादि सब आता है; परन्तु सात तत्त्वों की श्रद्धा में निर्विकारी पर्याय आती है। वह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। क्योकि वह दर्शनमोह की उपाधि दूर होने पर प्रगट होता है। अत: वह आत्मा का स्वभाव है। शरीरादि पर में आनंद है, मेरे में आनंद नहीं-ऐसी भ्रान्ति का निमित्त कारण मोह है। आस्रव-बंध उपाधिभाव और सम्यग्दर्शन निरूपाधिभाव है। वह सम्यग्दर्शन अनादि का नहीं, किन्तु नया प्रगट होता है। वह चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक तो होता ही है, सिद्धदशा में भी उसका सदाकाल सद्भाव रहता है। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्धस्वभाव की जो श्रद्धा प्रगटी है वह सिद्ध में भी रहती है, इसलिये यह निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो राग है, वह सिद्ध में नहीं होता है।

मैं शुद्ध चैतन्य स्वभावी हूँ -ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ वह वृद्धिगत होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। इसी ग्रंथ में कहा है कि जो ज्ञान मति-श्रुतरूप प्रवर्त्तता है वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है। यह बात जाति अपेक्षा से है। मिथ्याज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होता है-यह इसका आशय नहीं है।

सम्यग्दर्शन बंध का कारण नहीं है। पुण्य-पाप विकार है और मेरा स्वभाव निर्विकार है-ऐसी श्रद्धा करना विकार से छूटने का उपाय है।

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असंभवदोष का परिहार

....यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी कितने ही जीव सात तत्त्वों का नाम भी नहीं जान सकते, उनके भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति शास्त्र में कही है; इसलिये तुमने तत्त्वार्थश्रद्धानपना सम्यक्त्व का लक्षण कहा उसमें अव्याप्ति दूषण लगता है।

समाधान:- जीव-अजीवादिक के नामादिक जानो या न जानो या अन्यथा जानो, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है।

वहाँ कोई सामान्यरूप से स्वरूप को पहिचानकर श्रद्धान करता है, कोई विशेषरूप से स्वरूप को पहिचानकर श्रद्धान करता है। इसलिये जो तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टि हैं वे जीवादिक का नाम भी नहीं जानते, तथापि उनका सामान्यरूप से स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं, इसलिये उनके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जैसे- कोई तिर्यंच अपना तथा औरों का नामादिक तो नहीं जानता; परन्तु आपही में अपनत्व मानता है, औरों को पर मानता है। उसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीव का नाम नहीं जानता; परन्तु जो ज्ञानादिस्वरूप आत्मा है उसमें तो अपनत्व मानता है, और जो शरीरादि हैं उनको पर मानता है- ऐसा श्रद्धान उसके होता है; वही जीव-अजीव का श्रद्धान है। तथा जैसे वही तिर्यंच सुखादिक के नामादिक नहीं जानता है, तथापि सुख अवस्था को पहिचानकर उसके अर्थ आगामी दु:ख के कारण को पहिचानकर उसका त्याग करना चाहता है, तथा जो दु:ख का कारण बन रहा है उसके अभाव का उपाय करता है। उसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिक का नाम नहीं जानता, तथापि सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्था का श्रद्धान करता हुआ उसके अर्थ आगामी बंध के कारण जो रागादि आस्रव उसके त्यागरूप संवर करना चाहता है, तथा जो संसार दु:ख का कारण है उसकी शुद्धभाव से निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार आस्रवादिक का उसके श्रद्धान है।

इसप्रकार उसके भी सप्ततत्त्व का श्रद्धान पाया जाता है। यदि ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादि त्यागकर शुद्धभाव करने की चाह न हो। वही कहते हैं :-

यदि जीव-अजीव की जाति न जानकर आपापर को न पहिचाने तो पर में रागादिक कैसे न करे? रागादिक को न पहिचाने तो उनका त्याग कैसे करना चाहे? वे रागादिक ही आस्रव हैं। रागादिक का फल बुरा न जाने तो किसलिये रागादिक छोड़ना चाहे? उन रागादिक का फल वही बन्ध है। तथा रागादिरहित परिणाम को पहिचानता है तो उसरूप होना चाहता है। उस रागादिरहित परिणामही का नाम संवर

है। तथा पूर्व संसार अवस्था के कारण की हानि को पहिचानता है तो उसके अर्थ तपश्चरणादि से शुद्धभाव करना चाहता है। उस पूर्व संसार अवस्था का कारण कर्म है उसकी हानि वही निर्जरा है। तथा संसार अवस्था के अभाव को न पहिचाने तो संवर-निर्जरारूप किसलिये प्रवर्ते? उस संसार अवस्था का अभाव वही मोक्ष है। इसलिये सातों तत्त्वों का श्रद्धान होनेपर ही रागादिक छोड़कर शुद्धभाव होने की इच्छा उत्पन्न होती है। यदि इनमें एक भी तत्व का श्रद्धान न हो तो ऐसी चाह उत्पन्न नहीं होती। तथा ऐसी चाह तुच्छज्ञानी तिर्यंचादि सम्यग्दृष्टि के होती ही है; इसलिये उसके सात तत्त्वों का श्रद्धान पाया जाता है ऐसा निश्चय करना। ज्ञानावरण का क्षयोपशम थोड़ा होने से विशेष रूप से तत्त्वों का ज्ञान न हो, तथापि दर्शनमोह के उपशमादि से सामान्यरूप से तत्त्वश्रद्धान की शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार इस लक्षण में अव्याप्ति दूषण नहीं है।....

अब जो सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है उसमें वह लक्षण किसीसमय किसी समकित में नहीं व्यापता-ऐसा अव्याप्तिदोष अथवा मिथ्याश्रद्धान में भी वह लक्षण होता है ऐसा अतिव्याप्तिदोष अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता ऐसा असंभव दोष होता है? ऐसे प्रश्नों का स्पष्टीकरण किया जाता है।

प्रश्नः- चिड़िया अथवा मेढ़क को समकित होता है, उन्हे तो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं आते तो भी उनको भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है-ऐसा शास्त्र में कहा गया है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के लक्षण में अव्याप्तिदोष लगता है?

उत्तरः- कोई जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के नाम जाने अथवा न जाने अथवा सात तत्त्वों के नाम अन्यथा जाने; परन्तु जीव का ज्ञानानंद स्वरूप, अजीव का परस्वरूप (अपने से भिन्न स्वरूप) आस्रव अर्थात् विकार का स्वरूप, विकार में अटकना बंध का स्वरूप, अपूर्ण निर्मल पर्याय संवर-निर्जरा का स्वरूप और पूर्ण निर्मल पर्याय मोक्ष का स्वरूप -इसप्रकार पहिचानकर सम्यग्दर्शन होता है। जैसे किसी भील को रुपये का नाम न आता हो; और न उसकी गिनती करना आता हो; परन्तु उसके पास रुपये होने से वह धनवान कहा जाता है; इसीप्रकार जीव ज्ञानस्वभावी है, अजीव पर है, विकारादि दुःखदायक है ऐसा जानने पर सम्यग्दर्शन होता है।

तिर्यन्च तत्त्वों के नाम नहीं जानता तो भी उसको उनके भाव का पता है-इसकारण उसको सम्यग्दर्शन होता है। सात तत्त्व जैसे हैं वैसे पहिचानने से सम्यग्दर्शन होता है। कोई सामान्यरूप से तो कोई विशेष रूप से पहिचानकर सम्यग्दर्शन करता है। यहाँ सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय -यह अर्थ नहीं है; परन्तु सामान्य अर्थात् थोड़ा और विशेष अर्थात् अधिक-ऐसा अर्थ जानना चाहिये।

कितने ही तुच्छज्ञानी तिर्यन्चादि को जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के नाम नहीं आते, परन्तु भाव का पता है; वे संक्षेपरूप से उनका स्वरूप पहिचानकर श्रद्धा करते हैं, इसलिये उनको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। अत: तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण तुच्छज्ञानी में भी व्यापता है; कारण कि उसे तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा है। इसलिये अव्याप्ति दोष नहीं आता।

जैसे एक कुत्ते का बच्चा हो, उसे अपना तथा दूसरा कुत्ते का नाम नहीं आता; परन्तु वह अपने को अपनेरूप मानता है और अपनी माँ के नाम का पता न होने पर भी उसके प्रति स्नेहभाव दर्शाता है, इसलिये यह मेरी माँ लगती है और कोई दूसरा प्रतिकूल कुत्ता आवे तो यह विरोधी है-ऐसे भाव का भासन उसको होता है। बिल्ली कुत्ते को देखती है तो वहाँ पता पड़ता है कि यह कुत्ता पर और स्वयं स्व है। इसप्रकार नाम नहीं आने पर भी भाव जानती है। इसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीव के नाम नही जानता; तथापि वह ज्ञानानंदस्वरूपी आत्मा में स्वपना मानता है और शरीरादि को पर मानता है। वह शरीर और कर्म का नाम नहीं जानता, परन्तु स्वयं ज्ञानस्वरूप है और इसके अतिरिक्त सब पर है-ऐसा जानता है। ऐसा होने से तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि तिर्यन्चादि को जीव-अजीव का श्रद्धान है।

तथा तिर्यन्च को सुख-दु:खादि के नाम नहीं आते, उनके यह लक्षण है ऐसा भी वे नहीं जानते; तो भी सुख अवस्था को पहिचानते हैं। कुत्ते आदि तिर्यन्च जानते हैं कि अमुक वस्तु अनुकूल है, इसलिये उसको रखना चाहते हैं और लकड़ी आदि प्रतिकूल है तो उससे दूर भगना चाहते हैं। उनको सुख और दु:ख के नाम का पता नहीं है, तथापि रोटी मिलने से सुख होगा-ऐसे भाव का पता है; परन्तु रोटी व सुख के नाम का पता नहीं है, इसीप्रकार लकड़ी और दु:ख के नाम का भी पता नहीं है; परन्तु दु:ख का अभाव चाहते हैं और उसका उपाय करते है।

इसीप्रकार तुच्छज्ञानी तिर्यन्चादि जीव, अजीव,आस्रव,बंध,संवर,निर्जरा, और मोक्ष इन सात तत्त्वों के नाम नहीं जानते; परन्तु मोक्षदशा सुखरूप है। ऐसी श्रद्धा उनको वर्तती है। आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है, उसकी रुचि करके बारम्बार उसमें ढ़लते हैं। उनको सुख का अथवा मोक्ष का नाम नहीं आता; परन्तु मोक्ष की श्रद्धा है। तथा वर्तमान में स्वभाव सन्मुख झुकते हैं। इसलिये संवर-निर्जरा की श्रद्धा वर्तती है और आकुलता का अभाव करना चाहते हैं, इसलिये उनको आस्रव-बंध की श्रद्धा वर्तती है। भावी दु:ख के कारणरूप आस्रव-बंध का अभाव चाहते हैं और चिदानंद स्वभाव सन्मुख झुकना चाहते हैं, वह संवर है; इसलिये संवर की श्रद्धा है। स्वभाव सन्मुखता से शुद्धि की वृद्धि होती है यह निर्जरा की श्रद्धा है। इसप्रकार तुच्छज्ञानी के सम्यग्दर्शन में भी सातों ही तत्त्वों की श्रद्धा व्यापती है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

देखो, पण्डितजी ने छोटी सी उम्र में इस मोक्षमार्गप्रकाशक में हजारों ग्रंथों का सार भर दिया है, उनका क्षयोपशम बहुत था।

केवली भगवान, श्रुतकेवली अथवा तुच्छज्ञानी के सम्यग्दर्शन मे कोई अंतर नहीं है। सभी ज्ञानियों को सात तत्त्वों की श्रद्धा होती ही है।

जैसे कोई चीनी और मिश्री का नाम न जानता हो; परन्तु स्वाद में अन्तर जानता है, लाल और हरी मिर्च का नाम न जानता हो; परन्तु चरपराहट के भेद का पता होता है; इसीप्रकार तिर्यन्च जीव-अजीव का नाम नहीं जानता हो, तो भी सातों तत्त्वों का भाव भासन है , इसलिये अव्याप्तिदोष नहीं है।

यहाँ ऐसा बताते हैं कि सिद्ध हो, केवली हो, श्रुतज्ञानी हो, कोई चौथे अथवा बारहवें गुणस्थान में हो, सम्यग्दृष्टि तिर्यन्च हो अथवा तीर्थंकर हो तो भी सम्यग्दर्शन का लक्षण (तत्त्वार्थश्रद्धान) सब में व्यापता है। जैसे दशाश्रीमाली नात में जीमने के लिये दशाश्रीमाली साधारण गरीब बनिया हो अथवा मालदार हो, कोई भी आ सकता है; इसीप्रकार आत्मा के भाव भासन में अथवा तत्त्वश्रद्धान के लक्षण की अपेक्षा से तुच्छज्ञानी-केवलज्ञानी साथ हैं। इसप्रकार तुच्छज्ञानी को सात तत्त्वों की श्रद्धा है। यदि उसको ऐसा श्रद्धान न होवे तो रागादिक को छोड़कर शुद्धभाव करने की इच्छा भी नहीं हो सकती।

तिर्यन्च को ज्ञान थोड़ा है; परन्तु यदि वह जाति नहीं जाने अर्थात स्वयं स्व है और शरीरादि पर है -ऐसा नहीं पहिचाने तो पर में रागादिक कैसे नहीं करे? उसको शरीरादि में रुचि नहीं है और ज्ञानानंद आत्मा में रुचि है; इसलिये स्वभाव और शरीर को भिन्न जानता है। इसप्रकार उसको जीव-अजीव की श्रद्धा हुई है।

आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा मोक्ष है, उसके कारणरूप मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन उसका एक अंग है। सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र होता है। उस सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शरीरादि अजीव है, पुण्य-पापभाव आस्रव और बंध है, संवर-निर्जरा और मोक्ष शुद्धता है-ऐसी प्रतीति तुच्छज्ञानियों को हो सकती है या नहीं? किसी तिर्यन्च को समवसरण में भी आत्मा का भान होता है अथवा कोई तिर्यन्च ढाई द्वीप के बाहर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है -तो उसको सात तत्त्वों की श्रद्धा होती है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर चल रहा है।

जो जीव की जाति नहीं जाने, स्व-पर को नहीं पहिचाने तो वह पर में रागादिक कैसे नहीं करेगा? उनकी जाति नहीं पहिचाने अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि अजीव है-ऐसा नहीं जाने तो रागादिक कैसे नहीं करेगा? परन्तु उसको भान है इसलिये रागादिक नहीं करता। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ -ऐसा नहीं जाननेवाला स्व को नहीं पहिचानने से पर को भी नहीं पहिचानता; तब वह स्व की रुचि छोड़कर पर की रुचि क्यों नहीं करेगा। परन्तु पर की रुचि नहीं करता; इसलिये स्व की रुचि करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है-ऐसा सत्य का स्वीकार करने पर परपदार्थ अपने में नहीं है-यह स्वीकार हो जाता है। मैं चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ-ऐसी अस्ति और मेरे में पर की नास्ति है-इसप्रकार अस्ति-नास्ति का भान वर्तता है।

आत्मा का भान होने पर भी कमजोरीवश रागादि होते हैं, उस राग को न जानता हो तो उस ओर से हटकर स्वभाव सन्मुख कैसे होता है? वह प्रतिक्षण ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होना चाहता है; इसलिये उसे ज्ञानस्वरूप से विपरीत विकार का पता है। ये रागादिभाव आस्रव और आत्मा की शान्ति को लूटनेवाले हैं -ऐसा जानकर उनसे हटकर शान्ति में आना चाहता है, इसलिये उसको आस्रव का पता है।

रागादिक का फल बुरा है, पुण्य-पाप का फल बंधन है। उसे अहितकर नहीं जाने तो उसे छोड़कर अबंध स्वभाव की ओर क्यों आना चाहता है? इसलिये उसको बंधन के भाव

का पता है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसके भान द्वारा रागरहित होना चाहता है, इसलिये संवर को पहिचानता है।

सभी समकिती जीवों को सात तत्त्वों की पहिचान है। आत्मा ज्ञान की मूर्ति है, उसमें एकाग्र होने के परिणाम को नहीं पहिचाने तो राग से क्यों हटना चाहता है? सम्यग्दृष्टि तिर्यन्च बारह व्रत के परिणाम से भी हटना चाहता है, इसलिये उसको संवर की पहचान है।

आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा है। मोक्षमार्ग अवयवी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके तीन अवयव अथवा अंग हैं। उनमें सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है। वह सम्यग्दृष्टि तिर्यन्च को भी होता है। जैसे बालक भी अग्नि में हाथ लग जाने पर खेंच लेता है और बेरिस्टर भी हाथ खेंच लेता है, बेरिस्टर अग्नि का स्पष्टीकरण कर सकता है, बालक नहीं कर सकता; परन्तु अग्नि प्रतिकूल है और उससे हाथ जल जाता है-इस भाव का भासन बालक को भी है। दोनों का भाव-भासन समान है; इसीप्रकार अल्पज्ञानी तिर्यन्च के और विशेषज्ञानी जीव के तत्त्वार्थश्रद्धान में कोई अंतर नहीं है। सभी सम्यग्दृष्टियों का तत्त्वार्थश्रद्धान समान ही होता है।

आत्मा शुद्ध चिदानंद है, उसमें शुद्धभाव की वृद्धि करना चाहता है और इससे कर्म की हानि होती है। पूर्व संसार अवस्था का कारण कर्म है, उसकी हानि होना और शुद्धि की वृद्धि होना ही निर्जरा है, इसलिये वह (तिर्यन्च) निर्जरा को पहिचानता है।

पुण्य-पाप की विकारीदशा संसार है। वह जीव की पर्याय में रहता है। उसका अभाव करके पूर्ण शुद्धता प्रगट करना चाहता है, इसलिये उसको मोक्ष का भी पता है।

आत्मा का भान होने पर समस्त भाव का भासन वर्तता है। इसप्रकार उसे सातों तत्त्वों की पहिचान है। यदि पहचान न हो तो सम्यग्दर्शन ही नहीं हो सकता। यद्यपि उस तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि तिर्यन्च को विशेष ज्ञान नहीं है; परन्तु प्रयोजनभूत ज्ञान है। यदि तत्त्व की श्रद्धा न होवे तो शुद्धभावरूप होने की इच्छा नहीं हो सकती। ऐसी इच्छा तुच्छज्ञानी तिर्यन्च सम्यग्दृष्टियों के होती ही है। इसलिये उनके सात तत्त्वों का श्रद्धान होता है ऐसा निश्चय करना।

सुकौशल मुनिराज के शरीर को बाघिन भक्षण करती है। फिर मुनि का कुछ लक्षण देखकर उस बाघिन को ख्याल आ जाता है कि यह मेरा पूर्वभव का पुत्र है, इसलिये वह वैराग्य

प्राप्त करके समाधिमरण करती है। भगवान महावीर होने से पूर्व दसवें भव में उनका जीव सिंह था। सिंह हिरण को मारने हेतु जाता है, इतने में दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज वहाँ आकर सिंह को सम्बोधित हैं कि तू तो दसवें भव में तीर्थंकर होगा। यह बात सुनकर सिंह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। इसप्रकार तिर्यन्च को भी सातों तत्त्वों की श्रद्धा होती है। ज्ञानावरण का क्षपोपशम अल्प होने से उसको विशेषरूप से तत्त्वों का ज्ञान नहीं है; तो भी दर्शनमोह के उपशम से तत्त्वों की श्रद्धा यथार्थ होती है; इसलिये इसमें अव्याप्तिदूषण नहीं है।

....फिर प्रश्नः- जिस काल में सम्यग्दृष्टि विषयकषायों के कार्य मे प्रवर्तता है उस काल में सात तत्त्वों का विचार ही नहीं हैं, वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भावित है? और सम्यक्त्व रहता ही है; इसलिये उस लक्षण में अव्याप्ति दूषण आता है?

समाधानः- विचार है वह तो उपयोग के आधीन है; जहाँ उपयोग लगे उसी का विचार होता है। तथा श्रद्धान है सो प्रतीतिरूप है। इसलिये अन्य ज्ञेय का विचार होने पर व सोना आदि क्रिया होने पर तत्त्वों का विचार नहीं है; तथापि उनकी प्रतीति बनी रहती है, नष्ट नहीं होती; इसलिये उसके सम्यक्त्व का सद्भाव है।

जैसे- किसी रोगी मनुष्य को ऐसी प्रतीति है कि मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंचादि नहीं हूँ, मुझे इस कारण से रोग हुआ है, सो अब कारण मिटाकर रोग को घटाकर निरोग होना। तथा वही मनुष्य अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसको ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है। उसीप्रकार इस आत्मा को ऐसी प्रतीति है कि 'मैं आत्मा हूँ, पुद्गलादि नहीं हूँ मेरे आस्रव से बन्ध हुआ है, सो संवर करके, निर्जरा करके, मोक्षरूप होना'। तथा वही आत्मा अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है तब उसके ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है।

फिर प्रश्न है कि ऐसा श्रद्धान रहता है तो बन्ध होने के कारणों में कैसे प्रवर्तता है?

उत्तरः- जैसे वही मनुष्य किसी कारण के वश रोग बढ़ने के कारणो में भी प्रवर्तता है, व्यापारादिक कार्य व क्रोधादिक कार्य करता है, तथापि उस श्रद्धान का उसके नाश नहीं होता; उसीप्रकार वही आत्मा कर्मउदय निमित्त के वश बन्ध होने के कारणों में भी प्रवर्तता है, विषय-सेवनादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है, तथापि उस श्रद्धान का उसके नाश नहीं होता। इसका विशेष निर्णय आगे करेंगे।

इसप्रकार सप्त तत्त्व का विचार न होने पर भी श्रद्धान का सद्भाव पाया जाता है, इसलिये वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।....

प्रश्न:– सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा का भान होता है तो भी वह जीव लड़ाई के परिणाम में तथा क्रोध, मान, माया, लोभ में प्रवर्त्तता दिखता है। उस काल में उसके सात तत्त्वों का विचार नहीं होता, तो वहाँ सात तत्त्वों की श्रद्धा नहीं है और उसको आत्मा का भान तो रहता है; इसलिये 'तत्त्वार्थश्रद्धान' सम्यग्दर्शन के लक्षण में अव्याप्ति दूषण आता है?

उत्तर:– विचार जानने-देखने के व्यापार के आधीन है। वह व्यापार आत्मा की तरफ जुड़ता है तो आत्मा का विचार करता है, पर तरफ जुड़ता है तो पर का विचार करता है; तथापि सात तत्त्वों की प्रतीति का अभाव नहीं होता। तथा उसके लब्धज्ञान में स्व को पकड़ने की ताकत मिटती नहीं है । सम्यग्दृष्टि अन्य ज्ञेयों का विचार करे अथवा नींद में हो तब सात तत्त्वों के ज्ञान का उपयोग नहीं है; परन्तु सात तत्त्वों की प्रतीति नहीं मिटती-इसकारण उसके समकित का अस्तित्व है। ज्ञानी विषय-कषाय में प्रवर्त्तता हो, लड़ाई हो; परन्तु उसको अन्तर श्रद्धा वर्तती है, उसका नाश नहीं होता।

जैसे किसी रोगी पुरुष को प्रतीति है कि मैं मनुष्य हूँ, तिर्यन्च नहीं और मुझे इस कारण से रोग हुआ है। खटाई खाने से विस्फोटक रोग हुआ है और अब मुझे यह कारण मिटाकर, रोग घटाकर निरोग होना चाहिये।

देखो, पण्डितजी किस ढंग से और कैसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं। उनकी माताजी छह महीने तक सब्जी में नमक नहीं डालती थी और वे खाते थे, तो भी उन्हें पता नही पड़ा और छह माह के पश्चात पता पड़ा। शास्त्र लिखने में उनकी ऐसी तल्लीनता थी।

यहाँ रोगी का दृष्टान्त योग्य रीति से दिया गया है। वह रोगी रोग के कारण घटाकर निरोग होना चाहता है। अब वह रोगी मनुष्य जब व्यापारादि के विचाररूप प्रवर्तता है तब मैं मनुष्य हूँ, तिर्यन्च नहीं, इसकारण से मुझे रोग हुआ है-ऐसा विचार उसके नहीं होता है; परन्तु श्रद्धान मिटता नहीं है। रोग का कारण जानकर, रोग घटाकर निरोग होना है-इस श्रद्धा का अभाव नहीं होता है; इसीप्रकार इस आत्मा के ऐसी प्रतीति हुई है कि मैं आत्मा हूँ, शरीरादि मैं नहीं हूँ, मुझे पुण्य-पाप के परिणामों से बंध है; परन्तु अब संवर द्वारा निर्जरा करके मोक्षरूप

होना है। वही आत्मा अन्य विचाररूप प्रवर्तता है तब उसको ऐसा विचार नहीं होता; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

जैसे रोगी को अन्य कार्य करते हुए, अन्य विचार में होने पर भी उसको (रोग मिटाने की) श्रद्धा रहती है; इसीप्रकार धर्मात्मा को भान है कि मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूपी हूँ। पुण्य-पाप बंध का कारण है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रतीति का उसको कभी अभाव नहीं होता है। वह शुभाशुभभाव को रोग समझता है। अब संवर अर्थात् चिदानंद आत्मा के भान और लीनता द्वारा रोग का अभाव करके निरोगदशा अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करनी है-ऐसी श्रद्धा उसको सदैव वर्त्तती है। वह धर्मात्मा अन्य किन्हीं कार्यों में प्रवर्तता है तो भी इस श्रद्धा का अभाव नहीं होता है। विकार मिटाकर बंध घटाकर मोक्षरूप होना-ऐसी प्रतीति उसके मिटती नहीं है।

जैसे कोई बनिया ढेढ़ (नीच जाति) के मेले में जा पहुंचे तो स्वयं बनिया है इस बात को भूल नहीं जाता । शरीर, कर्म,दाल,भात, रोटी आदि अजीव का ढेढिया मेला है। चिदानंद भगवान आत्मा उससे भिन्न है। तथा जैसे कोई व्यापारी ढेढ़ के साथ लेन-देन का व्यवहार करता है; तथापि वह स्वयं बनिया है, ढेढ़ नहीं-यह बात भूल नहीं जाता; इसीप्रकार पर्याय में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, तथापि धर्मी उनको आस्रव मानता है, बंध का कारण मानता है। वह आस्रव को मिटाकर,बंध को घटाकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है।

प्रश्नः- यदि उसको ऐसा श्रद्धान रहता है तो वह बंध होने के कारणों में क्यों प्रवर्त्तता है? जब ज्ञानी को बंध के कारण मिटाकर, बंध घटाकर बंध का अभाव करने की प्रतीति सदा वर्तती है तो फिर वह बंध के कारणरूप आस्रव में क्यों वर्तता है! आत्मा ज्ञानानंद है, आस्रव हेय है, बंध अहितकर है, संवर उपादेय (हितकर) है, बंध का अंशतः अभाव करना निर्जरा है और सर्वथा अभाव करना मोक्ष है, वह परमहितरूप है-धर्मी को इन सात तत्त्वों की श्रद्धा वर्तती है तो धर्मी बंध के कारणों में क्यों वर्तता है ?

उत्तरः- जैसे किसी मनुष्य को किसी कारणवश सर्प को पकड़ रखना पड़ता है; तथापि उसको पकड़े रखने का अभिप्राय नहीं है; परन्तु बाहर फैंक आने का भाव है; इसीप्रकार धर्मात्मा को राग-द्वेष होते हैं; परन्तु उसका अभिप्राय उनको रखने का नहीं है। सम्यग्दृष्टि को भान है कि मैं ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ। पुण्य-पाप बंध का कारण है; तथापि अपनी

कमजोरी से कर्मोदय के आधीन होकर पुण्य-पापरूप प्रवर्त्तता है। जड़ कर्म पर को (आत्मा को) बलजोरी से आधीन नहीं करता है; परन्तु जीव स्वयं (पुण्य-पापादिरूप) प्रवर्त्तता है। अंतर में ज्ञानी को भान है कि बंध अहितरूप है और उसका अभाव करना चाहिये; तथापि (कमजोरी से) उनमें प्रवर्त्तता है -शुभाशुभ में प्रवर्त्तता है। भरत और बाहुबली दोनों को आत्मा का भान था, दोनों तद्भव मोक्षगामी थे, तो भी उनको युद्ध के परिणाम हुए; तथापि आत्मा की प्रतीति का अभाव नहीं हुआ था। इसका विशेष निर्णय आगे करुँगा-ऐसा लिखा है; परन्तु पण्डितजी सैंतालीस वर्ष की उम्र में स्वर्गस्थ हो जाने के कारण पूरा ग्रंथ लिखा नहीं जा सका है।

इसप्रकार सात तत्त्वों का विचार न होने पर भी वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान सद्भावरूप रहता है। विषय-कषाय में प्रवर्त्तने पर भी अथवा बंध के कारणों में प्रवर्त्तन के समय भी धर्मी को तत्त्वश्रद्धा रहती है।

शांतिनाथ, कुन्थुनाथ,अरनाथ तीर्थंकर को जन्म समय से ही तीन ज्ञान थे, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; तथापि छियानवें हजार स्त्रियों के साथ विवाह किया था? समाधान यह है कि ज्ञानी को आत्मा का भान होने पर भी पुण्य-पाप के परिणाम में वर्तता है; परन्तु वे हेय हैं-यह बात उसकी श्रद्धा से हटती नहीं है। बंध में रहने पर भी बंध अहितकर है-यह बात श्रद्धा में से नहीं हटती है। अर्थात् ऐसी श्रद्धा का अभाव नहीं होता है।

अज्ञानी जीव मुनि हो जाये अथवा बारह व्रत और तप करे; परन्तु आत्मा उपादेय और आस्रव हेय-ऐसी श्रद्धा नहीं होने से वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहा कि सम्यग्दृष्टि बंध को अहितकर जानने पर भी आस्रव का सेवन करता है तो उसको श्रद्धा है या नही? हाँ, वहाँ भी श्रद्धा है, इसलिये इसमें अव्याप्तिदोष नहीं आता है।

....फिर प्रश्नः- उच्चदशा मे जहाँ निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ तो सप्त तत्त्वादिक के विकल्प का भी निषेध किया है। सो सम्यक्त्व के लक्षण का निषेध करना कैसे सम्भव है? और वहाँ निषेध सम्भव है तो अव्याप्ति दूषण आया?

उत्तरः- निचलीदशा में सप्त तत्त्वों के विकल्पों में उपयोग लगाया, उससे प्रतीति को दृढ़ किया और विषयादिक से उपयोग छुड़ाकर रागादि घटाये। तथा कार्य सिद्ध होनेपर कारणों का भी निषेध करते हैं; इसलिये जहाँ प्रतीति भी दृढ़ हुई और

रागादिक दूर हुए, वहाँ उपयोग भ्रमाने का खेद किसलिये करे? इसलिये वहाँ उन विकल्पों का निषेध किया है। तथा सम्यक्त्व का लक्षण तो प्रतीति ही है; सो प्रतीति का तो निषेध नहीं किया। यदि प्रतीति छुड़ायी हो तो इस लक्षण का निषेध किया कहा जाये, सो तो है नहीं। सातों तत्त्वों की प्रतीति वहाँ भी बनी रहती है, इसलिये यहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।....

प्रश्नः– आत्मा का ज्ञान स्वरूप में प्रवर्ते और निर्विकल्प अनुभव हो वहाँ तो सात तत्त्वों के विकल्पों का निषेध किया है? अब सम्यक्त्व के लक्षण का निषेध करना कैसे संभव है? निर्विकल्प अनुभव के समय सात तत्त्वों का विचार नहीं है, तो वह लक्षण नहीं आया, इसलिये वहाँ अव्याप्तिदोष आया या नही?

उत्तरः– निचलीदशा में सात तत्त्वों के विचार में उपयोग लगाकर प्रतीति को दृढ़ किया और विषयादि से उपयोग छुड़ाकर रागादिक छोड़ने के लिए प्रथम सात तत्त्वों का विचार करके निर्णय किया और रागादिक घटाये। अब जिस कार्य की सिद्धि करनी थी वह सिद्धि होने के पश्चात् सात तत्त्वों के विकल्प का कोई प्रयोजन नहीं रहता; इसलिये वहाँ विकल्पों का निषेध किया है; परन्तु सात तत्त्वों की प्रतीति का निषेध नहीं किया है।

जबतक कार्य की सिद्धि नहीं हुई तबतक विकल्प था; परन्तु कार्य की सिद्धि होने के बाद विकल्प का प्रयोजन नहीं रहा; परन्तु इससे प्रतीति का अभाव नहीं हुआ है। सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अनुभव के समय भेद का विकल्प नहीं रहता है; परन्तु प्रतीति भी नहीं है ऐसा नहीं है।

द्रव्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु यहाँ तो ज्ञान की प्रधानता से कथन है। अर्थात् स्वभाव, पर्याय और निमित्त का यथार्थ स्वरूप समझाया है। नियमसार में तो उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव–इन चारों को विभावभाव कहा है। अर्थात् इनका विकल्प रहे वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। यहाँ तो विकल्परहित सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने को तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा है।

आत्मा ज्ञानानंद है, उसके आश्रय से प्रतीति हुई; इसलिये सात तत्त्वों में उपयोग लगाकर दृढ़ता की ऐसा ज्ञान की प्रधानता से कहा है। जो निर्विकल्प हुआ वह सात तत्त्वों के विकल्प में ज्ञान को क्यों भ्रमायेगा? वह सात तत्त्वों के भेद में ज्ञान को नहीं रोकता है। तथा सम्यक्त्व

का लक्षण तो प्रतीति है। उच्चदशा में सात तत्त्वों के रागमिश्रित विचार का निषेध किया है; परन्तु सात तत्त्वों की प्रतीति का निषेध तो नहीं किया है। अर्थात् वहाँ विकल्प का अभाव होता है, प्रतीति का अभाव नहीं होता।

समकिती को चौथे गुणस्थान में भी निर्विकल्पदशा में बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। स्वभाव में स्थिर हो तब भेद में रहने की आवश्यकता नहीं है इसलिये विकल्प का निषेध किया है। समकित के प्रतीति लक्षण का निषेध नहीं किया है। यदि सात तत्त्वों की प्रतीति छुड़ायी हो तो लक्षण का निषेध किया कहलाये। सात तत्त्वों का विकल्प छूटने पर भी प्रतीति कायम रहती है, इसलिये अन्तर अनुभव के समय भी सम्यग्दर्शन का लक्षण सात तत्त्वों की प्रतीति कायम रहती है। स्वज्ञेय को पकड़ने के समय बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता, तथापि तत्त्वों की श्रद्धा रहती है। इसलिये इसमें अव्याप्तिदोष लागू नहीं पड़ता।

....फिर प्रश्न है कि छद्मस्थ के तो प्रतीति-अप्रतीति कहना सम्भव है, इसलिये वहाँ सप्त तत्त्वों की प्रतीति सम्यक्त्व का लक्षण कहा सो हमने माना; परन्तु केवली-सिद्ध भगवान के तो सर्वका जानपना समानरूप है, वहाँ सप्त तत्त्वों की प्रतीति कहना सम्भव नहीं है, और उनके सम्यक्त्वगुण पाया ही जाता है, इसलिये वहाँ उस लक्षण का अव्याप्तिपना आया?

समाधानः- जैसे छद्मस्थ के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है, उसी प्रकार केवली-सिद्ध भगवान के केवलज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त तत्त्वों का स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना, वहाँ प्रतीति का परमावगाढ़पना हुआ; इसी से परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती; सो तो जैसा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ के हुआ था, वैसा ही केवली-सिद्ध भगवान के पाया जाता है; इसलिये ज्ञानादिक की हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक व केवली-सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण समान ही कहा है।

तथा पूर्व अवस्था में यह माना था कि संवर-निर्जरा से मोक्ष का उपाय करना। पश्चात् मुक्त अवस्था होनेपर ऐसा मानने लगे कि संवर-निर्जरा से हमारे मोक्ष हुआ।

तथा पहले ज्ञान की हीनता से जीवादिक के थोड़े विशेष जाने थे, पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने; परन्तु मूलभूत जीवादिक के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ के पाया जाता है वैसा ही केवली के पाया जाता है। तथा यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं, तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं; इसलिये सम्यक्त्वगुण में सप्त तत्त्वों ही का श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली-सिद्धभगवान रागादिरूप नहीं परिणमित होते, संसार अवस्था को नहीं चाहते; सो यह श्रद्धान का बल जानना।....

प्रश्नः- केवली के सात तत्त्वों की प्रतीति कैसे संभव है? छद्मस्थ विषय-कषाय में हो, काम धंधे में हो अथवा निर्विकल्प अनुभव में हो तब भी प्रतीति संभव है, इसलिये वहाँ सात तत्त्वों की प्रतीति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा वह संभव है; परन्तु केवली तथा सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व होता है, वे तीनकाल-तीनलोक को जानते है, इसलिये सर्व का जानपना समान है, तो उसमें सात की प्रतीति मुख्य कहाँ आई; इसलिये सात तत्त्वों की प्रतीति संभवित नहीं है और उनको सम्यग्दर्शन तो होता है इसलिये केवली तथा सिद्धभगवान के तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण व्यापता नहीं है-इसकारण अव्याप्ति दोष आता है?

समाधानः- जैसे छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीव को भावश्रुतज्ञान द्वारा प्रतीति होती है, इसी तरह केवली और सिद्ध भगवान के केवलज्ञान के अनुसार ही प्रतीति होती है। चौथे गुणस्थान में वर्तते ज्ञानी से लेकर सिद्ध तक के जीवों के ज्ञान तथा चारित्र में अंतर होता है; परन्तु सात तत्त्वों की श्रद्धा एक जाति की होती है। सम्यग्दर्शन के अवगाढ़ और परमावगाढ़ भेद ज्ञान की अपेक्षा से है; परन्तु सम्यग्दृष्टि तिर्यन्चऔर सिद्ध की श्रद्धा में अंतर नहीं है।

केवली भगवंतो ने पूर्व छद्मस्थदशा में निर्णय किया था वह केवलज्ञान द्वारा जाना, इसलिये वहाँ प्रतीति में परमावगाढ़पना हुआ। इसीसे वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है; परन्तु पूर्व के श्रद्धान से अलग जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती। जैसा सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ का है वैसा ही केवली और सिद्ध को होता है। छद्मस्थ को ज्ञानादिक की हीनता और केवली को पूर्णता होने पर भी समकिती तिर्यन्च और केवली भगवान की सात तत्त्वों की प्रतीति में अंतर नहीं है।

केवली भगवान का आत्मा पूर्व में ऐसा मानना था कि आत्मा शुद्ध चिदानंद है। उसकी निर्विकारी दशा(संवर-निर्जरा) द्वारा पूर्णदशा (मोक्ष) का उपाय करना; अब ऐसा माना कि संवर द्वारा मोक्ष हुआ । अब प्रयोजन सिद्ध हो गया; इसलिये करना शेष नहीं रहा; परन्तु यह मानने लगे कि संवर निर्जरा द्वारा मोक्षदशा हो गई, अन्य किसी उपाय से नहीं हुई। पूर्व में श्रुतज्ञान में जीव-अजीव के भेद पाड़कर जानते थे और केवलज्ञान होने पर जीव-अजीव-आस्रव- बंधादि समस्त भेदों को जानते हैं; परन्तु मूलभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान जैसा अल्पज्ञ प्राणी को होता है; वैसा ही श्रद्धान केवली के भी होता है। यद्यपि केवली तथा सिद्ध भगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं; परन्तु वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं, सात तत्त्व प्रयोजनभूत हैं। इसलिये सम्यक्त्व गुण में सात तत्त्वों का श्रद्धान ग्रहण किया है।

केवली तथा सिद्ध भगवान रागादिक विकाररूप नहीं होते और संसार को नहीं चाहते वह इस श्रद्धान का ही बल जानना चाहिये। वे श्रद्धान के बल के कारण आस्रव-बंध को नहीं चाहते यह श्रद्धान का बल बताया।

तिर्यन्च के और सिद्ध के श्रद्धान में अंतर नहीं है तथा सिद्ध के सम्यग्दर्शन में भी तत्त्वों की श्रद्धारूप लक्षण वर्तता होने से वहाँ भी अव्याप्ति दोष नहीं आता।

....फिर प्रश्न है कि सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं?

उत्तर:- कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे- किसी वृक्ष के किसी एक शाखा से अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसीप्रकार किसी आत्मा के सम्यक्त्वगुण से अनेक गुणयुक्त मुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली-सिद्ध भगवान के भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व ही पाया जाता है, इसलिये वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।....

प्रश्न:- सम्यग्दर्शन तो मोक्षमार्ग है, तो मोक्ष हो जाने के बाद उसका सद्भाव कैसे कहते हो?

उत्तर:- कोई कारण ऐसे भी होते हैं कि जो कार्य सिद्ध हो जाने पर भी नष्ट नहीं होते। जैसे किसी वृक्ष की एक शाखा से अनेक शाखायें निकली हो तो भी वह मूल शाखा नष्ट नहीं

होती। इसीतरह किसी आत्मा को शुद्ध चैतन्य की प्रतीति तथा सात तत्त्वों की प्रतीति करने से अनेक गुणों की निर्मलदशा होती है, तो भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। सम्यक्त्वगुण प्रगटने पर चारित्र, सुख आदि प्रगट होते हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता। इसलिये सिद्ध में भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली तथा सिद्ध भगवान को भी तत्त्वों की श्रद्धा होती है; अत: वहाँ अव्याप्तिपना लागू नहीं पड़ता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान समस्त सम्यग्दृष्टियों में रहता है; इसलिये इसमें अव्याप्तिदोष नहीं हैं

इसप्रकार अव्याप्तिदोष का स्पष्टीकरण किया।

....फिर प्रश्न:- मिथ्यादृष्टि के भी तत्त्वश्रद्धान होता है ऐसा शास्त्र में निरूपण है। प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है; इसलिये सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहने पर उसमें अतिव्याप्ति दूषण लगता है?

समाधान:- मिथ्यादृष्टि के जो तत्त्वश्रद्धान कहा है, वह नामनिक्षेप से कहा है- जिसमें तत्त्वश्रद्धान का गुण नहीं, और व्यवहार में जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाये वह मिथ्यादृष्टि के होता है; अथवा आगमद्रव्यनिक्षेप से होता है- तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास करता है, उनका स्वरूप निश्चय करने में उपयोग नहीं लगता है- ऐसा जानना। तथा यहाँ सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, सो भावनिक्षेप से कहा है। ऐसा गुण सहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टि के कदाचित् नहीं होता। तथा आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी वही अर्थ जानना। जिसके सच्चे जीव-अजीवादिका श्रद्धान हो उसके आत्मज्ञान कैसे नहीं हो? होता ही होता है। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टि के सच्चा तत्त्वश्रद्धान सर्वथा नहीं पाया जाता, इसलिये उस लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण नहीं लगता।....

अब अतिव्याप्ति दोष लगता है या नहीं-यह बात करते हैं।

प्रश्न:- जीव-अजीवादि तत्त्वों की प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है; तो मिथ्यादृष्टि को भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता है -ऐसा शास्त्र में निरूपण हैं। श्री प्रवचनसार में आत्मज्ञान शून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिये जो सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है और

मिथ्यादृष्टिपना अलक्ष्य है। तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में व्यापता है। इसलिये इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है?

उत्तर:- मिथ्यादृष्टि को तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वह कथनमात्र है; क्योंकि उसको ज्ञानावरणी का क्षयोपशम है इसलिये धारणा है। प्रवचनसार में मिथ्यादृष्टि को तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है; परन्तु उसके भाव का भासन नहीं। समयसार में अभव्य के भी तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, वहाँ उसको श्रद्धान का भाव नहीं है; परन्तु व्यवहार से तत्त्वश्रद्धान कहते हैं। वह तत्त्वश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास करता है; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान आगम द्रव्यनिक्षेप से कहा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, विकारादि दोष है, संवर-निर्जरा उपादेय है ऐसे भाव का भासन उसको नहीं है। सात तत्त्वों की प्रतीति करनी चाहिये वह करता नहीं है, सात तत्त्वों के भाव का निर्णय करता नहीं है; इसलिये (तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण उसमें व्याप्त न होने से) अतिव्याप्तिदोष नहीं आता है।

जो लक्षण लक्ष्य तथा अलक्ष्य दोनों पदार्थों में हो उस लक्षण में अतिव्याप्तिदोष आता है। इसी दोष की बात यहाँ चल रही है।

अभव्य द्रव्यलिंगी मुनि को तत्त्वार्थश्रद्धान आगम द्रव्यनिक्षेप से है; परन्तु वह अन्तर में उपयोग नहीं लगाता, उसका ज्ञान स्व के उपयोग रहित है। यहाँ जो सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वह भावनिक्षेप से अथवा स्व के उपयोग सहित कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टि के गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान कभी नहीं होता है। तथा आत्मज्ञान शून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी ऐसा समझना कि भाव का भासन नहीं है; क्योंकि जिसको जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का भाव सहित अथवा गुण सहित सच्चा श्रद्धान होता है उसको आत्मज्ञान कैसे नहीं होगा? अर्थात् उसको आत्मज्ञान होता ही है।

इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टि को सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता। इसलिये इस लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण नहीं लगता।

मिथ्यादृष्टि के जो तत्त्वश्रद्धान कहा है वह द्रव्यनिक्षेप से, नाम निक्षेप से अथवा लोग उसे तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं, इसलिये व्यवहार से तत्त्वश्रद्धान कहा है। जबकि यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण भावनिक्षेप से कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान तो आत्मा का स्वरूप है। जिसको आत्मा के भाव में उपयोग पूर्वक निर्णय हुआ है उसको तत्त्वार्थश्रद्धान यथार्थ होता है।

शुभ, अशुभ और शुद्ध–इसप्रकार आचरणरूप उपयोग के तीन प्रकार हैं। अज्ञानी को शुद्ध उपयोग नहीं होता; इसलिये उसके भावनिक्षेप से तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता है। शुभ–अशुभ उपयोग से छूटकर आत्मा में निर्णय होना मिथ्यादृष्टि के नहीं है। आत्मा निरुपाधि स्वरूप है, उसमें जड़ है ही नहीं। पुण्य–पाप आस्रव मलिन तत्त्व है–छोड़ने योग्य है; संवर–निर्जरा हितरूप और मोक्ष परम हितरूप है। इसप्रकार अंतर निर्णय करना भावनिक्षेप से सच्चा श्रद्धान कहलाता है; क्योंकि वह गुण सहित है।

अज्ञानी को विपरीत अभिप्राय रह जाता है। वह तत्त्वार्थ की बात सुनकर धारणा कर लेता है, तो भी उसको सच्ची श्रद्धा नहीं होती। मिथ्यादृष्टि के श्रवण, ग्रहण और धारणा होने पर भी स्वरूप के निर्णय पूर्वक जो उपयोग लगाना चाहिये उसे वह नहीं लगाता। जिसने श्रवण ही नहीं किया, ग्रहण और धारणा नहीं की, उसको तो व्यवहार से नामनिक्षेप अथवा आगम द्रव्यनिक्षेप से भी तत्त्वार्थश्रद्धान लागू नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि जो कुदेव–कुगुरु के पास श्रवण करता है और उसकी धारणा करता है उसकी तो यहाँ बात ही नहीं हैं। जिसने व्यवहार से भी जीव–अजीव आदि का श्रवण नहीं किया उस जीव को तो नाम निक्षेप से भी तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं हैं। अन्यमत में तो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं हैं; तो वहाँ ये भाव तो होंगे ही कैसे ? नहीं होते। आत्मद्रव्य नित्य शुद्ध है, उसकी पर्याय पलटती है, वर्तमान में अशुद्धता है; अनंत आत्मायें हैं, विकार है, विकार का निमित्त अजीवतत्त्व भी है –ऐसी बात जिसमें नहीं है उसकी श्रद्धा को तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं कहते। जिसने सच्चे देव–शास्त्र–गुरु के समीप तत्त्व की बात सुनी है, परन्तु निर्णय नहीं करता तो उसने अभी तक काम–भोग–बंध की ही कथा सुनी है। इसकारण ऐसे जीव के सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान लागू नहीं पड़ता है।

देखो ! मिथ्यादृष्टि के नामनिक्षेप से अथवा तो व्यवहार से तत्त्वश्रद्धान होता है–यह तो ज्ञानी ऐसा निक्षेप करता है। अज्ञानी को तो निक्षेप होता नहीं है; क्योंकि निक्षेप तो नय का विषय है और मिथ्यादृष्टि के नय नहीं होते । इसलिये उसके नामनिक्षेप से तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है और ज्ञानी उसको इसप्रकार जानता है, इस अपेक्षा से कहा है– ऐसा समझना। सम्यग्दर्शन, जो कि तत्त्वार्थश्रद्धान पूर्वक होता है, उसमें मोक्षमार्ग और मोक्ष की प्रतीति आ जाती है।

कोई कहे कि ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान को न जाने; किन्तु अकेले आत्मा को जाने तो सम्यग्दर्शन होता है या नही ? तो उससे कहते हैं, यथार्थ तत्त्वश्रद्धान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; क्योंकि

वहाँ जितने प्रकार से विपरीत अभिप्राय को दृढ़ किया है, उतने ही प्रमाण में सत्य वस्तु को यथार्थरूप से सुनकर निर्णय नहीं करे तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

इसीप्रकार आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान को अकार्यकारी कहने में भी यही आशय समझना; कारण कि जहाँ जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो वहाँ आत्मज्ञान कैसे नहीं होगा ? अर्थात अवश्य होता ही है। यदि आत्मज्ञान नहीं है तो उसको तत्त्वों का श्रद्धान भी सच्चा नहीं है-ऐसा समझना चाहिये।

जिसको आत्मज्ञान होता है उसको सात तत्त्वों की श्रद्धा भी नियम से होती ही है और जिसको तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता उसको आत्मज्ञान भी नहीं होता। आत्मा नित्य है और पर्याय में बदलता है-ऐसा नित्य परिणामीपना सिद्धदशा में भी होता है। ऐसे निर्णय के बिना आत्मज्ञान नहीं होता।

अज्ञानी कहता है कि संसार है ही नही, आत्मा सदा शुद्ध ही है; तो यह दिखता है वह क्या है ? यह तो कल्पना है। परन्तु यह कल्पना कोई वस्तु है या नही ? यह कल्पना आत्मा की विकारी अवस्था है-ऐसा निर्णय नहीं करे तो उससे छूटकर स्वभाव में आना नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा निर्णय होता है कि जिसको आत्मज्ञान होता है उसको तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य होता है।

....तथा जो यह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा, सो असम्भवी भी नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का यह नहीं है; उसका लक्षण इससे विपरीततासहित है।

इसप्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवपने से रहित सर्व सम्यग्दृष्टियों में तो पाया जाये और किसी मिथ्यादृष्टि में न पाया जाये- ऐसा सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है।....

यह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है सो असंभव दूषण युक्त भी नहीं है। कारण कि सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीत है। मिथ्यात्व का लक्षण तो विपरीत अभिप्राय है और सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्राय से रहितता है। इसप्रकार दोनों के लक्षण परस्पर विरुद्ध है। -इसकारण इस लक्षण में असंभवदोष भी नहीं आता। यदि सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी आस्रव को कहा जाये तो मिथ्यात्व के अभाव के बाद भी अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं। अत: जहाँतक आस्रवादि होंगे वहाँतक सम्यग्दर्शन

नहीं होगा; परन्तु ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन का प्रतिपक्षी विपरीत अभिप्राय है। इसलिये विपरीत अभिप्राय से रहित तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

जिसको सम्यग्दर्शन हुआ हो उसको तुरंत ही अव्रतादि के परिणाम मिटना चाहिये। अर्थात् सम्यग्दर्शन होने के तुरंत बाद त्याग होना चाहिये ऐसा माननेवाले ने सम्यग्दर्शन का प्रतिपक्षी अव्रत को माना है; परन्तु उसने विपरीत अभिप्राय को सम्यग्दर्शन का प्रतिपक्षी नहीं माना है। मिथ्यात्व का अभाव सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण (तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण) मिथ्यात्व में तो कभी नहीं व्यापता, इसलिये इस लक्षण में असंभवदोष नहीं आता।

इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान किसी भी सम्यग्दर्शन में न व्यापे (न होवे) ऐसा नहीं होता और अलक्ष्य (मिथ्यादर्शन) में व्यापे-ऐसा नहीं होता। इसलिये यह लक्षण तीनों दोष रहित है। समस्त ही सम्यग्दृष्टियों में होता है तथा किसी भी मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। इसकारण सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ही है।

सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय

....फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँ सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम कहते हो सो नहीं बनता। क्योंकि कहीं पर से भिन्न अपने श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहते हैं। समयसार में 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलश है- उसमें ऐसा कहा है कि इस आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन वही नियम से सम्यग्दर्शन है; इसलिये नवतत्त्व की संतति को छोड़कर हमारे यह एक आत्मा ही होओ।

तथा कही एक आत्मा के निश्चय ही को सम्यक्त्व कहते हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' ऐसा पद है, सो उसका यही अर्थ है। इसलिये जीव-अजीव का व केवल जीव ही का श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है, सातों के श्रद्धान का नियम होता तो ऐसा किसलिये लिखते?

समाधानः- पर से भिन्न अपना श्रद्धान होता है, सो आस्रवादिक के श्रद्धान से रहित होता है या सहित होता है? यदि रहित होता है, तो मोक्ष के श्रद्धान बिना किस प्रयोजन के अर्थ ऐसा उपाय करता है? संवर-निर्जरा के श्रद्धान बिना रागादिक रहित होकर स्वरूप में उपयोग लगाने का किसलिये उद्यम रखता है? आस्रव-बन्ध के

श्रद्धान बिना पूर्व अवस्था को किसलिये छोड़ता है? इसलिये आस्रवादिक के श्रद्धानरहित आपापर का श्रद्धान करना सम्भवित नहीं है। तथा यदि आस्रवादिक के श्रद्धान सहित होता है, तो स्वयमेव ही सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम हुआ। तथा केवल आत्मा का निश्चय है, सो पर का पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्मा का श्रद्धान नहीं होता, इसलिये अजीव का श्रद्धान होने पर ही जीव का श्रद्धान होता है। तथा उसके पूर्ववत् आस्रवादिक का भी श्रद्धान होता ही होता है, इसलिये यहाँ भी सातों तत्त्वों के ही श्रद्धान का नियम जानना।

तथा आस्रवादिक के श्रद्धान बिना आपापर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता; क्योंकि आत्मा द्रव्य है, सो तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायसहित है। जैसे तन्तु अवलोकन बिना पट का अवलोकन नहीं होता, उसीप्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पहिचाने बिना आत्मद्रव्य का श्रद्धान नहीं होता; उस शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की पहिचान आस्रवादिक की पहिचान से होती है। तथा आस्रवादिक के श्रद्धान बिना आपापर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है; क्योंकि श्रद्धान करो या न करो, आप है सो आप है ही, पर है सो पर है। तथा आस्रवादिक का श्रद्धान हो तो आस्रव-बन्ध का अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपाय से मोक्षपद को प्राप्त करे। तथा जो आपापर का भी श्रद्धान कराते हैं, सो उसी प्रयोजन के अर्थ कराते हैं; इसलिये आस्रवादिक के श्रद्धानसहित आपापर का जानना व आपका जानना कार्यकारी है।....

प्रश्नः- यहाँ सम्यग्दर्शन में सात तत्त्वों के श्रद्धान का नियम कहा है वह बनता नहीं है। क्योंकि कहीं तो -

(1) पर से भिन्न आत्मा के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। श्री समयसार कलश-6 में 'एकत्व नियतस्य' इत्यादि कहा है। वहाँ ऐसा कहा है कि भगवान आत्मा का शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न अवलोकन नियम से सम्यग्दर्शन है, इसलिये नौ तत्त्वों की संतति छोड़कर हमारे तो एक आत्मा प्राप्त होओ। तुम सात से काम है ऐसा कहते हो और वहाँ नौ की परिपाटी छोड़ने को कहा है और अकेला आत्मा (प्राप्त होओ) ऐसा कहा है। इसलिये नियम नहीं रहा। तथा

(2) कहीं एक आत्मा के निश्चय को ही सम्यक्त्व कहा है। श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिद्धियुपाय में 'दर्शनआत्म विनिश्चिति' -यह पद है। उसका भी यही अर्थ है। वहाँ तो अकेले आत्मा की श्रद्धा की बात आई, जबकि आप सात की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हो। इसलिये जीव-अजीव का ही अथवा केवल जीव का ही श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता है। यदि सात तत्त्वों की श्रद्धा का नियम होता तो वैसा क्यों नहीं लिखते?

उत्तर:- (1) पर से भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा,मोक्ष के श्रद्धान से रहित है या सहित है? आस्रव हेय है, बंध अहितकर है, संवर उपादेय है, निर्जरा हितरूप है और मोक्ष परमहितरूप है- ऐसी श्रद्धा न हो तो मोक्ष के लिए क्यों प्रवर्तेगा? वह छूटने का उपाय करता है और पूर्ण छूटना मोक्ष है। जो स्वभाव सन्मुख हुआ है वह पूर्ण होना चाहता है; इसलिए उसमें मोक्ष की श्रद्धा आ जाती है। ज्ञायक स्वभाव की रुचि करके अंतर स्थिरता करना चाहता है, इसलिये उसको मोक्ष की प्रतीति वर्तती है। पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति और बंध का सर्वथा अभाव होना मोक्ष है, उसकी श्रद्धा उसे वर्तती है।

तथा शुद्धता का अंश संवर उपादेय है और शुद्धता की वृद्धिरूप निर्जरा हितरूप है। उनकी श्रद्धा बिना रागादि रहित होकर अपने स्वरूप में लीनता का उद्यम किसलिए रखता है? इसलिये उसको संवर-निर्जरा की श्रद्धा वर्तती है।

तथा पुण्य-पापरूपभाव आस्रव है और उसका फल बंध है। आस्रव हेय और बंध अहितकर है।उनकी श्रद्धा के बिना पूर्व अवस्था (आस्रव बंधरूप दशा) क्यों छोड़ना चाहता है? इसलिये उसको आस्रव-बंध की श्रद्धा भी होती है। इसप्रकार आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन पाँच पर्यायों की श्रद्धा रहित स्व-पर का श्रद्धान करना संभव नहीं हो सकता। स्व-पर की श्रद्धा में सातों ही तत्त्व आ जाते हैं। स्व-पर के भेदज्ञान में सातों तत्त्वों की श्रद्धा होती है।

(2) अब मात्र आत्मा की श्रद्धा का स्पष्टीकरण करते हैं।

केवल आत्मा का निश्चय है वहाँ पर का पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्मा का श्रद्धान नहीं होता। आत्मा आत्मारूप है ऐसा कहने पर आत्मा शरीरादिरूप नहीं है यह आ जाता है। आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति है-ऐसा निर्णय होने पर पर की (पररूप) श्रद्धा आ जाती है। अजीव अन्य वस्तु

है, अपने में उसकी नास्ति के बिना आत्मा की श्रद्धा नहीं होती। अजीव का श्रद्धान होने पर ही जीव का श्रद्धान होता है। यहाँ अजीव सिद्ध करना है इसलिये ऐसा कथन किया है। आत्मा है ऐसा कहने पर परपदार्थ भी है-यह बात आ जाती है। अजीव पदार्थ की श्रद्धा करने पर जीव की श्रद्धा होती है; आगे-पीछे नहीं होती। शिष्य जीव को स्वीकारता है, परन्तु अजीव को नहीं स्वीकारता; इसलिये कहते हैं कि अजीव की सत्ता के स्वीकार के बिना जीव के सन्मुख कैसे आयेगा? इसलिये इसमें भी अजीव की श्रद्धा रही हुई है और पूर्व कथनानुसार आस्रव का श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है।

बारम्बार जीव के सन्मुख उपयोग लगाता है, इसलिये संवर, निर्जरा, मोक्ष की श्रद्धा भी है और आस्रव बंध को छोड़ना चाहता है, इसलिये आस्रव, बंध की श्रद्धा भी है। इसप्रकार जिसको आत्मा की श्रद्धा होती है उसको भी सातों तत्त्वों की श्रद्धा होती है।

इसलिये एक आत्मा की श्रद्धा कहो, अथवा जीव-अजीव की श्रद्धा कहो; तो भी यह लक्षण (तत्त्वार्थश्रद्धान) लागू पड़ता है। -सातों की श्रद्धा आ जाती है। यह लक्षण कहीं लागू नहीं पड़े-ऐसा नहीं होता।

पुण्य-पाप आस्रव है, उनमें अटकना बंध है और संवर-निर्जरा द्वारा मोक्ष होता है-इसप्रकार इन पाँच की श्रद्धा के बिना स्व-पर का श्रद्धान अथवा केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता। वेदान्त और सांख्य आदि भी 'आत्मा शुद्ध हैं' ऐसा तो कहते हैं; परन्तु इतने मात्र से काम नहीं चलता। सात तत्त्वों की श्रद्धा के बिना आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

केवलज्ञान का कारण चारित्र है, चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन है। उसका लक्षण सात तत्त्व की श्रद्धा है। विकार के अभाव और अविकारी भाव के द्वारा पूर्ण अविकारी होना ही उपाय है। इसप्रकार पाँच तत्त्वों की श्रद्धा न होवे तो जीव-अजीव की श्रद्धा सच्ची नहीं होती। पाँच को जाने बिना मात्र आत्मा ज्ञानमूर्ति है ऐसी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन नहीं है। स्वभाव को चूककर रागादि परिणाम का होना आस्रव है और उनमें अटकना बंध है; स्वभाव के लक्ष्य से शुद्धता प्रगट होना और बढ़ना संवर निर्जरा है और परिपूर्ण शुद्धदशा मोक्ष है। इसप्रकार पाँच की श्रद्धा के बिना आत्मा की श्रद्धा सच्ची नहीं होती। अज्ञानी या तो आस्रव तत्त्व को नहीं मानता अथवा विकार के कारण निर्विकारी दशा होना मानता है, इसलिये उसके मिथ्या अभिप्राय का अभाव नहीं होता है।

आत्मा शुद्धाशुद्ध पर्यायों का समुदाय है। यह बात पूर्व में (सातवें अधिकार के निश्चयाभासी प्रकरण में व इसी ग्रंथ के भाग 3 में) आ गई है। आत्मा शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है, शुद्ध-अशुद्ध पर्याय रहित नहीं है। आस्रव-बंध अशुद्ध और संवर-निर्जरा-मोक्ष शुद्ध पर्यायें हैं। इसप्रकार द्रव्य शुद्ध अशुद्ध पर्याय सहित है। अकेले द्रव्य की श्रद्धा करे और पर्याय की श्रद्धा नहीं करे तो वह कार्यकारी नहीं है।

कोई कहता है कि मात्र वीतराग की आज्ञा मानना समकित है-तो यह बात भी यथार्थ नहीं हैं। सच- खोटा अपनी पर्याय में वर्तता है। आस्रव-बंध खोटापना है और संवर-निर्जरा-मोक्ष सच्चापना है। वे पर्याये हैं और द्रव्य सामान्य है। यह समझे बिना धर्म नहीं होता। जीव को आस्रव-बंध का अभाव करना है और मोक्ष प्रगट करना है। उन शुद्धाशुद्ध पर्यायों सहित द्रव्य है। यहाँ भूत और भविष्य की पर्यायों सहित का द्रव्य लेना है। आस्रव-बंध वर्त गये और संवर-निर्जरा मोक्ष वर्तते हैं-इन सहित का द्रव्य है। अशुद्धता और शुद्धतारूप पर्यायों की श्रद्धा बिना स्व-पर का श्रद्धान अथवा केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं है।

जैसे यह वस्त्र ताना-बाना सहित है। ताने-बाने के अवलोकन बिना वस्त्र का अवलोकन नहीं होता; इसीप्रकार आस्रव-बंध अशुद्ध पर्याय है और संवर-निर्जरा-मोक्ष शुद्ध पर्याय है, इन्हें जाने बिना आत्मद्रव्य का श्रद्धान नहीं होता। आत्मद्रव्य इन पाँच पर्यायों सहित है, इसकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है; तो क्या पाँच पर्यायों सहित द्रव्य की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है? नहीं। (परन्तु जिसको इन पाँच पर्यायों की श्रद्धा नही है) उसको आत्मा की श्रद्धा नहीं है। सात तत्त्व की श्रद्धा में से एक भी तत्त्व की श्रद्धा कम करे तो आत्मा की श्रद्धा नहीं रहती।

आत्मा में जो विकार परिणाम होता है और अविकार परिणाम होता है उसकी श्रद्धा बिना स्व-पर का श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है; कारण कि वैसा श्रद्धान करो या मत करो, स्वयं है वह स्वयं ही है और पर है वह पर ही है।

दया, दान, व्रत,पूजा आदि के परिणाम आस्रव-बंध हैं, वे भाव होते अवश्य है; परन्तु उनका अभाव करने से संवर-निर्जरा होती है, उनको रखने से संवर-निर्जरा नहीं होती। संवर-निर्जरा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। आस्रव-बंध का अभाव करना चाहता है और संवर निर्जरा भाव करना चाहता है, इस भाव से मोक्ष होता है। स्व-पर का

श्रद्धान भी इसी प्रयोजन के लिये कराते हैं। आत्मा स्व है और शरीरादि जड़-पर है। ऐसी स्व-पर की श्रद्धा आस्रवादि की श्रद्धा कराने के लिये है। आस्रव हेय, बंध अहितकर, संवर उपादेय, निर्जरा हितरूप और मोक्ष परम हितरूप है -ऐसी श्रद्धा कराने के लिये स्व-पर की श्रद्धा कराते हैं। इसलिये आस्रवादि पाँच पर्यायों सहित का स्व-पर का जानना कार्यकारी है।उनकी श्रद्धा के बिना अकेले स्व-पर को जानना अथवा स्व को जानना कार्यकारी नहीं है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा आस्रव है, वह छोड़ने योग्य है, उसे छोड़े बिना संवर-निर्जरारूप नहीं प्रवर्त सकता और मोक्ष नहीं होता।

पुण्य-पाप का ज्ञान पुण्य-पाप के अभाव के लिये किया है, उन्हें रखने के लिये नहीं। इसप्रकार पुण्य-पाप का अभाव करके संवर-निर्जरा-मोक्ष का भाव करना है। इसलिये आस्रवादिक के श्रद्धान सहित स्व-पर का जानना अथवा स्व का जानना कार्यकारी है।

....यहाँ प्रश्न है कि ऐसा है तो शास्त्रों में आपापर के श्रद्धान को व केवल आत्मा के श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा व कार्यकारी कहा; तथा नवतत्त्व की संतति छोड़कर हमारे एक आत्मा ही होओ- ऐसा कहा, सो किस प्रकार कहा?

समाधानः- जिसके सच्चा आपापर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान हो, उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही होता है। तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान हो उसके आपापर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही होता है- ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानकर आपापर के श्रद्धान को या आत्मश्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा है।

तथा इस छल से कोई सामान्यरूप से आपापर को जानकर व आत्मा को जानकर कृतकृत्यपना माने, तो उसके भ्रम है; क्योंकि ऐसा कहा है:-

"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्"

इसका अर्थ यह है:- विशेष रहित सामान्य है सो गधे के सींग समान है।

इसलिये प्रयोजनभूत आस्रवादिक विशेषों सहित आपापर का व आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है। अथवा सातों तत्त्वार्थों के श्रद्धान से रागादिक मिटाने के अर्थ

परद्रव्यों को भिन्न भाता है व अपने आत्मा ही को भाता है, उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है; इसलिये मुख्यता से भेदविज्ञान व आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है।

तथा तत्त्वार्थ-श्रद्धान किये बिना सर्व जानना कार्यकारी नहीं है, क्योंकि प्रयोजन तो रागादिक मिटाने का है; सो आस्रवादिक के श्रद्धान बिना यह प्रयोजन भासित नहीं होता; तब केवल जानने ही से मान को बढ़ाता है; रागादिक नहीं छोड़ता, तब उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा? तथा नवतत्त्व संतति को छोड़ना कहा है; सो पूर्व में नवतत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् निर्विकल्पदशा होने के अर्थ नवतत्त्वों के भी विकल्प छोड़ने की चाह की। तथा जिसके पहले ही नवतत्त्वों का विचार नहीं है, उसको वह विकल्प छोड़ने का क्या प्रयोजन है? अन्य अनेक विकल्प आपके पाये जाते हैं उन्ही का त्याग करो।

इसप्रकार आपापर के श्रद्धान में व आत्मश्रद्धान में सातत्तत्त्वों के श्रद्धान की सापेक्षता पायी जाती है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है।....

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो शास्त्रों में स्व-पर के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है व कार्यकारी कहा है; समयसार कलश 134 में कहा है कि जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से हुए हैं और जो कोई सिद्ध नहीं होते वे भेदविज्ञान के अभाव से सिद्ध नहीं होते-इसप्रकार (स्व-पर भेदविज्ञान को) कार्यकारी कहा है। स्व-पर श्रद्धान अथवा आत्मश्रद्धान को समकित कहा है व कार्यकारी कहा है। तथा यह भी कहा है कि नौ तत्त्व की संतति छोड़कर हमारे तो एक आत्मा ही प्राप्त होओ-तो ऐसा क्यों कहा है? सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न है -ऐसा कहकर आप यहाँ सात की बात करते हो, जबकि शास्त्र में नवतत्त्वों की संतति छोड़कर ज्ञायक आत्मा की प्राप्ति हो ऐसा कहा है, उसमें भी एक आत्मा आया, सात तत्त्व नहीं आये?

उत्तरः- आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है और शरीरादि जड़-पर है -ऐसे श्रद्धानवाले को सात तत्त्वों की श्रद्धा होती है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पररूप नहीं-ऐसा अंतर भान होने में सातों का ज्ञान आ जाता है। सातों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धावाले को आत्मा का भान होता है और आत्मा के ज्ञानवाले को अनात्मा-जड़ का ज्ञान होता है। तथा पहले आत्मसन्मुख झुकाव नहीं था, परन्तु झुकाव परसन्मुख था, वह झुकाव स्वसन्मुख होता है, और शुद्धि की वृद्धि होती है।

इसप्रकार सातों का श्रद्धान आ जाता है। पर से भेदज्ञान के बिना सात की श्रद्धा नहीं होती और सात तत्त्वों की श्रद्धा के बिना पर से भेदज्ञान नहीं होता- इसप्रकार परस्पर अविनाभावीपना है। इसलिये आत्मा की श्रद्धा कहो, स्व-पर भेदविज्ञान कहो अथवा सात तत्त्वों की श्रद्धा कहो-एक ही है। इस भान के बिना धर्म नहीं होता। यह श्रद्धान मोक्ष का बीज है।

यहाँ कहा है कि आत्मा की श्रद्धा में सात तत्त्वों की श्रद्धा आ जाती है; परन्तु कोई इस छल से सामान्यरूप से स्व-पर को जानकर अथवा आत्मा को जानकर कृतकृत्यपना मानता है तो वह भ्रम है। पुण्य-पाप, दया, दानादि विकार हेय है - यह जाने बिना आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। बंध के फल को हितकर माननेवाला बंध को हितकर मानता है इसप्रकार कोई जीव आत्मा को सामान्यरूप से जाने और कहे कि मेरा कार्य पूरा हो गया -तो यह भ्रम है। कहा है कि-'निर्विशेष हि सामान्य भवेत्खर विषाणवत्' इसका अर्थ है कि विशेष रहित सामान्य है सो गधे के सींग समान है। अर्थात् कोई अकेले आत्मा को जाने; परन्तु आस्रवादिक को नहीं जाने तो गधे के सींग समान हैं। यहाँ यह कथन विशेष का ज्ञान कराने के लिये कहा है; परन्तु इससे पर्याय के आश्रय से भी धर्म होता है यह बात नहीं है। सामान्य द्रव्य और रागवाली पर्याय वह विशेष इसप्रकार दोनों के आश्रय से धर्म होता है ऐसा नहीं कहना है। आत्मा की पर्याय में पुण्य-पाप, आस्रव-बंध होता है और स्वभाव के लक्ष्य से संवर-निर्जरा-मोक्ष होता है। इन विशेषों के ज्ञान बिना सामान्य का ज्ञान गधे के सींग समान है। आस्रव-बंध हेय है, संवर उपादेय है, निर्जरा हितकर और मोक्ष परम हितकर है-यह जाने बिना श्रद्धा सच्ची नहीं होती।

अज्ञानी जीव पुण्य परिणाम करता और उसे धर्म मानता है; इसलिये कहते हैं कि आस्रवादि के विशेषों सहित स्व-पर की श्रद्धा करना योग्य है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव की पर्यायें हैं तथा कर्म आनेरूप पर्याय, बंधनेरूप पर्याय, कर्म का आनारुकनेरूप पर्याय, कर्म के खिरजानेरूप पर्याय और कर्म के सर्वथा खिरजानेरूप पर्याय -इसप्रकार अजीव के विशेष जानना चाहिये। जीव-अजीव अकेले कुटस्थ नहीं हैं; अपितु उनमें प्रतिसमय पर्यायें होती है। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। ज्ञान बहुत जानता है इसलिये रागादि परिणाम होते हैं -ऐसा नहीं है। ज्ञान स्व-पर को सब विशेषों सहित जाने तो कार्यकारी है। यहाँ ज्ञान प्रधान सम्यग्दर्शन की बात है।

जीव ज्ञानस्वभाव सन्मुख झुकता है वह संवर है और उसकी अस्ति में आस्रव के अभाव का ज्ञान आता है। निर्जरा का ज्ञान होने पर बंध के अभाव का ज्ञान और मोक्ष का ज्ञान होने पर बंध के पूर्ण अभाव का ज्ञान होता है। इसप्रकार सातों का ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभाव में से होता है। यहाँ ज्ञान प्रधानता से कथन है। ज्ञान का स्वभाव अकेले स्व को जानने का नहीं, स्व-पर को जानने का है-स्व में रहकर पर को जानने का है।

समयसार गाथा 201-202 की टीका में कहा है कि जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता। स्व रूप से सत्ता (अस्ति) और पर रूप से असत्ता (नास्ति) इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निर्णय होता है। अस्ति-नास्ति अपना धर्म है। जिसको राग का निश्चय हुआ हो उसको आत्मा और अनात्मा का निर्णय होना चाहिये। जो जीव-अजीव को नहीं जानता उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। स्व को जाननेपर पर का और आस्रवादि पाँच पर्यायों का ज्ञान आ जाता है।

आत्मा पर से भिन्न है-ऐसे चिंतन का प्रयोजन पराश्रय से होनेवाले राग को मिटाने का है। इसप्रकार (राग के अभाव का-मुक्ति का) प्रयोजन सिद्ध होता है। इसलिये मुख्यरूप से आत्मा पर से पृथक है -ऐसे भेदज्ञान को व आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है।

तथा तत्त्वों की श्रद्धा किये बिना समस्त जानना कार्यकारी नहीं है। पुण्य-पाप, आस्रव बंध ज्ञेय है; परन्तु वे 'हेयज्ञेय है' छोड़ने योग्य ज्ञेय है और आत्मा ज्ञेय है वह 'उपादेयज्ञेय' है।

स्व का चिंतन राग से हटने के लिये है। सात तत्त्वों को जानकर रागादि घटाकर मोक्ष को साधना ही प्रयोजन है। यदि पाँच पर्यायों का ज्ञान नहीं होगा तो रागादिक किसप्रकार मिटायेगा ? पुण्य,पाप,आस्रव, बंध,संवर, निर्जरा और मोक्ष की श्रद्धा के बिना राग मिटाने का प्रयोजन भासित नहीं होता; केवल जानने से मानादि ही बढ़ाता है। जीव और आस्रव आदि पृथक तत्त्व हैं -ऐसा ज्ञान हुआ हो तो आस्रव के अभाव का प्रयास होता है। इसलिये रागादि मिटाने की श्रद्धा होनी चाहिये। अज्ञानी को वैसी श्रद्धा नहीं है। वस्तुत: दया,दानादि में धर्म माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं, बल्कि विकार का भक्त है।

यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभ दोनों भावों को मिटाने का प्रयोजन है। वह प्रयोजन जिसको भासित नहीं होता वह मात्र जानपने से मान ही बढ़ाता है। जीव ज्ञानस्वरूप है यह हम जानते

है –ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु रागादि मिटाने योग्य है, शुभभाव भी मददगार नहीं है–आदर योग्य नहीं है–ऐसा जानपना नहीं करे तो उसका कार्य किसप्रकार सिद्ध होगा ? नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि अकेले आत्मा को अथवा स्व–पर को जाने; परन्तु पाँच विशेषों को नहीं जाने तो कार्यकारी नहीं है।

अब नवतत्त्वों की संतति छोड़कर हमको एक आत्मा प्राप्त होओ–ऐसा समयसार में कहा है–इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

समयसार में नवतत्त्व की परिपाटी छोड़ने को कहा है। वहाँ जीव ज्ञायक है, शरीरादि अजीव है, दया दानादि पुण्य है, हिंसादि पाप है–दोनो आस्रव–बंध है, शुद्धि संवर है,विशेष शुद्धि निर्जरा है और पूर्णशुद्धि मोक्ष है–ऐसे विचार द्वारा सम्यग्दर्शन हुआ है और फिर निर्विकल्प दशा होने के लिये नौ तत्त्वों का विकल्प छोड़ने की इच्छा हुई। नौ तत्त्वों का ज्ञान है; परन्तु नौ तत्त्वों के भेद के लक्ष्य से राग होता है, इसलिये उसे छोड़ने की बात की है। ज्ञान नौ को जाने वह राग का कारण नहीं है, वह तो निश्चय समकित है। नौ तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान किया है; परन्तु नौ तत्त्वों के (भेद के) लक्ष्य से विकल्प उठता था उसका निषेध किया है। परन्तु जिसको नौ तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं है उसको यह विकल्प छोड़ने की क्या जरूरत है? इसको छोड़ने से तो अपने को संसार के अन्य विचार होते हैं, इसलिये नौ तत्त्वों का विचार करना।

व्यवहार है वह व्यभिचार है, नौ के विकल्प में अटकना योग्य नहीं है–ऐसा समयसार में कहा है; वहाँ विवक्षा यह है कि नौ के विकल्प में अटकना सम्यग्दर्शन नहीं है। जबकि यहाँ नौ तत्त्व के ज्ञान सहित श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। अतः कथन की विवक्षा समझना चाहिये। नौ का यथार्थ ज्ञान करना तो ज्ञान का स्वभाव है; परन्तु नौ के भेद में अटकने से राग होता है। वह व्यवहार श्रद्धा कब कहलाती है? नौ के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद स्वभाव का लक्ष्य करे तो। सात अथवा नौ तत्त्वों का ज्ञान करने पर ज्ञान नौ को झेल नहीं सकेगा और राग आ जायेगा ऐसा नहीं है। समयसार में कहा है कि जो नौ तत्त्वों के भेद में अटकता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह आत्मा के निरुपाधि स्वभाव को भूलकर उपाधि के पक्ष में खड़ा है, इसलिये मिथ्यादृष्टि है। यहाँ कहते हैं कि नौ तत्त्व के यथार्थ ज्ञान में सच्ची दृष्टि है। नौ का

ज्ञान करता है इसलिये राग आ जाता है ऐसा नहीं है। नौ के ज्ञान में ज्ञायकतत्त्व का ज्ञान आ जाता है।– इसप्रकार यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है। इसलिये कथन की अपेक्षा समझना चाहिये। ज्ञान में नौ आ जाते हैं; परन्तु विशेष स्थिरता करने के लिये नौ का विकल्प भी छोड़ना चाहिये; परन्तु जिसको नौ तत्त्वो का पता ही नहीं है उसको सम्यग्दर्शन कैसे होगा? नहीं होगा।

आत्मा हाथ हिला सकता है और पानी ले सकता है–ऐसे विपरीत ज्ञानवाले को नौ तत्त्वों का राग छोड़ने का क्या काम है? उसको संसार में कमाने के,भोजनादि के बहुत विचार आते हैं, संसार के कार्यों के लिये बहुत उपाधि करता है; पुत्र विवाह में कोई विघ्न डाले तो पूरे दिन विचार किया करता है, परन्तु पुण्य होगा तो विवाह होगा यह विचार करना चाहिये। पुण्य की श्रद्धा कर! किसी से फेरफार हो सके ऐसा नहीं है। पाप का उदय होगा तो कोई अनुकूलता नहीं दे सकता। पुण्य–पाप को वे जैसे हैं वैसे जानकर मै ज्ञायक स्वभावी हूँ – यह विचार करना चाहिये।

इसप्रकार स्व–पर के श्रद्धान में व आत्मश्रद्धान में अथवा नौ तत्त्वों के श्रद्धान में सात तत्त्वों के श्रद्धान की सापेक्षता होती हैं। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

....फिर प्रश्न है कि कहीं शास्त्रों में अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, हिंसारहित धर्म के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, सो किस प्रकार है?

समाधानः– अरहन्त देवादिक के श्रद्धान से कुदेवादिक का श्रद्धान दूर होने के कारण गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होता है, उस अपेक्षा इसको सम्यक्त्व कहा है। सर्वथा सम्यक्त्व का लक्षण यह नहीं है; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि के भी ऐसा श्रद्धान होता है।

अथवा जैसे अणुव्रत, महाव्रत होने पर तो देशचारित्र, सकलचारित्र हो या न हो; परन्तु अणुव्रत, महाव्रत हुए बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता; इसलिये इन व्रतों को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इनको चारित्र कहा है। उसी प्रकार अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान होने पर तो सम्यक्त्व हो या न हो; परन्तु अरहन्तादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कदाचित् नहीं होता; इसलिये अरहन्तादिक के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर

कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। इसी से इसका नाम व्यवहार सम्यक्त्व है।

अथवा जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसके सच्चे अरहन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान होता ही होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान बिना पक्ष से अरहन्तादिक का श्रद्धान करे, परन्तु यथावत् स्वरूप की पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता। तथा जिसके सच्चे अरहन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है; क्योंकि अरहन्तादिक का स्वरूप पहिचानने से जीव-अजीव-आस्रवादिक की पहिचान होती है।

इसप्रकार इनको परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं अरहन्तादिक के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।....

प्रश्नः- अरहन्तदेव त्रिकाल ज्ञानी हैं, उनको ज्ञान का पूर्ण विकास हो गया है। जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं और जिनको कुछ जानना शेष नहीं रहा है-ऐसे अरहन्तदेव को मानना सम्यग्दर्शन है। आत्मा के भान सहित जिनके तीन कषाय का अभाव और बाह्य में नग्नदशा होती है वैसे मुनि को मानने को भी सम्यक्त्व कहा है। तथा हिंसा और रागादि रहित परिणाम को धर्म मानने को समकित कहा है। तुमने सात तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है-यह किसप्रकार है?

उत्तरः- बाह्य लक्षण से अरहन्तदेवादि की पहिचान करना व्यवहार समकित है। इनसे विरुद्ध देव-गुरु-धर्म को स्वीकारनेवाले को व्यवहार समकित नहीं है; तथा राग में धर्म मानने वाले को व्यवहार समकित नहीं है; परन्तु रागरहित अहिंसा धर्म की श्रद्धा को व्यवहार समकित कहते हैं।बाह्य से अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और धर्म की पहिचान होने पर कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की श्रद्धा दूर होती है, गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है; परन्तु यह व्यवहारश्रद्धा सम्यक्त्व का सर्वथा लक्षण नहीं है; क्योकि द्रव्यलिंगी मुनि अथवा मिथ्यादृष्टि श्रावक भी सच्चे देव-शास्त्र गुरु की श्रद्धा को धारता है-उनको व्यवहार श्रद्धा होती है। अतः यह सम्यक्त्व का सच्चा लक्षण नहीं है। उनके गृहीत मिथ्यात्व काअभाव है; परन्तु अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं है। जिसके गृहीत मिथ्यात्व रहता है उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है। जिसको कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर वर्तता है उसको दोनों

(गृहीत-अगृहीत) मिथ्यात्व विद्यमान हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये अरहन्तादिक की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का वास्तविक लक्षण नहीं है।

इसी बात को न्याय पूर्वक समझाते हैं। कोई नग्नमुनि व्यवहार से पंच महाव्रतों का पालन करता हो अथवा श्रावक अणुव्रतों का पालन करता हो और आत्मा का भान व स्थिरता हो तो मुनि को सकलचारित्र और श्रावक को देशचारित्र होता है। परन्तु अणुव्रत हुए बिना देशचारित्र नहीं होता। स्वरूप का भान होने के पश्चात श्रावक को अणुव्रत के विकल्प बिना पाँचवाँ गुणस्थान नहीं होता, मुनि को महाव्रत हुए बिना सकलचारित्र नहीं होता। कोई कहे कि किसी को केवलज्ञान तो हो गया; परन्तु उसने महाव्रत धारण नहीं किये थे-तो यह बात मिथ्या है। महाव्रत धारण न करने पर जब मुनिपना ही नहीं है तो फिर केवलज्ञान तो होगा ही कैसे? यहाँ अविनाभावीरूप निमित्त का संबंध बतला रहे हैं इसलिये व्रत्तों को अन्वयरूपकारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके चारित्र कहा है। अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प न हो और सकलचारित्र आ जाये ऐसा नहीं हो सकता। चारित्रदशा में पाँच महाव्रत अन्वयकारण-निमित्तकारण है; इसलिये आस्रव होने पर भी पाँच महाव्रतों के विकल्प को चारित्र कहा है।

चिदानंद आत्मा के ज्ञानसहित श्रावकपना आता है, उसको बारह व्रत का विकल्प होता ही है, बारह व्रत का विकल्प श्रावक को न हो ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार निमित्तकारण जानकर बारह व्रत के विकल्प में देशचारित्र का उपचार किया है। इसीतरह सच्चे अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थमुनि और अहिंसा धर्म की श्रद्धा होनेपर सम्यग्दर्शन हो या न हो, परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा बिना कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। कोई कहता है कि हमको मिथ्यादेव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा है और हमको सम्यग्दर्शन हो गया है-तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। अंदर में निश्चय समकित हो और बाहर में मिथ्यादेव-शास्त्र-गुरु को माने-यह कभी नहीं हो सकता। जैसे चारित्र हो तब अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प होता है; इसीतरह निश्चय सम्यग्दर्शन हो तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के बिना सात तत्त्वों की श्रद्धा नहीं होती और न उसको भेदज्ञान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानवाले को अरहन्तादिक की श्रद्धा होती ही है। इसलिये अरहन्त की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। उसको अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार किया है।

यहाँ उपादान-निमित्त की संधि बताई गई है। निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले को सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु का राग आये बिना नहीं रहता।

कोई कहता है कि मुनिदशा के समय वस्त्ररहितपने का आग्रह क्या ? तो ऐसा कहनेवाला जीव निमित्त को भी नहीं समझता। वस्त्र रखकर मुनिपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसको तो व्यवहार श्रद्धा का भी पता नहीं है।

यहाँ सम्यग्दर्शन की बात चलती है। अरहन्तदेवादि की श्रद्धा को निमित्तकारण समझकर सम्यग्दर्शन कहा है। व्यवहार समकित है इसलिये निश्चय समकित प्रगट होता है ऐसा नहीं है और निश्चय समकित प्रगट हो तब व्यवहार समकित न हो-ऐसा भी नहीं होता। जिसको अरहन्तदेवादि की श्रद्धा न हो उसको निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसप्रकार अरहन्तदेवादि की श्रद्धा को अन्वयरूप कारण जानकर उसमें सम्यक्त्व का उपचार किया है। सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु का विकल्प उत्पन्न होता है, वह तो राग है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है; परन्तु जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ है उसको ऐसा व्यवहार होता है; इसलिये उस पर सम्यग्दर्शन का आरोप किया है।

अब विशेष बात करते हैं कि जिसको तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसको सच्चे अरहन्तदेव-निर्ग्रन्थ गुरु और सच्चे शास्त्र के स्वरूप का श्रद्धान होता ही है। यहाँ 'सच्चे' शब्द का प्रयोग किया है। जिसके ज्ञान में सात तत्त्व प्रथक-प्रथक वर्तते हैं उसको अरहन्त देव-निर्ग्रन्थ गुरु और सच्चे शास्त्र की श्रद्धा होती ही है; परन्तु तत्त्वार्थश्रद्धान के बिना मात्र सम्प्रदाय के पक्ष से अरहन्तदेवादि की श्रद्धा करे तो यथावत् स्वरूप की पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता।

जिनको आत्मा के आश्रय से पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट हुई है उन्हे अरहन्त कहते हैं। शुद्धस्वभाव के आश्रय से अपूर्ण शुद्धदशा प्रगटना संवर-निर्जरा है और उसके धारक मुनि हैं। तथा रागादि रहित धर्म वह अहिंसा है। इसप्रकार श्रद्धा नहीं करनेवाले की श्रद्धा सच्ची नहीं है। पंचमहाव्रतादि के परिणाम राग है। राग रहित अन्तरदशा धर्म है।

इसप्रकार अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु और धर्म की पहिचान होनेपर तत्त्वार्थश्रद्धान होता है।

विद्वज्जन बोधक में कहा है कि तुमने तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा तथा स्वपर की श्रद्धा को भी लक्षण कहा- तो इनकी एकता किसप्रकार है ?

उत्तर:- दोनों में नयविवक्षा है, अन्य कोई भेद नहीं है। सात तत्त्वों में हेय, ज्ञेय, उपादेय ऐसे तीन प्रकार हैं। जानने योग्य तो सातों ही तत्त्व हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप रागरहित जीव है, व्यवहाररत्नत्रय आस्रव है, उससे रहित शुद्धजीव उपादेय है। आत्मा की निर्मल पर्याय संवर और निर्जरा उपादेय है और मोक्ष सर्वथा उपादेय है। क्योंकि ये चारो-शुद्धजीव, संवर,निर्जरा,मोक्ष निजरूप है। संवर-निर्जरा अपूर्ण शुद्ध पर्याय है और मोक्ष पूर्ण शुद्धपर्याय है, इसलिये वे निजरूप हैं। ये आत्मा के साथ अभेद होने से उपादेय हैं।

अजीव पर है। दया, दानादि, के भाव, हिंसा,झूठ,चोरी के भाव आस्रव हैं और उनमें अटकना बंध है-ये तीनों हेय हैं, क्योंकि ये पररूप हैं।

इसप्रकार जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को स्व में समाहित किया, इसलिये वे उपादेय अर्थात् आदरणीय है और अजीव, आस्रव, बंध पर है इसलिये हेय है -छोड़ने योग्य है। इसप्रकार सात तत्त्वों में दो तत्त्व कहे। अत: स्व-पर को लक्षण कहो या सात तत्त्वों को लक्षण कहो-दोनों लक्षण एक ही अभिप्राय के सूचक हैं।

अब शिष्य पूछता है कि नौ तत्त्वों की परिपाटी छोड़कर एक आत्मा प्राप्त होओ-यही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन यही निश्चय से आत्मा है -ऐसा कहा है । इसप्रकार अलग-अलग वचन का मेल किस प्रकार रहेगा ? क्योंकि वहाँ तो नौ तत्त्व की परिपाटी छोड़ने को कहा और यहाँ सात की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा-ऐसा कैसे ?

समाधान:- वहाँ नय विवक्षा से भेद को अत्यन्त गौण किया है और अभेद को मुख्य किया है। जीव,संवर, निर्जरा, और मोक्ष-इन चार को अभेद विवक्षा से एक आत्मा कहा। ऊपर कहा था उसमें स्व-पर ऐसे दो लिये थे। उनमें व्यवहाररत्नत्रयादि परिणाम आस्रव-बंध है, ये दो तथा अजीव-ऐसे तीन पर है, इन्हे गौण किया है और जीव, संवर, निर्जरा, तथा मोक्ष को अभेद गिनकर उपादेय कहा है। इसप्रकार आत्मा की श्रद्धा कहो तो भी एक ही लक्षण है। सात तत्त्व की श्रद्धा में सात आते है और आत्मा की श्रद्धा में जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष अभेद में आ गये और जो अजीव, आस्रव,बंध पर हैं उन्हे गौण किया; इसलिये आत्मा की श्रद्धा में सातों तत्त्व आ गये।

स्वामी कार्तिकेय ने देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है, उसका मेल किसप्रकार है अथवा उसमें सात तत्त्वों की श्रद्धा किसप्रकार आती है यह बताते है।

सात तत्त्वों में जीव, संवर, निर्जरा,मोक्ष, इन चारों को उपादेय कहा है। निर्मलपर्याय सहित अभेद आत्मा को उपादेय कहा है। तत्त्व अर्थात् स्वभाव और अर्थ अर्थात् पदार्थ। स्वभाव सहित हो वह तत्त्वार्थ है। अब तत्त्वार्थ में मोक्ष मुख्य है, कारण कि जीव का प्रयोजन मोक्ष है। मोक्ष का स्वभाव सर्वज्ञ और वीतरागपना है। उस स्वभाव के धरनेवाले अरहन्त और सिद्ध हैं, वे निर्दोष देव हैं। इसलिये जिसको मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा है उसको उस स्वभाव के धारक अरहन्त और सिद्ध की श्रद्धा है और जिसको अरहन्त-सिद्ध की श्रद्धा है उसको मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा है। अर्थात् स्वभाव की श्रद्धावाले को स्वभाववान की श्रद्धा है और स्वभाववान की श्रद्धावाले को स्वभाव की श्रद्धा है। इसप्रकार दोनों की एकता है।

तथा तत्त्वार्थ में प्रथम जीव है। उसका स्वभाव रागादि रहित शुद्ध चैतन्यप्राणमय है; उस स्वभाव सहित अहिंसा धर्म है। ज्ञायक भगवान का स्वभाव जानने-देखने का है। उसमें रागादि परिणामों की उत्पत्ति होना हिंसा है। उससे रहित अहिंसा जीव का धर्म है। जितना ज्ञायकरूप टिका रहता है वह अहिंसा धर्म है। जिसको शुद्ध चैतन्यप्राणरूप जीव की श्रद्धा हुई उसको अहिंसा धर्म की श्रद्धा हुई। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम रहित जीव की श्रद्धा अहिंसा धर्म है। इसप्रकार अहिंसा धर्म का धारक चैतन्य आत्मा है। लोग पर की दया पालने को अहिंसा कहते हैं; परन्तु यह बात मिथ्या है। यह जीव पर की हिंसा-अहिंसा नहीं कर सकता है। शुद्ध चेतनाप्राणरूप जीव में जानने-देखने के परिणाम रूप से टिके रहना अहिंसा धर्म है। जिसको ऐसे शुद्ध चैतन्य परिणामवाले जीव की श्रद्धा है उसको अहिंसा धर्म की श्रद्धा है और जिसको अहिंसा धर्म की श्रद्धा है उसको शुद्ध चैतन्यप्राणरूप जीव की श्रद्धा है। रागरहित शुद्ध चैतन्यप्राण का धारक जीव है। धर्म का धारक धर्मी है। अत: जिसको शुद्धजीव की श्रद्धा है उसको अहिंसा धर्म की श्रद्धा है। दया,दानादि धर्म नहीं है। वे आस्रव-बंध हैं और हेय है।

"प्रमत्तयोगातप्राणव्यपरोपण हिंसा" पंच महाव्रत के परिणाम भी प्रमाद है। आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है, उससे रहित अहिंसारूप जीव तत्त्व है। शुद्ध पर्याय प्रगटी है वह संवर-निर्जरा है, उस सहित का जीव तत्त्व है। उसकी श्रद्धा से अहिंसा (धर्म) की श्रद्धा होती है।

इसप्रकार देव तथा धर्म की बात आ गई है। देव को मोक्षतत्त्व में और धर्म को शुद्ध जीवतत्त्व में समाहित किया है।अब गुरु की बात करते हैं।

संवर-निर्जरा उपादेय तत्त्व है, उनका स्वभाव रत्नत्रयरूप है। उसके धारक आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। इसप्रकार संवर-निर्जरा की श्रद्धावाले को निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा है और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धावाले को संवर-निर्जरा की श्रद्धा है। इसप्रकार दोनो की एकता है।

अजीव, आस्रव, और बंध हेयतत्त्व है। उस भाव के धारक कुदेव-कुगुरु हैं। पुण्य से और व्यवहार से धर्म मनानेवाले कुगुरु हैं। वे कुधर्म को प्ररूपित करते हैं और वह कुदेव का वाक्य है। शरीर अथवा संहनन की अनुकूलता से धर्म होता है-यह कुदेवादिक का वाक्य है। आस्रवादि तत्त्व हेय है। इसलिये आस्रव-बंध के धारक कुदेव-कुगुरु भी हेय है।

सर्वज्ञदेव के ज्ञान-दर्शन का उपयोग एक समय (एकसाथ) नहीं है - ऐसा माननेवाले अथवा देव को फिर से संसार में अवतरित होना पड़ता है -ऐसा माननेवाले ने देव को आस्रव सहित माना है और मुनि को वस्त्र सहित माननेवाले ने कुगुरु को माना है, किन्तु निर्ग्रन्थ गुरु को नहीं माना है।

इसप्रकार आस्रव-बंध को उपादेय माननेवाले ने कुदेव-कुगुरु को माना है।

जो कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को हेयरूप मानता है वह अजीव, आस्रव और बंधतत्त्व को हेय मानता है। जो अजीव, आस्रव और बंध को हेय मानता है वह कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को हेय मानता हैं। इसप्रकार इनकी एकता है।

इसप्रकार सात तत्त्वों में सच्चे अरहन्तादि की श्रद्धा आ जाती है और कुदेवादिक की श्रद्धा का निषेध आ जाता है।

प्रश्न:- तुमने सात तत्त्वों की श्रद्धा में अरहन्तादि की श्रद्धा समाहित की; परन्तु स्व-पर की श्रद्धा में अरहन्तादि की श्रद्धा किसप्रकार समाहित है?

उत्तर:- शुद्ध चैतन्यरूप निजभाव उपादेय है। वीतरागी परिणति सहित शुद्धजीव उपादेय हैं; इसलिये निजद्रव्य और निजभाव के धारक अरहन्त देवादि उपादेय है।

स्व की श्रद्धा में संवर-निर्जरा-मोक्ष आ जाता है। पूर्ण निर्मलदशावाले अरहन्त और सिद्ध हैं तथा अपूर्ण निर्मलदशा के धारक गुरु हैं और शुद्ध परिणति धर्म है।

रागरहित परिणतिवाले शुद्ध जीव को उपादेय मानने में सच्चे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा आ जाती है। अजीव, आस्रव, बंध हेय है उनके धारक कुदेव-कुगुरु-कुधर्म हैं, इसलिये

वे हेय है। कोई कहे कि हमको कुदेवादि की श्रद्धा नहीं छूटी है और आस्रव-बंध को हेय मानते हैं-तो यह संभव नहीं है। जिसको सच्चे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा है। उसको आत्मा की श्रद्धा है और आत्मा की श्रद्धावाले को अरहन्त देव-निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसा धर्म की श्रद्धा है। इसप्रकार दोनों में अरस परस(परस्पर) अविनाभावी संबंध है।

लोगों ने अहिंसा का स्वरूप सुना नहीं है। भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है, उसमें पर को मारने अथवा जिलाने का विकल्प उत्पन्न होता है वह राग है। वह अजीव, आस्रव और बंध में अर्थात् हेय तत्त्व में आता है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा में एकाग्र होकर रागरहित परिणति होना अहिंसा धर्म है।

संवर-निर्जरा का स्वभाव रत्नत्रय है, रत्नत्रय के धारक गुरु हैं। गुरु को पहिचानने वाला संवर-निर्जरा को पहिचानता है और उसको अहिंसा धर्म की पहिचान है।

जिसको सात तत्त्वों की श्रद्धा है उसको आत्मा की श्रद्धा है तथा उसको स्व-पर की भी श्रद्धा है। स्व-पर की श्रद्धा है उसको आत्मा की श्रद्धा है। आत्मा की श्रद्धा कहने पर अरहंतादिक की श्रद्धा आ जाती है।

इसप्रकार परस्पर अविनाभावी जानकर कही अरहन्तादिक के श्रद्धान को भी सम्यक्त्व कहा है।

....यहाँ प्रश्न है कि नारकादि जीवों के देव-कुदेवादिक का व्यवहार नहीं है और उनके सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिये सम्यक्त्व होनेपर अरहन्तादिक का श्रद्धान होता ही होता है, ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधानः- सप्ततत्त्वों के श्रद्धान में अरहन्तादिक का श्रद्धान गर्भित है; क्योंकि तत्त्वश्रद्धान में मोक्षतत्त्व को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, वह मोक्षतत्त्व तो अरहन्त-सिद्ध का लक्षण है। जो लक्षण को उत्कृष्ट माने वह उसके लक्ष्य को उत्कृष्ट माने ही माने; इसलिये उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना, और को नहीं माना; वही देव का श्रद्धान हुआ। तथा मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा हैं, इसलिये इनको भी उत्कृष्ट मानता है; और संवर-निर्जरा के धारक मुख्यतः मुनि हैं, इसलिये मुनि को उत्तम माना, और को नहीं माना; वही गुरु का श्रद्धान हुआ। तथा रागादिक रहित भाव का नाम अहिंसा है, उसी

को उपादेय मानते हैं, और को नहीं मानते; वही धर्म का श्रद्धान हुआ। इसप्रकार तत्त्वश्रद्धान में गर्भित अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान होता है। अथवा जिस निमित्त से इसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उस निमित्त से अरहन्तदेवादिक का भी श्रद्धान होता है। इसलिये सम्यक्त्व मे देवादिक के श्रद्धान का नियम है।....

प्रश्न:- नारकादि जीवों के देव-कुदेव का व्यवहार नहीं होने पर भी आत्मा का ज्ञान होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन होने पर अरहंतादिक की श्रद्धा होती है-ऐसा नियम संभव नहीं है।

उत्तर:- सात तत्त्वों के श्रद्धान में अरहंतादिक का श्रद्धान गर्भित है। नारकी जीवों को बाह्य में देव का व्यवहार नहीं होता, परन्तु देवादि की निश्चय श्रद्धा है। नारकी जीवों को सात तत्त्वों की श्रद्धा है, उसमें मोक्ष तत्त्व को उत्कृष्ट मानते हैं, भावमोक्ष अरहंत को तथा द्रव्यमोक्ष सिद्ध को है। अत: मोक्ष को उत्कृष्ट मानने में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा आ जाती है। अल्पज्ञदशा उत्कृष्ट नहीं हैं, संवर-निर्जरा सर्वोत्कृष्ट नहीं है। मोक्ष तत्त्व अरहंत-सिद्ध का लक्षण है। इसलिये जो लक्षण को उत्कृष्ट मानता है वह लक्ष्य को भी उत्कृष्ट मानता है। जिसने सर्वज्ञ-वीतरागदेव को उत्कृष्ट माना उसने रागी देव को हेय माना है-इसप्रकार मोक्ष का निर्णय होने पर अरहंत-सिद्ध का निर्णय होता है और यह निर्णय करने पर कुदेव-कुगुरु को हेयतत्त्व के रूप में जानता है।

जिससमय जो पर्याय होनेवाली है वह होगी, इसमे पुरुषार्थ कहाँ रहा ? ऐसा पूछनेवाले को अरहंत की श्रद्धा नहीं है, सात तत्त्व और आत्मा की श्रद्धा भी नहीं है।

नरक में रहनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव अपूर्णदशा को सर्वोत्कृष्ट नहीं मानता, रागादिक को भला नहीं मानता। वह मोक्ष को सर्वोत्कृष्ट मानता है, उसमें देव का श्रद्धान हुआ। तथा उसके संवर-निर्जरा की श्रद्धा होती है। संवर-निर्जरा चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी होती है, परन्तु मुख्यरूप से उसके धारक मुनिराज हैं; इसलिये वह मुनिराज को उत्तम मानता है। तथा जो संवर-निर्जरा के धारक नहीं हैं और राग में धर्म मानते हैं उन्हे कुगुरु मानता है। जिनको तीन कषाय चौकड़ी का अभाव है और बाह्य में नग्नदशा हुई है-उन गुरु को मानता है, इनसे विरुद्ध गुरु को नहीं मानता। द्रव्यलिंगी मुनि भी कुगुरु हैं; क्योंकि वे संवर-निर्जरा के धारक नहीं है।भावलिंगी मुनि संवर निर्जरा के धारक हैं। सम्यग्दृष्टि नारकी उनको ही गुरु के रूप

में मानता है। सच्चे मुनिराज को माननेवाला संवर-निर्जरा को मानता है और संवर-निर्जरा को माननेवाला मुनिराज को मानता है; वह मिथ्या गुरु को नहीं मानता है।

तथा वह रागरहित अहिंसा धर्म को मानता है; परन्तु व्यवहाररत्नत्रय से धर्म नहीं मानता। इसप्रकार धर्म की श्रद्धा होती है।

इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान में अरहंतदेवादि का श्रद्धान भी आ जाता है। अथवा जिस निमित्त से सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसी निमित्त से सच्चे अरहन्तदेव-गुरु-धर्म की श्रद्धा होती है। इसलिये जिसको तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणवाला सम्यग्दर्शन हुआ उसको देवादिक की श्रद्धा का नियम है। इसप्रकार अविनाभावी संबंध है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान में अरहंतादिक की श्रद्धा समाहित की है।

....फिर प्रश्न है कि कितने ही जीव अरहन्तादिक का श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहिचानते हैं और उनके तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है- ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधानः तत्त्वश्रद्धान बिना अरहन्तादिक के छियालीस आदि गुण जानता है वह पर्यायाश्रित गुण जानता है; परन्तु भिन्न-भिन्न जीव-पुद्गल में जिसप्रकार सम्भव हैं उस प्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता, इसलिये सच्चा श्रद्धान भी नहीं होता; क्योंकि जीव-अजीव जाति पहिचाने बिना अरहन्तादिक के आत्माश्रित गुणों को व शरीराश्रित गुणों को भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न कैसे न माने? इसलिये प्रवचनसार में ऐसा कहा है:-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।80।।

इसका अर्थ यह है:- जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है वह आत्मा को जानता है; उसका मोह विलय को प्राप्त होता है।

इसलिये जिसके जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसके अरहन्तादिक का

भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्षादिक तत्त्व के श्रद्धान बिना अरहन्तादिक का माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता । लौकिक अतिशयादि से अरहन्त का, तपश्चरणादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसादि से धर्म की महिमा जानता है, सो यह पराश्रितभाव है। तथा आत्माश्रित भावों से अरहन्तादिक का स्वरूप तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही जाना जाता है; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है- ऐसा नियम जानना।

इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षण निर्देश किया। ....

प्रश्नः- कोई जीव अरहंतदेव को, निर्ग्रन्थगुरु को तथा राग रहित अहिंसाधर्म को मानता है, तो भी उसको तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता। इसलिये सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के साथ तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य होता ही है - ऐसा नियम संभव नहीं होता। सम्प्रदाय में सब अरहंतदेव को मानते हैं, परन्तु उनको सात तत्त्वों के प्रथकपने का पता नहीं होता है?

उत्तरः- अज्ञानी जीव सच्ची श्रद्धा के बिना अरहंत के छियालीश गुणों को जानता है, परन्तु आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, वह राग और शरीर की क्रिया नहीं करता-ऐसा भान उसको नहीं है। वह जीव-अजीव की जाति को नहीं जानता और उसे जाने बिना अरहंत के अरूपी निर्विकारी गुण कैसे होते हैं और उनके शरीराश्रित गुण कैसे होते हैं इसका भी उसको पता नहीं है।

समवसरण में सर्प और मोर एकसाथ बैठे होते हैं, भगवान जमीन से ऊपर विहार करते हैं, उनके परमौदारिक शरीर होता है-इसप्रकार वह भगवान को पहिचानता है; परन्तु यह सब तो पुण्य का फल है, इसका उसे पता नहीं है। वह मानता है कि मुनि उपदेश देते हैं, परन्तु उपदेश का (भाषावर्गणारूप युद्गल का) स्वामी होनेवाला तो मिथ्यादृष्टि है। जीव आस्रव नहीं करता, आस्रव से धर्म नहीं होता, आस्रव जड़ को नहीं करता, जड़ का कार्य आत्मा नहीं करता, इस बात का उसको पता नहीं है।

अरहंत के अनंत चतुष्टय आत्माश्रित है, वे आत्मा की पर्यायें हैं तथा औदारिक शरीर इत्यादि शरीराश्रित पर्यायें हैं। गुण त्रिकाल है और अवस्था नई प्रगट होती है। अज्ञानी को आत्मा की पर्याय का तथा शरीराश्रित पर्यायों की भिन्नता का पता नहीं है। आत्मा शरीर को चलाता है -ऐसा मानना मूढ़ता है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, आत्मा से नहीं होती। आत्मा

एक क्षेत्र में होने पर भी तथा इच्छा होने पर भी कितनी बार पैरों का चलना नहीं होता, भाषा नहीं बोली जाती, क्योंकि वह स्वतंत्र है। जिससमय अजीव की पर्याय हो -उसीसमय जीव में इच्छा हो तो उसको निमित्त कहते हैं। आत्मा की पर्याय आत्मा से और जड़ की पर्याय जड़ से होती है -ऐसा मानें तो अपने आत्मा को पर से भिन्न क्यों नहीं मानेगा? भगवान की मूर्ति जड़ है, शरीर जड़ है, देव पर है-ऐसा मानें तो स्व को (उनसे) भिन्न मानें। अज्ञानी मानता है कि मुझको मूर्ति से लाभ होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। जीव स्वयं शुद्ध या शुभ परिणाम करे तो भगवान उसमें निमित्त कहलाते हैं; परन्तु भगवान के कारण परिणाम नहीं होते। अनेक मंदिर बनाने पर भी ज्ञानी समझता है कि वे मंदिर मेरे से नहीं हुए हैं, मैं उनसे भिन्न हूँ; उनसे मुझे लाभ नहीं है।

कोई कहता है कि पंचकल्याणक करानेवाला जीव आठवें भव में मोक्ष प्राप्त करता है-तो यह बात मिथ्या है। पंचकल्याणक के भाव से धर्म नहीं है। मंदिर की क्रिया जड़ की है और अपने में शुभभाव होना पुण्य है। पुण्य के कारण या पर के कारण संसार का अभाव नहीं होता। जो जीव-अजीव को भिन्न जानता है वह परद्रव्य से धर्म होना नहीं मानता है।

पुण्य तो आस्रव है, उससे संवर मानने पर सातों तत्त्व भिन्न नहीं रहते। पुण्य विकारी परिणाम और संवर निर्विकारी परिणाम है, उन्हें भिन्न नहीं मानना दर्शनमोह (मिथ्यात्व) है। भगवान पर है। पर से आत्मा को लाभ होना मानने पर सात तत्त्व नहीं रहते। अतः यह मान्यता मिथ्या अभिनिवेश है। मैं जीव हूँ, पुण्य-पाप के भाव आस्रव-बंध है-ऐसा समझनेवाला समझता है कि पर के कारण मेरे में कुछ भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाला अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न कैसे नहीं मानेगा? अवश्य ही भिन्न मानता है।

श्री प्रवचनसार (गाथा-80) में कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि

'जो जानता अरहन्त को द्रव्यत्व-गुण-पर्याय से।
वह जानता है आतमा हो मोहक्षय तब नियम से।।

जो अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है वह आत्मा को जानता है। अरहन्त के द्रव्य का भाव, उनके गुण का भाव और पर्याय का स्वभाव जो जानता है वह आत्मा को जानता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंदादि आत्मा की पर्यायें हैं, शरीरादि की अवस्था अजीव की है - इसप्रकार चैतन्य और जड़ को भिन्न जाननेवाला आत्मा को जानता है।

तथा इन मोक्षादि तत्त्वों के श्रद्धान बिना अरहंतादि का माहात्म्य भी यथार्थ नहीं जानता। उनके भान बिना वह जीव अरहंत को नहीं जानता। मात्र साथ के लौकिक अतिशयों से अरहंत का; तपश्चरणादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसा से धर्म का माहात्म्य जानता है। जहाँ प्रभु विराजते हैं वहाँ मार-काट आदि नहीं होती-यह अरहंत का माहात्म्य नहीं है। यह तो पुण्य का माहात्म्य है। पुण्य का माहात्म्य आनेवाले को चैतन्य का माहात्म्य नहीं आता। सात तत्त्वों की श्रद्धा के बिना अरहंत का माहात्म्य नहीं आता। मानस्तंभ को देखकर गौतम का मान गल गया -ऐसा माननेवाले को बाहर का माहात्म्य आया है।

मानस्तंभादि अजीव पदार्थ हैं। जीव उनकी क्रिया नहीं कर सकता, शुभराग होवे तो उनको निमित्त कहा जाता है। भगवान को केवलज्ञान प्रगटने पर उनको क्षुधा-तृषा नहीं होते यह बात सत्य है; परन्तु इतने मात्र से अरहंत को पहिचानना भूल है।

तथा तपश्चरण से गुरु को पहिचानना भी उचित नहीं है। गुरु (मुनिराज) भीषण सर्दी में भी वस्त्र नहीं रखते, दिन में एकबार आहार लेते हैं, केशलोंच करते हैं, इत्यादि से अज्ञानी गुरु की महिमा करता है। तथा मुनि इन्द्रियदमन करते हैं, नग्न पैर से गमन करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं-इनसे मुनि को पहिचानना भी यथार्थ पहिचान नहीं है।

वस्तुतः लोग अरहंत तथा गुरु का लक्षण नहीं जानते। गुरु का लक्षण निर्विकल्प रत्नत्रय के परिणाम हैं। खड़े-खड़े और करपात्र में आहार करना तो जड़ की क्रिया है, उसको आत्मा नहीं कर सकता। अभी तो मुनि उद्दिष्ट आहार लेते हैं औरश्रावक भी उद्दिष्ट आहार देते हैं -ये दोनों की भूल है, दोनों व्यवहार भ्रष्ट हैं। भाई! यह सर्वज्ञ का मार्ग है। इसमें शिथिलता नहीं चल सकती। जैनदर्शन में बड़ी प्रतिज्ञा नहीं लेने का पाप नहीं है; परन्तु प्रतिज्ञा लेकर उसको भंग करना महापाप है। अज्ञानी जीव बाह्य क्रिया और तप से मुनि की पहिचान करता है। जिसके बाह्य महाव्रतादि खोटे हैं उसके निश्चय और व्यवहार दोनों खोटे हैं; परन्तु जिनके निश्चय और बाह्य व्यवहार दोनों सच्चे है वे सच्चे मुनि हैं। अज्ञानी उनको बाह्य तप से पहिचानता है; अतः उसको गुरु का माहात्म्य नहीं आता।

तथा परजीवों की अहिंसा से धर्म का माहात्म्य जानता है; परन्तु यह वस्तुस्वरूप नहीं है। सात तत्त्व के भान बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। लौकिक अतिशय, तपश्चरण का भाव,

परजीव की अहिंसा-ये सब पराश्रित भाव हैं, आत्माश्रित भाव नहीं। अरहंतदेव, मुनि तथा धर्म का स्वरूप आत्माश्रित है। अरहंतपना, मुनिपना और धर्म शुद्ध चिदानंद आत्मा के आश्रय से है-ऐसा जानना चाहिये। तत्वार्थश्रद्धान होने पर ही सत्य जाना जाता है।

पैसा अजीव है, पैसा खर्च करने में (दान मे) राग मंद करना पुण्य है; मैने पैसा खर्च किया यह मान्यता मिथ्यात्व है; और मान के लिये पैसा खर्च करना मिथ्यात्व सहित पापभाव है। तृष्णा मंद करे तो मिथ्यात्व सहित शुभभाव है। ऐसे जीव को सात तत्त्व की श्रद्धा नहीं होती।

कुदेवादि को माननेवाला आस्रव-बंध को हेय नहीं मानता और न सुदेवादि को मानता है। अर्थात् उसको सातों ही तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता। इसप्रकार सात तत्त्वों की श्रद्धा में अरहंतदेवादि की श्रद्धा आ जाती है। जिसको अरहंतादि की सच्ची श्रद्धा होती है उसको तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य होता ही है- ऐसा नियम जानना चाहिये। इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षण निर्देश किया।

....यहाँ प्रश्न है कि सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान व देव-गुरु- धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण कहा। तथा इन सर्व लक्षणों की परस्पर एकता भी दिखायी सो जानी; परन्तु अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहने का प्रयोजन क्या?

उत्तरः- यह चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है। तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचारकर अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं।

जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तो यह प्रयोजन है कि इन तत्त्वों को पहिचाने तो यथार्थ वस्तु के स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करे तब मोक्षमार्ग में प्रवर्ते।

तथा जहाँ आपापर का भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन आपापर का भिन्न श्रद्धान करना है। तथा आस्रवादिक के

श्रद्धान का प्रयोजन रागादिक छोड़ना है, सो आपापर का भिन्न श्रद्धान होने पर परद्रव्य में रागादि न करने का श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन आपापर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर इस लक्षण को कहा है।

तथा जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ आपापर के भिन्नश्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि- आप को आप जानना। आपको आप जानने पर पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

तथा जहाँ देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधन की प्रधानता की है; क्योंकि अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है और कुदेवादिक का श्रद्धान कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है। सो बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के अर्थ देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।....

प्रश्नः- सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर का श्रद्धान, आत्मश्रद्धान तथा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण कहा, इन सभी लक्षणों में परस्पर एकता दर्शायी; परन्तु इसतरह अन्य-अन्य प्रकार से कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तरः- ये चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टि पूर्वक किसी एक लक्षण का ग्रहण करने पर चारों का ग्रहण होता है। अरहंतदेव-निर्ग्रन्थगुरु तथा राग रहित परिणाम को पहिचाने तो सब जान जाता है। तथापि मुख्य प्रयोजन अलग-अलग विचारकर अन्य-अन्य प्रकार से ये लक्षण कहे गये हैं।

* जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा वहाँ तो यह प्रयोजन है कि यदि इन सात तत्त्वों को पहिचाने तो जीव-अजीव का स्वरूप पहिचाने; आस्रव-बंध को अहितरूप पहिचाने और संवर-निर्जरा मोक्ष को हितरूप पहिचाने। पुण्य-पाप के परिणाम बुरे हैं और वीतरागी पर्याय संवर-निर्जरा हितकर तथा मोक्ष परमहितकर है। जीव चैतन्यमूर्ति है, शरीरादि अजीव है-ऐसा पहिचाने तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में प्रवर्ते। संवर-निर्जरा में प्रवर्तने से मोक्षमार्ग में प्रवर्ते ।

अर्थात् जिसको हितकर मानें उसमें प्रवर्ते और जिसको अहितकर मानें उससे छूटना चाहे। इसप्रकार सात तत्त्वों की पहिचान में मोक्षमार्गरूप प्रवृत्ति हो और आस्रव में नहीं प्रर्वते। ज्ञानी को पुण्य-पाप के परिणाम होते अवश्य हैं; परन्तु वह समझता है कि ये परिणाम अहितकर हैं-हेय हैं। ज्ञान ही बंध के अभाव का कारण है। तथा जीव-अजीव को जानने से जड़ की क्रिया का अभिमान मिट जाता है। इसप्रकार जो जीव-अजीव को स्वतंत्र जानता है। उसको भेदज्ञान का लाभ होता है, तथा जो संवर-निर्जरा को जानता है वह स्वभावसन्मुखता का प्रयत्न करता ही है। जिसको आवश्यक जाने उसका प्रयत्न करता ही है। आस्रव-बंध को हेय जाननेवाला आस्रव-बंध में सर्वथा रुक जाये-ऐसा नहीं होता; अपितु वह तो आस्रव-बंध को छोड़ने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य यह है कि जो सात तत्त्वों को पहिचानता है कि जीव ज्ञानानंद स्वरूप है, शरीरादि अजीव है, आस्रव-बंध अहितकर है और संवर-निर्जरा-मोक्ष हितकर है, वह मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है और ऐसी श्रद्धा नहीं करनेवाला मोक्षमार्ग में नहीं प्रवर्तता।

* तथा स्व-पर की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है, वहाँ जीव-अजीव की श्रद्धा का प्रयोजन तो स्व-पर को भिन्न जानना है। आस्रव-बंध का श्रद्धान उनको छोड़ने के लिये है। पुण्य-पापरूपभाव आस्रव है, बंध के कारण हैं। जीव-अजीव को भिन्न जाने तो जड़ से मेरे में कुछ नहीं होता और मेरे से जड़ में कुछ नहीं होता - ऐसा मानें तथा स्व-पर की भिन्नता का श्रद्धान होने पर पुण्य-पाप के परिणाम करने योग्य नहीं है और स्वभाव की निर्मलता करने योग्य है -यह बात आ जाती है।इसलिये स्व-पर की भिन्नता के श्रद्धान में सात तत्त्वों की श्रद्धा आ जाती है।

तत्त्वार्थश्रद्धान का हेतु स्व-पर की भिन्नता जानकर स्वरूप स्थिरता करने का है।मैं जीव हूँ और शरीरादि पर है - इसप्रकार स्व-पर तीनों काल भिन्न है। तथा आस्रव,बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की श्रद्धा करने में हेतु यह है कि आस्रव-बंध छोड़ने योग्य और स्वभाव आदरने योग्य है। अर्थात् राग को छोड़कर ज्ञानानंद में स्थिरता ही प्रयोजन है। स्व-पर की भिन्नता का श्रद्धान होने पर परवस्तु में राग-द्वेष नहीं करने का श्रद्धान होता है और उससे स्व में स्थिरता का प्रयोजन सिद्ध होता है। स्व-पर की भिन्नता की श्रद्धा में सातों तत्त्वों की श्रद्धा आ जाती है।- ऐसा प्रयोजन जानकर स्व-पर की भिन्नता को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

तत्त्वार्थश्रद्धान में स्व-पर की भिन्नता करने का प्रयोजन है-इसकारण स्व-पर की भिन्नता को लक्षण कहा है। जीव-अजीव को जानकर, हित-अहित को जानकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना प्रयोजन है। यह प्रयोजन स्व-पर की भिन्नता से होता है, इसलिए उसको भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

* आत्मश्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। आत्मा स्वयं ज्ञानानंद, देखने-जानने वाला है, अन्य कोई क्रियायें मेरी नहीं हैं। इसप्रकार अपने को आपरूप जानने पर पर का विषय कार्यकारी नहीं है-यह श्रद्धा होती है । यह अजीव है, ये आस्रव-बंध हैं वह मै नहीं हूँ । इसलिये पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं है।

परवस्तु का ग्रहण-त्याग आत्मा के मूलस्वरूप में हो तो मिथ्यात्व कायम रहा करे। बाह्य वस्तु पर है, उसको जीव ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। परवस्तु आती और जाती है, उसको ज्ञान जानता है -ऐसा नहीं मानकर मैं पर का ग्रहण-त्याग करता हूँ यह मानना मिथ्याभाव है। इसके अभाव के बिना स्व में स्थिरता नहीं हो सकती। मै ज्ञानानंद हूँ-ऐसी समझ के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। (चरणानुयोग में) अभक्ष्य वस्तु का ग्रहण नहीं करना ऐसा कहा है, वह व्यवहार का कथन है। स्वभाव की दृष्टिवंत को अभक्ष्य वस्तु के ग्रहण का भाव होता ही नहीं है, इसलिये अभक्ष्य वस्तु का त्याग किया ऐसा कहा जाता है। मुझ आत्मा के अतिरिक्त अन्य जीव तथा अजीव पदार्थ हैं, वे पदार्थ पराधीन नहीं हैं; आत्मा उनकी क्रिया नहीं कर सकता। विपरीत अभिप्राय का त्याग और अविपरीत तत्त्वार्थश्रद्धान उत्पन्न करना प्रयोजन है। सच्ची श्रद्धा के भान बिना समाधिमरण नहीं होता। जैसे जिसको हाथ में बंदूक पकड़ना नहीं आता वह शत्रु के सामने युद्ध में खड़ा नहीं रह सकता; इसीतरह जिसको विपरीत अभिप्राय को नष्ट करना नहीं आता और सत्यार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन प्रगट करना नहीं आता, उसको असमाधिमरण को मारना नही आयेगा और समाधिमरण उत्पन्न करना नहीं आयेगा। मिथ्यात्व की मृत्यु ही वास्तविक मृत्यु है और सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न करना ही आत्मा का जीवन है।

यहाँ कहते हैं कि स्व की श्रद्धा में शरीरादि पर का विकल्प नहीं करना। शरीर, पैसा आदि का कुछ भी हो, उसका विकल्प नहीं करना। आत्मश्रद्धा में स्व-पर की भिन्नता सिद्ध होती है अपने को आपरूप जानने पर अजीव के विकल्प की आवश्यकता नहीं है और

आस्रव-बंध गौण हो गये। इसप्रकार मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

* अब सर्वज्ञदेव-निर्ग्रन्थगुरु और अहिंसाधर्म की बात करते हैं। वहाँ बाह्य साधन की प्रधानता की है। सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा न होवे और तत्त्वार्थश्रद्धान हो जाये-ऐसा नहीं हो सकता। तथा सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु का राग है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान होता ही है-ऐसा नियम नहीं है। यदि सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान करे तो अरहंतादिक की श्रद्धा को निमित्त कहते हैं। द्रव्यलिंगी मुनि सच्चे देवादिक की श्रद्धा करता है, परन्तु आत्मा की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, इसलिये उसके देवादिक की श्रद्धा निमित्त भी नहीं कहलाती है। ज्ञानस्वभावी अभेद जीव उपादेय है, आस्रव-बंध हेय है-इत्यादि श्रद्धान होने पर देवादिक की श्रद्धा निमित्त होती है।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव-निर्ग्रन्थमुनि और अहिंसा धर्म की श्रद्धा तत्त्वार्थश्रद्धान में बाह्य निमित्त है, और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की श्रद्धा अतत्त्वश्रद्धान में निमित्त है। अज्ञानी जो तत्त्व कहता है वे तत्त्व कल्पित हैं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र बलजोरी से विपरीत नहीं मनवाते; परन्तु अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण तत्त्व की विपरीत श्रद्धा करता है तो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र निमित्त कहलाते हैं।

यहाँ सम्यक्त्व के लक्षण निर्देश की बात चलती है-लक्षण का कथन करते हैं। पहले नाम निर्देश की बात की थी, अब तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है उसकी बात चल रही है।

यहाँ कहते हैं कि राग से संसार का अभाव होना मनानेवाले, पर की दया तथा मदद से आत्मा को लाभ मनानेवाले अहिंसा धर्म को नहीं मानते। सनातन दिगम्बर जैन मार्ग के अतिरिक्त सभी मार्गों (मतों) में कल्पित तत्त्व कहे गये हैं, एक भी तत्त्व सच्चा नहीं कहा है।

सातवें अधिकार में कहा है कि जीवादिक तत्त्वों के लक्षण, लक्षणनिर्देश तथा परीक्षा द्वारा निरूपण (निर्णय) करना चाहिये। यहाँ सम्यग्दर्शन के लक्षण का निरूपण अथवा निर्देश किया है। वह लक्षण निर्देश जानना।

पूर्व में कहा जा चुका है कि वहाँ निर्देश, लक्षण निर्देश और परीक्षा द्वारा उनका निर्धार होता है। इसलिये प्रथम तो उनके (जीवादि तत्त्वों के) नाम सीखे, फिर उनके लक्षण जानें,

फिर ऐसा सम्भव है या नही ? ऐसे विचारपूर्वक परीक्षा करने लगे। अब वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना तो उपदेशानुसार होता है। अर्थात् जैसा उपदेश मिला हो उसको याद कर लेना; तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये।

यहाँ ग्रंथकार ने सम्यग्दर्शन के चार अलग-अलग लक्षण बताये; परन्तु उनकी परीक्षा का विवेक स्वयं को करना रहा है।

यहाँ अरहंत देवादि की श्रद्धारूप लक्षण की बात चलती है। सच्चे देवादि को मानने से गृहीत मिथ्यात्व का त्याग होता है। कुदेवादि तो पर है; पर के त्याग की बात नहीं है; परन्तु उनकी श्रद्धा छोड़नी है। तथा सच्चे अरहंतादि भी पर है; उन्हे भी ग्रहण नहीं करना है; परन्तु वे कहते हैं वह सत्य है- यह सच्ची श्रद्धा ग्रहण करनी हैं। इसप्रकार सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के लिये देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजन की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे गये हैं।-इसप्रकार:-

* तत्त्वश्रद्धान लक्षण में सात तत्त्वों को पहिचानकर हित, अहित का श्रद्धान करके मोक्षमार्ग में प्रवर्ते यह हेतु है।

* स्व-पर की भिन्नता के लक्षण में तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन सिद्ध होता है।

* आत्मश्रद्धान लक्षण में आत्मा की श्रद्धा करने पर पर का विकल्प नहीं करना यह प्रयोजन है।

* अरहंतादि की श्रद्धा में कुदेवादि की श्रद्धा छोड़ना और सच्चे देवादि की श्रद्धा ग्रहण करना-यह लक्षण बाह्य लक्षण की अपेक्षा से कहा गया है।

प्रश्न:- इन लक्षणों की परीक्षा करने योग्य ज्ञान का उघाड़ न हो तो क्या करना चाहिये ?

समाधान:- जो बाहर में चतुराई बताता है, संसार के कार्यों में होशियारी बताता है और आत्मा में उपयोग नहीं लगाता उसको बाहर की रुचि है; परन्तु स्व की रुचि नहीं है। व्यापार के कार्य में परीक्षा करना आता है; परन्तु यहाँ इंकार करता है। जो क्षयोपशम पर में लगा है उसे स्व में लगाना चाहिये। यदि जीव भलीभांति विचार करे तो सब समझमें आ सकता है। सच्चा ग्रहण करना हो तो सच्ची बात की स्वीकृति रखना चाहिये। अज्ञानी जीव प्रमाद के

पोषण के लिये बचाव करता है। सच्चा कथन सुनने को मिले; परन्तु परीक्षा तो स्वयं को करना चाहिये।

....यहाँ प्रश्न है कि यह चार लक्षण कहे, उनमें यह जीव किस लक्षण को अंगीकार करे?

समाधानः- मिथ्यात्वकर्म के उपशमादि होनेपर विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है; वहाँ चारों लक्षण युगपत् पाये जाते हैं। तथा विचार अपेक्षा मुख्यरूप से तत्त्वार्थों का विचार करता है, या आपापर का भेदविज्ञान करता है, या आत्मस्वरूप ही का स्मरण करता है, या देवादिक का स्वरूप विचारता है। इसप्रकार ज्ञान में तो नानाप्रकार विचार होते हैं, परन्तु श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्त्वविचार करता है तो भेदविज्ञान के अभिप्राय सहित करता है। और भेदविज्ञान करता है तो तत्त्वविचारादि के अभिप्राय सहित करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है; इसलिये सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में चारों ही लक्षणों का अंगीकार है।

तथा जिसके मिथ्यात्व का उदय है उसके विपरीताभिनिवेश पाया जाता है; उसके यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते। जिनमत के जीवादिक तत्त्वों को मानता है, अन्य को नहीं मानता, उनके नाम-भेदादिक को सीखता है- ऐसा तत्त्वश्रद्धान होता है; परन्तु उनके यथार्थभाव का श्रद्धान नहीं होता। तथा आपापर के भिन्नपने की बातें करे, चिंतवन करे; परन्तु जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है और वस्त्रादिक में परबुद्धि है, वैसे आत्मा में अहंबुद्धि और शरीरादि में परबुद्धि नहीं होती। तथा आत्मा का जिनवचनानुसार चिंतवन करे; परन्तु प्रतीतिरूप आपका आपरूप श्रद्धान नहीं करता है। तथा अरहन्तदेवादिक के सिवा अन्य कुदेवादिक को नहीं मानता; परन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान नहीं करता- इसप्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टि के होते हैं। इनमें कोई होता है, कोई नहीं होता; वहाँ इनके भिन्नपना भी सम्भवित है।

तथा इन लक्षणाभासों में इतना विशेष है कि पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो,

फिर तत्त्वों का विचार हो, फिर आपापर का चिंतवन करे, फिर केवल आत्मा का चिंतवन करे- इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर कोई जीव सिद्धपद को भी प्राप्त कर ले। तथा इस अनुक्रम का उल्लंघन करके- जिसके देवादिक की मान्यता का तो कुछ ठिकाना नहीं है और बुद्धि की तीव्रता से तत्त्वविचारादि में प्रवर्त्तता है, इसलिये अपने को ज्ञानी जानता है; अथवा तत्त्वविचार में भी उपयोग नही लगाता, आपापर का भेदविज्ञानी हुआ रहता है; अथवा आपापर का भी ठीक नहीं करता, और अपने को आत्मज्ञानी मानता है। सो यह सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषाय के साधन हैं, कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहे उसे जब तक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तब तक इनको भी अनुक्रम ही से अंगीकार करना।

वही कहते हैं:- पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादिक की मान्यता छोड़कर अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान करना; क्योंकि यह श्रद्धान होनेपर गृहीतमिथ्यात्व का तो अभाव होता है, तथा मोक्षमार्ग के विघ्न करनेवाले कुदेवादिक का निमित्त दूर होता है, मोक्षमार्ग का सहायक अरहन्तदेवादिक का निमित्त मिलता है; इसलिये पहले देवादिक का श्रद्धान करना। फिर जिनमत में कहे जीवादिक तत्त्वों का विचार करना, नाम-लक्षणादि सीखना; क्योंकि इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है। फिर आपापर का भिन्नपना जैसे भासित हो वैसे विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है। फिर आपमें अपनत्व मानने के अर्थ स्वरूप का विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार अनुक्रम से इनको अंगीकार करके फिर इन्हीं में कभी देवादिक के विचार में, कभी तत्त्वविचार में, कभी आपापर के विचार में, कभी आत्मविचार में उपयोग लगाये। ऐसे अभ्यास से दर्शनमोह मन्द होता जाये तब कदाचित् सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा नियम तो है नहीं; किसी जीव के कोई प्रबल विपरीत कारण बीच में हो जाये तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं भी होती; परन्तु मुख्यरूप से बहुत जीवों के तो इस अनुक्रम से कार्यसिद्धि होती है; इसलिये

इनको इस प्रकार अंगीकार करना। जैसे- पुत्र का अर्थी विवाहादि कारणों को मिलाये, पश्चात् बहुत पुरुषों के तो पुत्र की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो न हो। इसे तो उपाय करना। उसीप्रकार सम्यक्त्व का अर्थी इन कारणों को मिलाये, पश्चात् बहुत जीवों के तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो नहीं भी हो। परन्तु इसे तो अपने से बने वह उपाय करना।

इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षणनिर्देश किया।....

प्रश्नः- अब आपने अलग-अलग चार लक्षण कहे, जैसे कि-तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर श्रद्धान, आत्मश्रद्धान तथा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान; परन्तु इनमें यह जीव किस लक्षण को अंगीकार करे?

समाधानः- जहाँ विपरीत अभिप्राय मिटता है वहाँ मिथ्यात्वकर्म मिटता है। यहाँ निमित्त की सापेक्षता से बात की है। मिथ्यात्वकर्म का उपशम, क्षयोपशम बाह्य निमित्त है, और अंतर में विपरीत मान्यता का अभाव नैमित्तिक है। वहाँ चारों लक्षण एकसाथ होते ही हैं; चारों में अविनाभावी संबंध है। चारों की सच्ची श्रद्धा होनी चाहिये। कोई कहे कि आत्मा की श्रद्धा हो गई; परन्तु कुदेवादि की श्रद्धा नहीं छूटी-तो यह बात मिथ्या है। सच्ची श्रद्धा होने पर कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर नहीं होता।

तथा ज्ञान की विचारणा में कभी मुख्यरूप से सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न विचारे, अथवा स्व-पर को विचारे अथवा मैं ज्ञायक स्वरूपी हूँ - ऐसा विचारे अथवा अरहंतादि के स्वरूप को विचारे। प्रतीति में चारों लक्षण एकसाथ हैं; परन्तु ज्ञान में अनेक प्रकार विचार होता है। विचार में क्रम; परन्तु श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है।

सच्चे देवादि की श्रद्धा हो वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर श्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान होना चाहिये। आत्मा का श्रद्धान हो वहाँ अरहंतादि का, स्व-पर का तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान होना चाहिये। तत्त्वार्थश्रद्धान हो वहाँ अरहंतादि की, स्व-परकी तथा आत्मा की श्रद्धा होनी चाहिये। इसप्रकार सर्वत्र अरस-परस (परस्पर) सापेक्षता समझना।

कोई कहे कि सच्चे देव की श्रद्धा का पता है; परन्तु तत्त्व की श्रद्धा नहीं है - तो यह बात सत्य नहीं है। कोई कहे कि आत्मज्ञान हुआ है; परन्तु सच्चे देवादि का आदर नहीं हुआ और कुदेवादि का आदर नहीं छूटा -तो ऐसा कभी नहीं हो सकता।

धर्मीजीव स्व-पर का विचार करे, देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का विचार करे, आत्मा का विचार करे अथवा तत्त्वार्थों का विचार करे,-इस प्रकार विचारो में क्रम पड़ने पर भी एक विचार के समय अन्य तीन के अभिप्राय की सापेक्षता समझनी चाहिये। चार में विचार अपेक्षा से क्रम पड़ता है; परन्तु चार में श्रद्धा अपेक्षा से क्रम नहीं पड़ता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में चारों लक्षण साथ ही होते हैं।

जिसको कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा होती है उसको सात तत्त्वों की, आत्मज्ञान की, स्व-पर भेदविज्ञान की अथवा अरहंतादिक की-ऐसे चारो मैं से एक की भी श्रद्धा नहीं होती।

जिसको सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसके चारों लक्षण साथ होते हैं। सात तत्त्व की श्रद्धा कहो, स्व-पर भेदविज्ञान कहो, आत्मश्रद्धान कहो अथवा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान कहो-यह सब एक ही बात है। सच्ची श्रद्धावाले धर्मात्मा को चारों लक्षण होते हैं।

वर्तमान में सत्य बात बाहर आई, इसलिये अज्ञानीजन सत्य की नकल करने लगे हैं। वे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानते हैं; परन्तु उनमें यह बात है ही नहीं। सनातन दिगम्बर मार्ग के अतिरिक्त कहीं यह बात नहीं है; तो भी कपटपूर्वक कहते हैं कि हमारे शास्त्र में भी यह बात है।

कोई दिगम्बर होकर भी कहता है कि वस्त्रसहित होने पर भी सातवाँ गुणस्थान आ जाता है और फिर छठवें गुणस्थान में वस्त्र का परित्याग कर देते हैं; परन्तु यह बात भी मिथ्या है। मन-वचन-काय से करना नहीं, कराना नहीं, और अनुमोदन देना नहीं-ऐसे नौ प्रकार से परिग्रह का त्याग होने पर मुनिपना आता है। इसप्रकार के नौ कोटि से त्यागरूप अंतर परिणाम होने पर बाह्य में वस्त्र-पात्र रहना संभव नहीं है। मुनि बाहर में अध:कर्मी आहार लेते हों और अंदर में मुनिपने के अच्छे परिणाम हों-यह संभव नहीं है-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसलिये सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप की यथार्थ पहिचान करनी चाहिये।

अज्ञानी के विपरीत अभिप्रायरूप दोष के कारण ये लक्षणाभास मात्र हैं। वह देव-शास्त्र गुरु को व्यवहार से पहिचानता हो; परन्तु भाव का भासन नहीं है। नौ तत्त्वों को मानता है; परन्तु उनके भाव को नहीं पहिचानता। मैं ज्ञायक हूँ, शरीरादि अजीव है, पुण्य-पाप विकार है-ऐसा भेदज्ञान करे तो पूर्व के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है। अज्ञानी नौ तत्त्व के नाम सीखता

है, उसको द्रव्यआगमनिक्षेप से तत्त्व की श्रद्धा है; परन्तु यथार्थ भाव का पता नहीं है। जैसे बालक के गले में पाँच हजार का हार हो तो वह पेड़ा मिलने पर उसको दे देता है; क्योकि उसको हार में स्वाद नहीं आता और पेड़ा में स्वाद आता है। उसको हार की महिमा नहीं हैं। पाँच हजार के हार में बहुत पेड़े आयेंगे इसका उसे पता नहीं हैं; इसीप्रकार अज्ञानी को पुण्य के परिणाम में मजा (आनंद) आता है। उसको आत्मा की महिमा नहीं है–भाव का भासन नहीं है। इसलिये वह पुण्य–पाप को आत्मा में खताता–गिनता है और आत्मा को पुण्य–पाप में गिनता है।

आत्मा स्व है और वस्त्रादि पर है–ऐसा बोलता है; परन्तु जैसे शरीर में अहंबुद्धि है तथा वस्त्रादि में परबुद्धि है; वैसी अपने शुद्ध स्वभाव में अहंबुद्धि और शरीरादि में परबुद्धि नहीं करता। शरीर में कोई दर्द होने पर मुझे दर्द हुआ मानता है। मेरा शरीर मोटा अथवा पतला है–इसप्रकार शरीर को निज मानता है। आत्मा में अहंबुद्धि नहीं करता। इसलिये उसको स्व–पर भेदविज्ञान नहीं है। जैसे वस्त्र जीर्ण होने पर अपने को जीर्ण नहीं मानता; वैसे ही शरीर जीर्ण होने पर मैं जीर्ण नहीं हुआ–ऐसा नहीं मानता। अपन तो संसारी है, इसलिये शरीर की संभाल करनी पड़ती है –ऐसा वह मानता है। शरीर और आत्मा के बीच भेद है, दोनों अलग है– ऐसा वह नहीं मानता।

कोई कहता है कि शरीर को पर जानने पर द्वेष होता है; तो उससे कहते हैं कि शरीर पर है–ऐसा जानने पर कोई द्वेष नहीं होता; शरीर अनिष्ट है–ऐसा मानें तो द्वेष कहलाता है। पर में इष्टानिष्टपना नहीं है, शरीर की पर्याय होना हो वह होती है; उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। जैसे लड्डू खाते समय कंकर आवे तो निकाल देता है; इसीप्रकार शरीर कंकर के समान है और आत्मा भिन्न है–ऐसा भेदविज्ञान अज्ञानी नहीं करता है। इसकारण उसको स्व–पर भेदविज्ञान नहीं है।

अज्ञानी जीव जिन आज्ञानुसार आत्मा का विचार करता है; परन्तु मै जानने–देखनेवाला हूँ–ऐसी प्रतीति अपने विषय में नहीं करता। इसलिये उसको आत्मश्रद्धान नहीं है।

जैन में जन्मकर सच्चेदेव–निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसा धर्म के अतिरिक्त कुदेवादिक को नहीं मानता; परन्तु कुल परम्परा से अथवा सम्प्रदाय के पक्ष से मानता है। अरहंतादिक के स्वरूप को यथार्थरूप से पहिचानकर श्रद्धा नहीं करता। जो जीव कुदेवादि को मानता है वह

तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है ही। यहाँ तो कहते हैं कि कुदेवादिक को छोड़कर सुदेवादिक को मानने पर भी उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जाननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के लक्षणाभास होते हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान, भेदविज्ञान, आत्मश्रद्धान, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा व्यवहार से है; परन्तु अज्ञानी को चारों के परमार्थ का पता नहीं है। तथा चारों की श्रद्धा में कोई एक हो अथवा कोई न हो; परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप भासित नहीं होता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

इन चार लक्षणाभासों में इतना विशेष है कि पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो। सर्वप्रथम सच्चे देव-गुरु-धर्म की पहिचान होना चाहिये। जिसके निमित्त झूठे हैं उसको कभी धर्म नहीं होता। अरहंतदेव को अखण्ड ज्ञान-दर्शन उपयोग है, उनको आहार नहीं होता,क्षुधा नहीं होती, परम औदारिक शरीर होता है। वे अपने सहित समस्त द्रव्यों को अर्थात् तीनकाल-तीनलोक को जानते हैं। मुनि निर्ग्रन्थ होते हैं, उनके अंतर बाह्य ग्रंथि नहीं होती और रागरहित दशा धर्म है। इसप्रकार पहले जानना चाहिये। कुदेवादि को माने और सम्यग्दर्शन हो जाये-ऐसा कभी नहीं होता। कोई आत्मा की बातें करे; परन्तु कुदेवादिक की श्रद्धा न छूटी हो तो वह मिथ्यात्व को पोषता है। कुदेवादि रूप निमित्त का परिवर्तन होकर सुदेवादि का निमित्त होना चाहिये। इसलिये सच्चे देव-शास्त्र-गुरु क्या कहते हैं, उसका पहले विचार करना चाहिये। फिर सात तत्त्व का विचार करना चाहिये, फिर स्व-पर का चिंतवन। इसप्रकार अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। जीव स्वयं सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो देवादिक की श्रद्धा को निमित्त कहा जाता है। ऐसे चार साधन अनुक्रम से करे तो मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्धदशा प्राप्त करता है। परन्तु यदि अनुक्रम का उल्लंघन करे और कुदेवादि को माने तो उसके तो अभी एक भी मान्यता का ठिकाना नहीं है।

कोई कहता है कि सुदेवादिक की श्रद्धा करने जाते हैं तो सम्प्रदाय और परिवार में हलचल होती है, उसके बदले स्व-पर का विचार करें अथवा मात्र तत्त्वों का विचार करें तो ? नहीं,यह अनुक्रम नहीं है। सत्य बात कहनेवाला कौन है, इसकी पहिचान बिना किसी भी मान्यता का ठिकाना नहीं है। त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी के अनुसार देव-शास्त्र-गुरु का क्या स्वरूप है-इसके परिज्ञान बिना सब व्यर्थ है।

प्रश्नः- अरहंतादिक तो पर हैं, उनको जानने से क्या काम है?

उत्तरः- वे पर हैं, यह सत्य है; परन्तु उनसे संबंधित ज्ञान तो अपना है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। सम्यग्ज्ञान में जैसा निमित्त होता है वैसा ज्ञान यथार्थ जानता है।

अरहंतादिक की पहिचान के बिना सच्चे तत्त्वों की पहिचान नहीं होती। अतः देव-गुरु-धर्म का विचार प्रथम होना चाहिये। इन देवादिक के अनुक्रम का उल्लंघन करनेवाले की एक भी बात सत्य नहीं है।

यहाँ मोक्षमार्ग के स्वरूप का वर्णन चल रहा है। उसमें सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों का वर्णन किया गया है। तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर श्रद्धान, आत्मश्रद्धान और अरहंतादि का श्रद्धान-ऐसे चार लक्षण कहे गये हैं। अब यहाँ लक्षणाभासों की बात चल रहीं है।

जिसको लक्षण का पता न हो ऐसे प्रथम भूमिकावाले मिथ्यादृष्टि जीव को क्या करना चाहिये? उसको सच्चे देव, सच्चे गुरु और रागरहित धर्म की पहिचान करना चाहिये।

अष्टपाहुड़ में कहा है कि धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष को देनेवाले देव हैं। जिनको दिव्यशक्ति विकसित हुई वे देव हैं। जिनको मानने से आत्मलाभ होता है, तथा साधक को अभी शुभराग वर्तता है, इसलिये पुण्य बंध होता है और उसके फल में विषय सामग्री मिलती है। इसप्रकार यहाँ निमित्त सापेक्ष कथन किया है।

बोधपाहुड़ गाथा-24 में देव का स्वरूप इसप्रकार कहा गया है-

''धर्मार्थ कामरु ज्ञान देवे देवजन उसको कहें।

जो हो वही दे नीति यह धर्मार्थ कारण प्रव्रज्या।।

(बोधपाहुड़ गाथा-24 का डॉ. हुकमचंद भारिल्ल कृत पद्यानुवाद)

देव उसको कहते हैं कि जो अर्थ माने धन, धर्म माने पुण्य, काम माने विषयभोग तथा मोक्ष के कारणरूप ज्ञान -ऐसे चार दे। ज्ञान दे अर्थात् ज्ञान में निमित्त हो, अज्ञानी ज्ञान में निमित्त नहीं होता। साधक को शुभराग अवशेष है, उतना पुण्य बंधता है और उसके फल में काम, भोग तथा अर्थ मिलते हैं।

ज्ञानी जानता है कि पुण्य से लक्ष्मी प्राप्त होती है, परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है। भगवान द्वारा कथित तत्त्व यह है कि मैं सर्वज्ञ शक्तिवान हूँ, मेरा स्वभाव सर्वज्ञ का गर्भ है और गर्भ फटकर सर्वज्ञता का जन्म होता है। जैसे पिता के कारण पुत्र होता है; इसीप्रकार आत्मा पिता है, उसमें ज्ञान-दर्शन-आनंदादि शक्तियाँ विद्यमान है, उसकी प्रतीति-ज्ञान और अनुभव करने पर ज्ञान और आनंद की प्रजा प्रगट होती है। आत्मा में अनंत चतुष्टय शक्ति विद्यमान है। उसकी व्यक्ति बाहर से अथवा राग में से नहीं आती। जीव ऐसा निर्णय करता है तो उस ज्ञान में सर्वज्ञ को निमित्त कहा जाता है।

साधक को सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि सुनने का राग आता है, उससे पुण्य बंधता है। इसलिये सर्वज्ञ पुण्य में भी निमित्त है और उसके फल के निमित्त से भोगादि मिलते हैं। ज्ञानी समझता है कि ये फल मेरे लिये नहीं है। इसप्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में भगवान निमित्त है, इसलिये वे इनके देनेवाले हैं -ऐसा कहा गया है।

देव कहते हैं कि तू अपने आत्मा का ज्ञान कर तो तू भी देव हो जायेगा। तू अपने आत्मा की प्रतीति कर, आनंदकंद का अनुभव कर तो तुझको आनंद प्रगट होगा। इसप्रकार कहनेवाले देव हैं। उनको पहिचानकर स्वसन्मुख झुके तो सम्यग्दर्शन होता है, वरना नहीं होता।

अब गुरु की बात करते हैं। मुनिराज अंतर में वीतरागता और सर्वज्ञता को प्रगट करने की अभिलाषावाले है, बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थ हैं -ऐसे गुरु को माने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता । पर की दया का भाव राग है और राग हिंसा है-ऐसा बतलानेवाले देव और गुरु सच्चे हैं।

अरागीदशा को अहिंसा धर्म कहते हैं। प्रथम ऐसे देव-गुरु-धर्म को पहिचानना चाहिये। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता के त्याग बिना कभी भी धर्म नहीं होता है।

कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानें और आत्मा का भान हो जाए -ऐसा कभी नहीं हो सकता। प्रथम निमित्त का पलटा (बदलाव) होना चाहिये। धर्मीजीव तो लज्जा अथवा भय के कारण भी कुदेव-कुगुरु को नमस्कार नहीं करता। श्रीमद्जी ने कहा है कि असद्गुरु और असत्शास्त्रों को आत्मघाती मानें बिना जीव को कभी स्वरूप का विचार नहीं होता । वे आत्मघात के प्रत्यक्ष निमित्त हैं -ऐसा मानें बिना ज्ञानी द्वारा कथित (तत्त्व का) विचार नहीं होता। ''ज्ञानी पुरुष के प्रगट आत्मस्वरूप को कहनेवाले वचन भी इस कारण से जीव को

स्वरूप विचार करने में बलवान नहीं होते।" कुदेव-कुगुरु को छोड़े बिना "उगे न आत्मविचार" अर्थात् आत्मा का विचार नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र है, इससे विरुद्ध कहनेवाले झूठे हैं।

इसलिये प्रथम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान होनी चाहिये। देखो, यहाँ लक्षणाभास की बात चलती है। पहले सच्चे देव-सच्चे संत और अहिंसा धर्म का पता होना चाहिये; पश्चात् तत्त्वों का विचार करे; फिर स्व-पर का विचार करे कि मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ, शरीरादि पर है; पश्चात् स्व का चिंतवन करे तो यह क्रम है। इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। विकल्पपूर्वक विचारणा होने से परम्परा कहा है। अब मोक्षमार्ग पाकर कोई जीव सिद्धदशा को पाता है अथवा कोई दो-तीन भव में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव अनुक्रम का उल्लंघन करता है तो उसको देवादि की मान्यता का ठिकाना नहीं है। अर्थात् जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है वैसा जीव आत्मज्ञान की बातें करे तो उसकी एक भी बात सत्य नहीं है।

आत्मा को पूर्णपद अथवा पूर्णज्ञान और आनंद चाहिये। वह पूर्णज्ञान और आनंद अपने पास है -अपने ध्रुवपद में विद्यमान है-ऐसी पहिचान करानेवाले देव हैं। इसकारण देव ने ज्ञान दिया ऐसा कहा जाता है। तथा गुरु कहते हैं कि हमारे प्रति होनेवाले राग से भी तुझको लाभ नहीं है, किन्तु तेरे आत्मा के अवलम्बन से लाभ है-गुरु का ऐसा उपदेश सुनकर स्वयं ज्ञान करे तो 'गुरु ने आत्मा दिया' -ऐसा कहा जाता है। अज्ञानी अपने स्वरूप का चोर है, वह अपने सर्वज्ञपद को भूल गया है। उससे यह कहनेवाले कि भाई! तेरा पद अंतर में है, यह जो अल्पज्ञता दिखती है उतना मात्र ही तू नहीं हूँ, वे सच्चे है, परन्तु निमित्त अथवा राग से सर्वज्ञ पद प्राप्त होना बतलानेवाले देव-गुरु सच्चे नहीं है।

इस अनुक्रम का उल्लंघन करनेवाले को देवादिक की मान्यता का कोई ठिकाना नहीं है। तथा कोई तीव्र क्षयोपशम के कारण तत्त्व अतत्त्व के विचार में प्रवर्तता है और अपने को ज्ञानी मानता है। कोई कहता है कि जब ज्ञान अपने से ही होता है, निमित्त से नहीं; तो फिर निमित्त की क्या आवश्यकता है? तो यह कहनेवाला भी भ्रान्ति में है। साधकदशा में वीतराग जिनप्रतिमा आदि निमित्त है, सम्यग्ज्ञानी गुरु निमित्त है। यद्यपि गुरु आरि पर से लाभ नहीं होता; परन्तु वे निमित्त है अवश्य। जो सत् निमित्तों को उड़ाता है वह भी भ्रान्ति में है।

कोई जीव ज्ञान के क्षयोपशम के कारण तत्त्व-अतत्त्व का विचार करता है, परन्तु उसमें भूल किये बिना नहीं रहता। कारण कि सच्चे देवादिक को मानें बिना सच्चे तत्त्वों की पहिचान नहीं होती। अथवा कोई समझे बिना ध्यान में बैठ जाये तो भी कुछ लाभ नहीं हैं। तथा कोई सात तत्त्वों में उपयोग नहीं लगाता, फिर भी अपने को स्व-पर का भेदज्ञान हुआ विचारता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के बिना स्व-पर के विचार अथवा आत्मा के विचार का ठिकाना नहीं होता। वह अपने को आत्मज्ञानी मानता है, परन्तु ये सब चतुराई की बातें हैं और अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ के पोषण का उपाय है। आत्मा के लिये हितकारक नहीं है।

इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहता है, उसको तो जबतब सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तबतक प्रथम देव-गुरु और धर्म को पहिचानना चाहिये, पश्चात सात तत्त्वों का विचार करना चाहिये, फिर स्व-पर का विचार और फिर आत्मा का विचार करना चाहिये। वही कहते हैं।

प्रथम तो आज्ञा से, शास्त्र से, पूर्व संस्कार से अथवा परीक्षा द्वारा कुदेवादि की मान्यता छोड़ना चाहिये। वीतरागदेव कहते हैं कि हमारी भक्ति से शुभराग होगा, परन्तु धर्म नहीं होगा-ऐसा सुनकर विचार करना चाहिये कि अन्य देव यह बात नहीं कहते। जो व्यवहार करते-करते, पर की दया पालते अथवा दान देते-देते धर्म होना मनाते हैं, उन्होने राग में धर्म मनवाया है, हिंसा में अहिंसा मनवायी है, वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं। यज्ञ में होम करने से हवा और विचार सुधरते हैं और धर्म होता है-ऐसा कहनेवाले राग में धर्म मनाते हैं। प्रथम ही ऐसे कुदेवादिक की श्रद्धा का त्याग करना चाहिये और सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करना चाहिये। यह श्रद्धा करने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है।

जो दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मने पर भी बाह्य स्वरूप से देव-गुरु-शास्त्र को नहीं पहिचानता वह भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र मोक्षमार्ग में विघ्नरूप है, अपनी भूल में निमित्त है। कुदेवादिक ने विपरीत नहीं मनवाया है, स्वयं ने विपरीत माना है, उसमें वे निमित्त हैं। सच्चे देवादिक की पहिचान होने पर कुदेवादिक का निमित्त दूर होता है और मोक्षमार्ग के सहायक अरहंत देवादिक का निमित्त मिलता है। यहाँ कुदेवादिक के प्रति द्वेष नहीं है, परन्तु स्वरूप तो जैसा है वैसा समझना चाहिये।

जीव अनादिप्रवाहरूप से भूल तो करता ही आया है और नये विपरीत परिणाम भी वह प्रतिसमय करता है । वह करता है तो विपरीत संस्कार को निमित्त कहते हैं। पूर्व पर्याय का अभाव होता है, संस्कार का अभाव होता है। तो अभाव क्या करेगा ? वर्तमान में नया उल्टा या सुल्टा पुरुषार्थ जीव स्वयं करता है, वह निमित्त के कारण नहीं है तथा पूर्व संस्कार के कारण भी नहीं है। इसप्रकार स्वतंत्र बात है।

प्रथम देवादि की पहिचान होना चाहिये। उन देवादि ने कहा कि तेरे में चैतन्यदेव पड़ा है, उसकी एकाग्रतारूपी सच्ची भक्ति से मोक्ष पद प्राप्त होगा। इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव के मत में कथित जीवादि सात तत्त्वों का विचार करना चाहिये। उनके नाम-लक्षणादि सीखना चाहिये। कारण कि इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् स्वयं अखण्ड ज्ञायक चिन्मात्र अनादि-अनंत है, चैतन्य स्वभाववान है-ऐसा विचारना और पर तरफ लक्ष्य जाता है वह राग है, शरीर,कर्म आदि जड़ है, इसप्रकार स्व-पर के विचार से भेदविज्ञान होता है। तत्पश्चात एक स्व में स्वपना मानने के लिये स्वरूप का विचार करना चाहिये।

यह आत्मा ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसका निर्णय किए बिना आत्मभान नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि आत्मा और परवस्तु का निर्णय करे तो स्व में स्वपना माने। इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

यहाँ मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन अंग की बात चलती है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व चारित्र नहीं होता। आत्मा के वास्तविक भान बिना ग्यारह अंग का ज्ञान भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने व्याख्यानसार में लिखा कि-

* आत्मा को स्वभाव में धारण करे वह धर्म है।
* आत्मा का स्वभाव धर्म है।
* जो स्वभाव में से परभाव में नहीं जाने देता वह धर्म है।
* परभाव द्वारा आत्मा को दुर्गति में जाना पड़ता है। जो आत्मा को दुर्गति में न जाने देकर स्वभाव में रखता है वह धर्म है।

* सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है, वहाँ बंध का अभाव है।
* सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयी को श्री तीर्थंकरदेव धर्म कहते हैं।
* परद्रव्य का श्रद्धान-ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है।
* जो संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर उत्तमसुख में धारण करता है वह धर्म है।
* आप्त अर्थात सब पदार्थों को जानकर उसके स्वरूप का सत्यार्थ प्रगट करनेवाला।
* आगम अर्थात आप्तकथित पदार्थ की शब्द द्वारा रचनारूप शास्त्र।
* आप्तप्ररूपित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला, आप्त प्रदर्शित मार्ग में चलता है वह सद्गुरु है।
* सम्यग्दर्शन अर्थात सत्य आप्त, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान।
* सम्यग्दर्शन तीन मूढ़ता से रहित, नि:शंक आदि आठ अंग सहित, आठ मद और छह अनायतन से रहित है।
* सात तत्त्व अथवा नव पदार्थ के श्रद्धान को शास्त्र में सम्यग्दर्शन कहा है। परन्तु दोष रहित शास्त्र के उपदेश के बिना सात तत्त्व का श्रद्धान किसतरह होगा? निर्दोष आप्त के बिना सत्यार्थ आगम किसतरह प्रगट होगा? इसलिये सम्यग्दर्शन क मूलकारण सत्यार्थ आप्त ही है।
* आप्त पुरुष क्षुधा, तृषादि अठारह दोषों से रहित होता है।
* धर्म का मूल आप्त भगवान है।
* आप्त भगवान निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशक है।

धर्म का मूल आप्त भगवान हैं। उनके निमित्त बिना यथार्थ-श्रवण (उपदेश) नहीं मिलता। सर्वज्ञ भगवान क्षुधा, तृषादि रहित हैं। उनकी वाणी द्वारा रचित शास्त्र यथार्थ हैं। गृहीत मिथ्यात्व के त्याग में आप्त पुरुष निमित्त है। इसलिये प्रथम उनका निर्णय करना चाहिये।

प्रथम देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, फिर सात तत्त्वों की श्रद्धा, स्व-पर की श्रद्धा और आत्मश्रद्धा यह अनुक्रम है। फिर किसी समय स्व-पर के विचार में या आत्म विचार में

उपयोग लगाना। प्रथम देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति होना चाहिये। इसप्रकार अनुक्रम से लक्षणाभासों को अंगीकार करते हैं। इसप्रकार अभ्यास करते-करते दर्शनमोह मंद होता जाता है।

यदि जीव ऊपर कहे अनुसार वास्तविक प्रयत्न करे और उल्टे-सीधे क्रियाकाण्ड में नहीं लगे तो सम्यग्दर्शन हो जाता है। 'कदाचित' शब्द यहाँ कहा गया है उसका कारण यह है कि कोई जीव बाह्य त्याग में रुक जाये, आत्मभान के बिना मुनिपना ले लेवे अथवा यात्रा, भक्ति, पर का कल्याण करने की प्रवृति आदि में रुक जाये, अर्थात् ऐसा विपरीत कारण बीच में आ जाये तो उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं भी होती।

अभी तो अनेक जीवों को उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता का भी पता नहीं हैं। मैं पर को निमित्त होता हूँ-ऐसा मानकर जीव भ्रान्ति का सेवन कर रहे हैं। अथवा मान कषाय के लिये अन्य कार्य करने में रुक जाते हैं; परन्तु अपने में अपना निर्णय करने के लिये प्रयत्न नहीं करते, अत: उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो वास्तविक रीति से पुरुषार्थ करता है उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती ही है। श्री प्रवचनसार गाथा-80 वीं में कहा है कि जो जीव अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर स्वसन्मुख झुकता है उसका मोह अवश्य नष्ट होता है। भगवान ने भी ऐसा ही उपदेश दिया है।

जिसका कारण पूरा होता है उसका कार्य पूरा होता है; परन्तु जिसका कार्य अधूरा रह जाता है उसके कारण में अधूरापन होता ही है।

चारित्र धर्म है, और उसका मूल सम्यग्दर्शन है 'दंसणमूलो धम्मो' (दर्शनपाहुड़ गाथा-2) जैसे मूल के बिना शाखा नहीं होती । इसीतरह सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता।

यहाँ परपदार्थ को मिलाने की बात नहीं है। पात्रजीव को सच्चे निमित्त मिले बिना नहीं रहते। तत्पश्चात सात तत्वों का विचार करे, स्व-पर का विचार करे और आत्मा का विचार करे तो बहुत जीवों को सम्यग्दर्शन होता है। मूल स्वभाव को पकड़ने का पुरुषार्थ नहीं करे तो चारों लक्षणाभास है। चार लक्षण अभी विकल्प द्वारा कहे हैं। लक्ष्य आत्मा को ज्ञान लक्षण से पकड़े तो सम्यग्दर्शन अवश्य होता है।

यदि जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तो इन चार को साधन अथवा निमित्त कहा जाता है। भगवान ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो उपाय कहा है उस कारण को मिलाने पर अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। अन्य कारण में रुक जाये तो नहीं होता। "आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे..." मात्र इस पद को रटने में अटक जाये परन्तु आत्मस्वरूप को नहीं जाने तो धर्म नहीं होता। इसलिये जिससे कार्य बने वही उपाय करना। स्वभाव के आश्रय बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेद और विकल्प में पड़े रहने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षण निर्देश किया।

....यहाँ प्रश्न है कि सम्यक्त्व के लक्षण तो अनेक प्रकार कहे, उनमें तुमने तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया सो कारण क्या?

समाधानः- तुच्छबुद्धियों को अन्य लक्षण में प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता व भ्रम उत्पन्न होता है। और इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रगट प्रयोजन भासित होता है, कुछ भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षण को मुख्य किया है वही बतलाते हैं:-

देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में तुच्छबुद्धियों का यह भासित हो कि अरहन्तदेवादिक को मानना, और को नहीं मानना, इतना ही सम्यक्त्व है। वहाँ जीव-अजीव का व बन्ध-मोक्ष के कारण-कार्य का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्गप्रयोजन की सिद्धि न हो; व जीवादिक का श्रद्धान हुए बिना इसी श्रद्धान में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्त्वी माने; एक कुदेवादिक से द्वेष तो रखे, अन्य रागादि छोड़ने का उद्यम न करे; -ऐसा भ्रम उत्पन्न हो।

तथा आपापर के श्रद्धान में तुच्छबुद्धियों को यह भासित हो कि आपापर का ही जानना कार्यकारी है, इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाँ आस्रवादिक का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो; व आस्रवादिक का श्रद्धान हुए बिना इतना ही जानने में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्त्वी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे;- ऐसा भ्रम उत्पन्न हो।

तथा आत्मश्रद्धान में तुच्छबुद्धियों को यह भासित हो कि आत्मा ही का विचार कार्यकारी है, इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाँ जीव-अजीवादिक का विशेष व आस्रवादिक का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन को सिद्धि न हो; व जीवादिक के विशेष व आस्रवादिक के स्वरूप का श्रद्धान हुए बिना इतने ही विचार से अपने को सम्यक्त्वी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे। -इसके भी ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

ऐसा जानकर इन लक्षणों को मुख्य नहीं किया।

तथा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में जीव-अजीवादिक का व आस्रवादिक का श्रद्धान होता है, वहाँ सर्व का स्वरूप भलीभाँति भासित होता है, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है। तथा यह श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्वी होता है, परन्तु यह सन्तुष्ट नहीं होता। आस्रवादिक का श्रद्धान होने से रागादि छोड़कर मोक्ष का उद्यम रखता है। इसके भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में तो देवादिक का श्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, वह तो तुच्छबुद्धियों को भी भासित होता है। तथा अन्य लक्षण में तत्त्वार्थश्रद्धान का गर्भितपना विशेष बुद्धिमान हों उन्हीं को भासित होता है, तुच्छबुद्धियों को नहीं भासित होता; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख किया है।

अथवा मिथ्यादृष्टि के आभासमात्र यह हों; वहाँ तत्त्वार्थों का विचार तो शीघ्रता से विपरीताभिनिवेश दूर करने को कारण होता है, अन्य लक्षण शीघ्र कारण न हों, व विपरीताभिनिवेश के भी कारण हो जायें।

इसलिये यहाँ सर्वप्रकार प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सो ही सम्यक्त्व का लक्षण है, ऐसा निर्देश किया। ऐसे लक्षण निर्देश का निरूपण किया।

ऐसा लक्षण जिस आत्मा के स्वभाव में पाया जाता है वही सम्यक्त्वी जानना।....

प्रश्न:- सम्यक्त्व के लक्षण तो अनेक प्रकार के कहे हैं। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, सात तत्त्वों की श्रद्धा, स्व-पर की श्रद्धा और आत्मश्रद्धा- इन चारो में आपने तत्त्वार्थश्रद्धान को ही मुख्य क्यों किया?

उत्तर:- तुच्छबुद्धिवान को अन्य लक्षणों में उसका प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता अथवा भ्रम उत्पन्न होता है। अभी बहुत उपदेशक आत्मा की बातें करते हैं, इसलिये अज्ञानी को स्वयं की योग्यता के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वेदान्त मतवाले एक ही आत्मा मानते हैं, उनकी यह मान्यता विपरीत है। जगत में अनंत आत्मायें हैं। प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है, स्वभाव अविकारी है; परन्तु पर्याय में विकार होता है- यह सब स्वीकार होना चाहिये। आत्मा जाति अपेक्षा से एक कहलाते हैं; परन्तु संख्या अपेक्षा एक नहीं हैं। जैनदर्शन का अन्य दर्शन के साथ कहीं मेल नहीं है।

अकेले आत्मा की बात करने से तुच्छ बुद्धिवान नहीं समझता है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, कर्म जड़ स्वरूप है, पर्याय में आस्रव परिणाम है, उनमें अटकनेरूप बंध है, संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्व है-इसप्रकार सात तत्त्वों को यथार्थ समझना चाहिये। तुच्छ बुद्धिवान को अकेले आत्मा कहने से भ्रम उत्पन्न होता है। स्व-पर भेदविज्ञान कहे; परन्तु आस्रव बंध हेय है और संवर, निर्जरा, मोक्ष, उपादेय है-यह जाने बिना मात्र स्व-पर भेदविज्ञान कहने से भी भ्रम उत्पन्न होता है।

तुच्छ बुद्धिवान को देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में भी प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता। अरहंत को निर्दोष, सर्वज्ञ और हितोपदेशक कहा है; अब उनमें क्षुधा, तृषादि दोष रहित के मात्र निर्दोष कहे तो पत्थरादि परमाणु को भी क्षुधा, तृषादि नहीं होने से वे भी निर्दोष हैं। इसलिये अकेला निर्दोष लक्षण योग्य नहीं है।

तथा अकेले सर्वज्ञ कहे तो सिद्ध भगवान भी सर्वज्ञ हैं; परन्तु सिद्ध वाणी रहित होते हैं, इसलिये हित में निमित्त नहीं होते। अत: अकेला सर्वज्ञ लक्षण भी योग्य नहीं है। अरहंत भगवान के वाणी है, जो जीवों के हित में निमित्त होती है- इसकारण उनको हितोपदेशकपना है। इसप्रकार अरहंत को निर्दोष, सर्वज्ञ और हितोपदेशक कहा वह यथार्थ है।

इसप्रकार देव-शास्त्र-गुरु को मानने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण के बिना मोक्षमार्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। कोई जीवादि का श्रद्धान हुए बिना मात्र इसी श्रद्धान में

संतुष्ट होकर अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है अथवा कुदेव आदि को हेय मानकर द्वेष करता है; परन्तु आस्रव-बंध हेय है और संवर-निर्जरा-मोक्ष उपादेय है ऐसा नहीं मानता। कुदेवादिक को हेय मानता है; परन्तु आस्रव-बंध को हेय नहीं मानता तो पुण्य-पाप को छोड़ने का प्रयत्न नहीं कर सकता। तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष को उपादेय मानें बिना उसरूप प्रवर्तन नहीं होता। इसलिये अकेले अरहंतादिक के श्रद्धान से तुच्छ बुद्धिवान को यथार्थता भासित नहीं होती। अरहंतादिक की श्रद्धा आदि तीन लक्षणों में सात तत्त्वों की श्रद्धा गर्भित है-यह तुच्छ बुद्धि को भासित नहीं होती; परन्तु तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में तीनों लक्षण प्रगट भासित होते हैं। इसलिये उसको मुख्य कहा है।

तथा स्व-पर श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। स्व में जीव, संवर,निर्जरा और मोक्ष आ जाते हैं और वे उपादेय हैं। पर में अजीव, आस्रव, बंध आते हैं और वे हेय हैं। इसप्रकार स्व-पर में गर्भितरूप से सात तत्त्व आ जाते हैं; परन्तु तुच्छ बुद्धिवाले को प्रगट भासित नहीं होते। वह आस्रव-बंध को हेय नहीं मानता , इसलिये स्वभाव सन्मुख नहीं झुकता; इसलिये संवर, निर्जरा प्रगट नहीं होते और मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

अथवा पुण्य-पाप की श्रद्धा हुए बिना मात्र स्व-पर को जानने में संतुष्ट होकर, अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी होता है और रागादि छोड़ने का प्रयत्न नहीं करता। इसप्रकार सात तत्त्वों को जाने बिना मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

पंचाध्यायीकार ने स्वानुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है, वह अविनाभावी संबंध से कहा है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की पर्याय है और अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है। सम्यक्श्रद्धा के समय सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिये अविनाभावी संबंध जानकर अनुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है; परन्तु वह व्यवहार लक्षण है। एक गुण के द्वारा दूसरे गुण को पहिचानना व्यवहार है।

समयसार में कहा है कि शुद्धनय कहो, अनुभूति कहो अथवा शुद्ध आत्मा कहो-सब एक ही है। शुद्धनय ज्ञान की पर्याय है और अनुभूति ज्ञान की पर्याय चारित्र सहित है तथा शुद्ध आत्मा वह शुद्ध आत्मा है। पर्याय आत्मा के साथ अभेद हुई, इसलिये उसको शुद्ध आत्मा कह दिया है।

मात्र स्व-पर की श्रद्धा में तुच्छ बुद्धिवान को प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। उसको भासता है कि स्व-पर की जानना ही कार्यकारी है और इसी से सम्यक्त्व होता है; परन्तु वहाँ आस्रवादि का स्वरूप भासित नहीं होने से मोक्षरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

'दु:ख मिटाकर सुख करना है'-इसमें भी सातों तत्त्व आ जाते हैं। दु:ख में आस्रव-बंध आ गये, वे हेय हैं और अजीव भी हेय में आ जाता है। और सुख में संवर-निर्जरा-मोक्ष आये और सुख का धारक जीव है। ये चार उपादेय है। इसप्रकार दु:ख का अभाव करके सुख प्रगट करने के प्रयोजन में सातों तत्त्व आ जाते हैं।

तत्वार्थश्रद्धान में प्रयोजन प्रगट भासित होता है और अन्य लक्षणों में भासित नहीं होता; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान को मुख्य कहा है।

आत्मा तीनों काल निवृत्त है। परद्रव्य के अभाव स्वभाववाला है। आत्मा निवृत्तस्वरूप है। एक तत्त्व में अनंत तत्वों का अभाव है। एक वस्तु की सिद्धि करने पर पर की भी सिद्धि हो जाती है। कोई स्व-पर की श्रद्धा मात्र करे; परन्तु अजीव, आस्रव, और बंध पर है और जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष स्व है- यह जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। आस्रव-बंध को हेय जाने बिना और संवर-निर्जरा को जीव के साथ अभेद-उपादेय जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसप्रकार अकेले स्व-पर की श्रद्धा में तुच्छ बुद्धिवान को भ्रम उत्पन्न होता है। और मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती; इसलिये उसको मुख्य लक्षण नहीं कहा है।

अब आत्मश्रद्धान को मुख्य क्यों नहीं कहा-इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि तुच्छ बुद्धिवान को उसमें प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता। आत्मा कहने पर अन्य अनात्मा है। अन्य अनंतजीव, पुद्गल,धर्म, अधर्म, आकाश और काल संबंधी ज्ञान आत्मज्ञान में आ जाता है; परन्तु तुच्छबुद्धिवान को वह प्रगट भासित नहीं होता।

कोई कहता है कि हम तो आत्मा की धुन में रहते है; परन्तु वस्तुत: वह भ्रान्ति में है। तथा कोई कहता है कि स्वाध्याय तप है और नमस्कार मंत्र जपना स्वाध्याय है; इसलिये नमस्कार मंत्र जपनेवाले को परम्परा नैगमनय से मोक्ष होता है। उससे कहते हैं कि स्वभाव के भान बिना जप कैसा? नय बिना नैगमनय कैसा? अज्ञानी कहता है कि नैगमनय से यह सब व्यवहार करते हैं; परन्तु स्वभाव को जाने बिना क्या काम का? नय श्रुतज्ञान में होते हैं और श्रुतज्ञान प्रमाण बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होता।

तुच्छ बुद्धिवान को अकेले आत्मश्रद्धान लक्षण में भ्रम उत्पन्न होता है। जीव के विशेष गति, जाति, बादरपना, सूक्ष्मपना, इत्यादि हैं; अजीव के विशेष कर्म की पर्याय, पुद्गल की पर्याय इत्यादि भेद हैं। इन विशेषों को नहीं जानता इसलिये भ्रमसहित प्रवर्तता है। माँस पुद्गल की पर्याय है और दाल-भात भी पुद्गल की पर्याय है; परन्तु पर्याय -पर्याय में अंतर है। इस प्रकार पुद्गल के विशेष जानना चाहिये। परद्रव्य के ग्रहण-त्याग की बात नहीं है; परन्तु सम्यक्त्वी को माँसादि भक्षण का भाव नहीं होता और अनाज ग्रहण का भाव होता है-ऐसा विवेक वर्तता है। इसप्रकार जीव -अजीव के विशेष नहीं जाने तो तुच्छ बुद्धिवान को अकेले आत्मा की श्रद्धा में भ्रम उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मश्रद्धा को मुख्य लक्षण नहीं कहा है।

सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण से पहिचाना जा सकता है। तत्त्वार्थश्रद्धान में तुच्छ बुद्धिवान को भी देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा आदि लक्षण भासित होते हैं; परन्तु देव-गुरु-धर्म तथा स्व-पर श्रद्धान में प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता। इसकारण इनको मुख्य लक्षण नहीं कहा है।

आत्मश्रद्धान को समकित कहने पर भी तुच्छ बुद्धिवान को ऐसा लगता है कि अपने को मात्र आत्मा का विचार करना है। परन्तु वह सात तत्त्वों को भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानता। जीव के गति, जाति, पंचेन्द्रियपना, पुरुषवेदादि भेदों को नहीं पहिचाने तो जीव की पहिचान नहीं होती। शरीर, दाल,भात आदि में परमाणु की जाति एक है; परन्तु प्रत्येक की पर्याय में भिन्नता है-इसप्रकार अजीव की भिन्नता को नहीं जानता। तथा देव-गुरु-धर्म का राग पुण्य-आस्रव है, वह भी छोड़ने योग्य है; संवर-निर्जरा-मोक्ष उपादेय है-ऐसी श्रद्धा नहीं करता। कोई जीव समयसार पढ़कर आत्मा की बातें करता है; परन्तु आत्मा की पर्याय भिन्न-भिन्न स्वीकार नहीं करता तो वह निश्चयाभासी है। जो-जो पर्याय होती है उसको जानना चाहिये। अजीव की पर्याय (भी) स्वतंत्र है। अध:कर्मी आहार जड़ की पर्याय है-वह पर है; परन्तु वैसा आहार लेने का राग मुनिराज को नहीं होता। इसप्रकार जीव-अजीव के विशेष नहीं जाने तो सम्यग्दर्शन नही होता। अजीव पर है -ज्ञेय है, पुण्य-पाप हेय है, आत्मा स्वज्ञेय है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न जाने बिना माने कि हमको आत्मा का ज्ञान हो गया है, तो वह भ्रम है। सातों तत्त्वों को यथार्थरूप से जानना चाहिये। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

शुभ उपयोग भी आदरणीय नहीं है। ऐसा पहले निर्णय करना चाहिये, तभी सच्ची श्रद्धा होती है। शुभोपयोग छूटता तो शुद्धोपयोग होने पर है; परन्तु उसके पूर्व शुभोपयोग छोड़ने योग्य है-ऐसी श्रद्धा करना चाहिये। जो शुभभाव को आदरणीय मानता है वह वीतरागी स्वभाव को अनादरणीय मानता है-वह ज्ञानस्वभाव की आशातना (निरादर) करता है।

प्रश्न:-शुभभाव करना तो पड़ता है न ?

उत्तर:-नहीं, शुभभाव उसके कालक्रम में आता है। उपदेश वचन आता है कि अशुभ से बचने के लिये शुभ परिणाम आता है; परन्तु अशुभभाव आने वाला था उसके बदले शुभभाव लाया; तो क्या क्रम बदल जाता होगा, नहीं, अशुभ या शुभ क्रमसर है। ज्ञान पूर्ण स्थिर न हो वहाँ तक शुभराग हेयबुद्धि से आता है। इसप्रकार तत्त्वों की श्रद्धा होना चाहिये।

आश्रव हेय है, संवर-निर्जरा हितरूप है, मोक्ष परमहित रूप है-यह श्रद्धा किये बिना जीव स्वच्छन्दी होगा। परद्रव्य से बंध नही है इसलिये किसी भी प्रसंग में रहे तो क्या बाधा है? तो कहते हैं कि परद्रव्य बंध का कारण नहीं है यह तो सत्य है; परन्तु पर की ओर का राग आस्रव है वह छोड़ने योग्य है; उसके बदले क्या बाधा है? ऐसा कहकर आस्रव को अंगीकार करनेवाला स्वच्छन्दी है। इसलिये सात तत्त्व की श्रद्धा के बिना तुच्छ बुद्धिवान को अकेले आत्मा की श्रद्धा में स्वच्छंदता होती है। इसीलिये आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण नहीं कहा है।

ऐसा भ्रम होता जानकर देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को, स्व-पर भेदविज्ञान के श्रद्धान को तथा आत्मश्रद्धान लक्षण को मुख्य नहीं किया है। तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है। इस लक्षण में जीव के सामान्य स्वभाव को, अजीव के सामान्य स्वभाव को तथा जीव-अजीव के विशेष स्वभाव को पहिचानकर; जीव सामान्य स्वरूप से शुद्ध है और विशेष में गति, जाति, बादरपना आदि विकार की योग्यता मेरे स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं-ऐसा जाने तो विशेष को जाना कहलाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान में ये (तीनों)लक्षण तुच्छ बुद्धिवान को भासित होते हैं, परन्तु अन्य लक्षणों में यद्यपि तत्त्वों की श्रद्धा गर्भित है; परन्तु तुच्छ बुद्धिवान समझ नहीं सकता, विशेष बुद्धिवान को ख्याल में आता है। इसीलिये तत्त्वार्थश्रद्धान रूप लक्षण को मुख्य किया है।

अब कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के तत्त्वों की श्रद्धा आभास मात्र होती है। नौवें ग्रैवेयक जानेवाला दिगम्बर मुनि अट्ठाईस मूलगूणों का पालन करता है, दया आदि पालता है; परन्तु स्वभाव सन्मुख होकर तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं करता- इसकारण उसकी श्रद्धा आभास में जाती हैं

वहाँ तत्त्वार्थ का विचार तो विपरीत अभिप्राय को दूर करने में शीघ्र कारणरूप होता है; परन्तु अन्य लक्षण शीघ्र कारणरूप नहीं होते अथवा विपरीत अभिनिवेश के कारण हो जाते हैं।

''धींगधणी माथे कियो रे, कौन गंजे नर खेद,

विमलजिन दीठा लोचण आज।।

हे नाथ अथवा गुरु! हमने मजबूत स्वामी धारण किया है, फिर हमें क्या बाधा है? ऐसा कहकर पुरुषार्थ नहीं करे तो कोई गुरु अथवा भगवान तिरा देते नहीं हैं। गुरु या भगवान का कहना समझे तो उनको निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी कहता है कि गुरु मोक्ष में जायेंगे तब मैं भी उनके साथ ही जाऊँगा; -परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। साक्षाता समवसरण में जाकर भी भगवान के कथन का आशय समझे तभी भगवान को निमित्त कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्व के भान बिना अकेली देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करे तो विपरीत अभिप्राय होता है। तथा कोई मानता है कि "बड़े की शरण लेने पर सेवक को क्या चिंता है?" ऐसा मानकर भ्रम का सेवन करता है। आत्मा की श्रद्धा के बिना देव-शास्त्र-गुरु पार कर देंगे-यह मान्यता भ्रम है।

कितने ही जीव सुधारस के नाम से स्वच्छंदता में चढ़ गये हैं। इसलिये अन्य लक्षण तुच्छ बुद्धिवान को विपरीत अभिनिवेश के कारण होते हैं अथवा सम्यग्दर्शन के शीघ्र कारणरूप नहीं होते। इसलिये यहाँ सर्वप्रकार से प्रसिद्ध जानकर विपरीत अभिप्राय से रहित जीवादि तत्त्वार्थ का श्रद्धानरूप सम्यक्त्व का लक्षण निर्देश किया है। नाम निर्देश और लक्षण निर्देश को भलीभांति सुन लेना-परन्तु उनकी परीक्षा स्वयं को करनी पड़ेगी, कोई अन्य करा नहीं देगा।

इसप्रकार जिस आत्मा के तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता है उसी को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

सम्यक्त्व के भेद और उनका स्वरूप

....अब, इस सम्यक्त्व के भेद बतलाते है:-

वहाँ प्रथम निश्चय-व्यवहार का भेद बतलाते हैं- विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप आत्मा का परिणाम वह तो निश्चयसम्यक्त्व है, क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है, सत्यार्थ ही नाम निश्चय है। तथा विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहारसम्यक्त्व है, क्योकि कारण में कार्य का उपचार किया है, सो उपचार ही का नाम व्यहार है।

वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के देव-गुरु-धर्मादिक का सच्चा श्रद्धान है, उसी निमित्त से इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव है। यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान सो तो निश्चयसम्यक्त्व है और देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान है सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

इसप्रकार एक ही काल में दोनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं।

तथा मिथ्यादृष्टि जीव के देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान आभासमात्र होता है। और इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव नही होता है; इसलिये यहाँ निश्चयसम्यक्त्व तो है नहीं और व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासमात्र है; क्योंकि इसके देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेश के अभाव को साक्षात् कारण नहीं हुआ। कारण हुए बिना उपचार सम्भव नही है; इसलिये साक्षात् कारण अपेक्षा व्यवहारसम्यक्त्व भी इसके सम्भव नहीं है।

अथवा इसके देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान नियमरूप होता है, सो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को परम्परा कारणभूत है। यद्यपि नियमरूप कारण नही है, तथापि मुख्यरूप से कारण है तथा कारण में कार्य का उपचार सम्भव है; इसलिये मुख्यरूप परम्परा कारण अपेक्षा मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है ।....

अब सम्यक्त्व के भेद दर्शाते हैं। यहाँ निश्चय और व्यवहार दो भेद बतलाते हैं।

विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, गुण नहीं। गुण त्रिकाल होता है। सिद्ध के आठ गुणों में सम्यक्त्व को गुण उपचार से कहा गया है। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहे उसको गुण कहते हैं। यदि सम्यक्त्व गुण होता तो सभी जीवों के सम्पूर्ण क्षेत्र और सभी दशाओं में रहना चाहिये। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन नहीं है; इसलिये सम्यग्दर्शन गुण नहीं; किन्तु पर्याय है। वह श्रद्धा गुण का विशेष कार्य है। मोक्ष भी पर्याय है और उसका कारण मोक्षमार्ग पर्याय है। गुण अनादि-अनंत है और सम्यक्त्व नया होता है। इसलिये वह पर्याय है। इसप्रकार विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है।

वास्तव में समकित तो एक ही प्रकार का है; परन्तु उपचार का भेद बताते हैं। सात तत्त्वों की श्रद्धा, विपरीत अभिनिवेशरूप आत्मपरिणाम निश्चय सम्यक्त्व है। सत्यार्थ का नाम निश्चय है। पुण्य-पापरूप आस्रव हेय है, बंध अहितकर है, संवर उपादेय है, निर्जरा हितकर है और मोक्ष परमहितकर है-इसप्रकार तत्त्वों का भान होना सम्यग्दर्शन है। आत्मा की श्रद्धा में सात आ जाते हैं। स्वभाव (आत्मस्वभाव) को संवर-निर्जरा-मोक्ष के साथ अभेद गिनकर जीव कहा है और अजीव-आस्रव-बंध को अत्यन्त गौण गिनकर व्यवहार कहकर वह जीव में नहीं है ऐसा कहा है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति से आत्मा में सातों आ जाते हैं। तथा स्व-पर के भेदविज्ञान में भी सातों आ जाते हैं। स्व में जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पर में अजीव, आस्रव, बंध आते हैं। इसप्रकार सातों आ जाते हैं। तथा अरहंतादिक की श्रद्धा में भी सात तत्त्व आ जाते हैं। अरहंत-सिद्ध मोक्ष तत्त्व में, गुरु संवर, निर्जरा तत्त्व में आ जाते हैं। इनसे विरुद्ध कहनेवाले आस्रव-बंध के धारक हैं। राग रहित दशा धर्म है-इत्यादि प्रकार से सातों तत्त्व आ जाते हैं।

यहाँ सत्यार्थ का नाम ही निश्चय है। तथा विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान का कारणभूत व्यवहार समकित है। व्यवहार समकित निमित्त है; कारण कि सच्चे निर्दोष देव, निर्ग्रन्थ गुरु और व्यवहार समकित है।

इसप्रकार निश्चय तत्वश्रद्धा प्रगट करे वहाँ सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धारूप व्यवहार होता है। जैसे जब जीव गति करता है, तब धर्मद्रव्य निमित्त होता है, अधर्म द्रव्य निमित्त नहीं

होता; इसीतरह निश्चय स्वभाव की गति हो अर्थात् सम्यग्दर्शनरूप धर्म का परिणमन करे तब सच्चे देवादिक, जो कि धर्म के कहनेवाले है, उनकी श्रद्धा का निमित्त होता है; परन्तु कुदेवादिक की श्रद्धा का निमित्त नहीं होता। अनेकांत को मिटाकर एकांत कहनेवाले तथा आस्रव और बंधरूप अधर्म के धारक कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त नहीं होता।

जो निमित्त से कार्य मानता है वह व्यवहाराभासी है और निश्चय प्रगट हो तब निमित्त नहीं होता ऐसा माननेवाला निश्चयाभासी है। जीव निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब सच्चा निमित्त होता है।

यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है और उपचार का नाम व्यवहार है।

निश्चय निश्चय रूप से है और व्यवहार रूप से नहीं, व्यवहार व्यवहाररूप से है और निश्चयरूप से नहीं। उपादान उपादानरूप से है और निमित्तरूप से नहीं और निमित्त निमित्तरूप से है, उपादानरूप से नहीं- ऐसा कहनेवाले सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और अनेकांत धर्म की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव को होती है। देव नहीं होने पर भी देवपना, गुरु नहीं होने पर भी गुरुपना और शास्त्र नहीं होने पर भी शास्त्रपना मनानेवाले खोटे निमित्त हैं, उनके निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। जहाँतक कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का उत्साह, भावना और अनुमोदना वर्तती है, वहाँतक अनंतानुबंधी कषाय है। वैसे मिथ्यादृष्टि को देव-शास्त्र-गुरु का उत्साह, प्रशंसा भावना नहीं आती। जैसे पतिव्रता स्त्री विषय भावना से परपुरुष के गुणगान नहीं करती; इसीप्रकार धर्मी जीव कुदेवादिक का गुणगान नहीं करता, वह तो सुदेवादिक को मानता है। इसलिये उनके निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है ऐसा कहा है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सुदेवादिक सम्यग्दर्शन करा देते हैं। यह कथन कुदेवादिक की श्रद्धा से प्रथकता करने के लिये किया गया है।

यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान तो निश्चय सम्यक्त्व है तथा देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इसप्रकार एक ही काल में उसके दोनों सम्यक्त्व होते हैं। पहले सच्चे देवादिक की श्रद्धा की और फिर उसके कारण निश्चय की श्रद्धा की और फिर उसके कारण निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ ऐसा नहीं है; परन्तु अभेद आत्मा को पकड़ने पर (श्रद्धा करने पर) सुदेवादिक की श्रद्धा के परिणाम वर्तते हैं- इसप्रकार दोनों एक साथ होते है। पहले

निमित्त और फिर नैमित्तिकदशा प्रगट हो ऐसा नहीं है। नैमित्तिकदशा-सम्यग्दर्शन प्रगट करे उससमय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का विकल्प होता है, कुदेवादि का विकल्प नहीं होता। निमित्त है इसलिये सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ऐसा नहीं है; स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे तब देवादि के राग को निमित्त कहा जाता है। और जो प्रगट नहीं करता तो उसके निमित्त नहीं कहलाता ।

प्रश्न:- हमे तो निमित्त का ज्ञान नहीं करना है?

उत्तर:-जिसको पर का ज्ञान नहीं करना है उसको आत्मा का ज्ञान नहीं करना है; कारण कि ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, उसका वह निषेध करता है। अर्थात् वह आत्मा का निषेध करता है। आत्मा की स्व-परप्रकाशक ज्ञान सामर्थ्य के कारण स्व को जानने पर राग तथा निमित्त को यथार्थ रूप से जान लेता है। उससमय ऐसा ही निमित्त और राग होता है।

पहले कहा जा चुका है कि इन लक्षणाभासों में इतना विशेष है कि पहले तो देवादि का श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वों का विचार होता है, फिर स्व-पर का चिंतन और फिर आत्मा का चिंतन-इसप्रकार यदि अनुक्रम से साधन करता है वह परंपरा सच्चे मोक्षमार्ग को प्राप्त करके, कोई जीव सिद्धपद को पाता है तथा इस अनुक्रम का उल्लंघन करनेवाले के देवादिक की मान्यता का भी ठिकाना नहीं है।

अभी तो लोग सत्य में असत्य को मिलाकर गड़बड़ करते हैं। जो सच्चे देवादि का उत्साह नहीं लाता, आदर नहीं करता, प्रशंसा नहीं करता, उसको देवादिक की श्रद्धा का, तत्त्वार्थश्रद्धान का, स्व-पर श्रद्धान का ठिकाना नहीं है।

इसलिए पूर्व में कहा है कि पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादिक की मान्यता छोड़कर अरहंत देवादिक का श्रद्धान करना; क्योंकि यह श्रद्धान होने पर गृहीत मिथ्यात्व का तो अभाव होता है, तथा मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले कुदेवादिक का निमित्त दूर होता है, मोक्षमार्ग का सहायक अरहंतदेवादिक का निमित्त मिलता है; इसलिये पहले देवादिक का श्रद्धान करना। फिर जिनमत में कहे जीवादिक तत्त्वों का विचार करना, नाम-लक्षणादि सीखना, क्योंकि इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को देव-गुरु-धर्म का सच्चा श्रद्धान है, इसलिये उनके निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ कहा जाता है; परन्तु कोई आग्रह करे कि निमित्त के कारण धर्म प्रगट हुआ है तो वह बात को नहीं समझा है; तथा धर्म प्रगट हुआ और सच्चा निमित्त नहीं था ऐसा माननेवाला भी बात को नहीं समझा है। विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान तो निश्चय सम्यक्त्व है और देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इसप्रकार दोनों समकित एक ही काल में होते हैं।

जहाँ तक निमित्त का पलटा (बदलाव) न हो वहाँ तक उपादान का पलटा नहीं होता और निमित्त का पलटा हुआ इसलिये उपादान पलट जाता है ऐसा भी नहीं है।

प्रश्नः- पुरुषार्थ एक का करना या दो का ?

उत्तरः- जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसी श्रद्धा हो तब सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा होती है। जैसे अंतर में मुनिदशा प्रगट करे तब बाहर में नग्नदशा न हो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है; और बाह्य में नग्नदशा होती है इसलिये मुनि की भावलिंग दशा प्रगटती है ऐसा भी नहीं है। जैसे भावलिंग प्रगट करे तब नग्नदशा होती है; इसीप्रकार निश्चय समकित प्रगट करे तब व्यवहार समकित होता है-दोनों एक ही काल में है।

यहाँ तो लक्षणाभास का क्रम समझाना था; परन्तु समकित प्रगट करे तब देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को निमित्त कहते हैं। आत्मा की प्रतीति के बिना देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा सहायक (निमित्त) नहीं कहलाती।

जीव स्वभाव को पकड़ता है तब तो देवादि के श्रद्धान आदि चारों लक्षणों के क्रम को निमित्त कहते हैं। प्रथम देवादि के श्रद्धानरूप लक्षण कहा है; परन्तु उससे निश्चय समकित होता है-ऐसा नहीं है; इसमें तो प्रथम किसके पास सुनना यह कहा है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र सात तत्त्वों के कहनेवाले हैं, उनके पास से तत्त्वो की बात सुननी चाहिये। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को सुननेवाले में स्वभाव सन्मुख होने की योग्यता नहीं है। जिसको निमित्त का विवेक नहीं है, उसको राग रहित स्वभाव का विवेक नहीं हो सकता।

अब मिथ्यादृष्टि की बात करते हैं। उसको आत्मा की प्रतीति सच्ची नहीं है और विपरीत अभिनिवेश का अभाव नहीं है, उसको देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा आभासमात्र है। इसलिये उसके निश्चय अथवा व्यवहार दोनों मिथ्या है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि अरहंत देवादि का श्रद्धान होने पर तो सम्यक्त्व हो अथवा न हो; परन्तु अरहंतादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्व कभी नहीं होता। इसलिये अरहंतादिक के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है और इसलिये ही इसका नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। तथा 'सम्यक्त्व में देवादिक के श्रद्धान का नियम है।' ऐसा पहले कहा जा चुका है।

जीव तत्त्वार्थ श्रद्धा करे तो सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा को निमित्त कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव को सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिये उसके उपचार लागू नहीं होता। विपरीत अभिनिवेश के परिणाम छोड़ने पर ही निमित्त कहलाता है। सच्चा निमित्त न हो और सम्यग्दर्शन हो जाये-ऐसा भी नहीं होता। राग से धर्म मानना विपरीत अभिनिवेश है और कुदेवादिक को माने तो तीव्र विपरीत अभिनिवेश है। निमित्त पर है और राग हेय है तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय है- इसप्रकार हेय-उपादेयपना समझकर सच्ची श्रद्धा करे तो व्यवहार सम्यक्त्व को निमित्त कहते हैं। जिसको सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है उसको सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

यहाँ मिथ्या देव-गुरु-धर्म को मानने की बात नहीं ली है। जिसको सनातन वीतराग धर्म में कथित देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा वर्तती है; परन्तु विपरीत अभिनिवेश का अभाव नहीं है, इसलिये देवादिक की श्रद्धा को निमित्त नहीं कहते। अत: नियमरूप साक्षात कारण की अपेक्षा से उसको व्यवहार समकित संभवित नहीं हैं। वर्तमान में सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो साक्षात कारण कहलाता है।

अथवा किसी मिथ्यादृष्टि जीव को देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा नियमरूप होती है और वह विपरीत अभिनिवेश दूर करनेवाला है और यदि दूर करे तो उसको परम्परा कारणभूत है। सच्चे देवादिक कहते हैं कि अपने स्वभाव का आश्रय कर। इसप्रकार समझकर स्वयं स्वभाव का आश्रय करे तो वह परम्परा कारण कहलाता है। देव-गुरु कथित बात लक्ष में आवे तो वे निमित्तरूप कारण कहलाते हैं और यदि लक्ष में नहीं आवे तो नियमरूप कारण तो नहीं; परन्तु मुख्यरूप कारण है। व्यवहार से हटकर निश्चय में आयेगा -ऐसा समझकर कारण में कार्य का उपचार संभवता है। इसलिये मुख्यरूप परम्परा कारण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार समकित कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के विपरीत अभिनिवेश का अभाव नहीं है। वह व्यवहार से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करता है, उसको परम्परा कारण कहा जाता है। जब वह स्वभाव के लक्ष्य से विपरीत अभिनिवेश का अभाव करता है तब वे सच्चे निमित्त और व्यवहार कारण कहलाते हैं; परन्तु वे नियमरूप उपचार कारण नहीं है।

यहाँ कहा है कि सच्चे देव-गुरु की प्रतीति हुई हो और जो विपरीत अभिनिवेश टालनेवाला हो उसके लिये परम्परा कारण कहते हैं। जिसके निमित्त खोटे हैं उसके गृहीत मिथ्यात्व है। सच्चे देवादिक को मानने का राग पुण्य तत्त्व है और मिथ्यादेवादि को मानना गृहीत मिथ्यात्वरूपी पाप है तथा सच्चे देवादि को मानने पर भी निश्चय सम्यक्त्व प्रगट नहीं करनेवाले के अगृहीत मिथ्यात्वरूपी पाप तत्त्व है। सच्ची श्रद्धा होने पर भी शुभराग के परिणाम होते हैं वे निश्चय से पाप है; परन्तु व्यवहार से पुण्य है।

कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर करनेवाला अगृहीत मिथ्यादृष्टि होने के उपरांत गृहीत मिथ्यात्व की पुष्टि करता है, उसके निश्चय-व्यवहार दोनों मिथ्या हैं।

....यहाँ प्रश्न है कि कितने ही शास्त्रो में देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को व केवल आत्मा के श्रद्धान को निश्चयसम्यक्त्व कहा है सो किस प्रकार है?

समाधानः- देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में तो प्रवृति की मुख्यता है; जो प्रवृत्ति में अरहन्तादिक को देवादिक माने और को न माने, उसे देवादिक का श्रद्धानी कहा जाता है। और तत्त्वश्रद्धान में उनके विचार की मुख्यता है; जो ज्ञान में जीवादिक तत्त्वों का विचार करे, उसे तत्त्वश्रद्धानी कहते हैं। इसप्रकार मुख्यता पायी जाती है। सो यह दोनो किसी जीव को सम्यक्त्व के कारण तो होते है, परन्तु इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टि के भी सम्भव है; इसलिये इनको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

तथा आपापर के श्रद्धान में व आत्मश्रद्धान में विपरीताभिनिवेशरहितपने की मुख्यता है। जो आपापर का भेदविज्ञान करे व अपने आत्मा का अनुभव करे उसके मुख्यरूप से विपरीताभिनिवेश नहीं होता है; इसलिये भेदविज्ञानी को व आत्मज्ञानी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं । इसप्रकार मुख्यता से आपापर का श्रद्धान व आत्म श्रद्धान सम्यग्दृष्टि के ही पाया जाता है; इसलिये इनको निश्चयसम्यक्त्व कहा ।

ऐसा कथन मुख्यताकी अपेक्षा है। तारतम्यरूप से यह चारों आभासमात्र-मिथ्यादृष्टि के होते है, सच्चे-सम्यग्दृष्टि के होते है। वहाँ आभासमात्र हैं -वे तो नियम बिना परम्परा कारण है और सच्चे हैं- सो नियमरूप साक्षात् कारण हैं; इसलिये इनको व्यवहाररूप कहते हैं। इनके निमित्त से जो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान हुआ सो निश्चयसम्यक्त्व है-ऐसा जानना।....

प्रश्नः- किन्ही शास्त्रों में सच्चे देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को अथवा तत्त्वश्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है तथा स्व-पर के श्रद्धान को व केवल आत्मश्रद्धान को सच्चा समकित कहा है-इसका क्या कारण है?

उत्तरः- सच्चे देव अरहंत और सिद्ध हैं, जिनको तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है और बाह्य में निर्ग्रन्थदशा है वे साधु हैं। साधुपद स्त्री को नहीं हो सकता। स्त्री पाँचवें गुणस्थान से आगे नहीं जा सकती। मल्लिनाथ भगवान पुरुष थे, स्त्री नहीं थे। अज्ञानियों ने सम्प्रदाय चलाने के लिये कल्पित बातें की है। यहाँ तो सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धावाले की बात है, उसमे प्रवृति की मुख्यता है। अर्थात् उसमें शुभराग की प्रवृति है। विपरीत अभिनिवेश के टालने की मुख्यता नही है; किन्तु प्रवृति की मुख्यता है। जो सच्चे देवादिक को मानता है, कुदेवादिक को नहीं मानता उसको देवादिक का श्रद्धानी कहते हैं। जीव निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त करे तो अरहंतादिक की श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। जिसको विपरीत अभिनिवेश का अभाव होता है उसको सच्चे देवादिक की श्रद्धा होती ही है। सच्चे देवादि की श्रद्धा राग है-वह पुण्य है। उसके कारण समकित नहीं होता, स्वभाव के आश्रय से समकित होता है। सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान करने से सम्यक्त्व होता है और उससमय उसको सच्चे देवादि की श्रद्धा होती है।

तथा सर्वज्ञ की प्रतिमा वीतरागी होती है, उसके श्रृंगारादि नहीं होते। सर्वज्ञ की प्रतिमा पर गहने, वस्त्र आदि कुछ भी नहीं होते-ऐसे सच्चे देव की प्रतिमा को (धर्मी-श्रद्धावान जीव) वंदन करता है। देव की प्रतिमा ज्ञेय है। सच्चे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ भासित होते हैं। श्रृंगारयुक्त प्रतिमा सरागी होने से वह जिन प्रतिमा नहीं है।

जिन प्रतिमा जिन सारखी, भाखी आगम मॉंही।।

ऐसी जिन प्रतिमा होनी चाहिये । उस पर वस्त्र या अंगी लगी हो तो वह प्रतिमा वंदनयोग्य नहीं हैं; मात्र वीतरागी प्रतिमा वंदन योग्य है। ऐसे व्यवहार का भी अभाव करके निश्चय को पकड़ने पर देवादिक की श्रद्धा को व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्नः- जब सच्चे देवादि का राग भी छोड़ने योग्य है तो फिर उसका क्या काम है?

उत्तरः- खाने के बाद हाथ धोना है उसके बदले खाने के पूर्व ही हाथ धो डाले तो वह भूखा रहता है -इसके जैसी ही यह बात है। अभी जो कुदेवादि की श्रद्धा को हेय नहीं समझता वह निश्चय को क्या समझेगा? सच्चे देवादि की श्रद्धा निश्चय से हेय होने पर भी व्यवहार से उपादेय है; क्योंकि उसमें अशुभराग टलकर शुभराग होता है; परन्तु श्रद्धा में तो पहले से ही शुभराग छोड़ने योग्य है-ऐसा माने तो श्रद्धा सच्ची होती है। मुनियों को भी शुभराग आता है; परन्तु वे उसको हेय समझते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य आचार्य जयसेन ने प्रतिष्ठापाठ बनाया है। उसमें वे लिखते हैं कि ऐसी प्रतिमा लाना, ऐसा पत्थर लाना, कारीगर को इस तरह पैसा देना -इत्यादि सब लिखा है। वहाँ अस्थिरता का शुभराग आया है, परन्तु दृष्टि में राग को हेय समझते हैं। जो वीतराग हो जाता है, उसको राग नहीं आता। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज को भी प्रतिष्ठा के समय ऐसा शुभराग आता है; परन्तु वे उसको हेय समझते हैं। इसप्रकार दोनों बातें जैसी है वैसी यथार्थ समझना चाहिये। साधकजीव को शुभराग आये बिना नहीं रहता। बाहर में जड़ की क्रिया होती है इसलिये शुभराग आता है-ऐसा नहीं है, परन्तु स्वयं के कारण शुभराग आता है; तथापि वह धर्म नहीं है।

प्रतिष्ठा में मुनिराज प्रतिष्ठा करानेवाले से कहते हैं कि तुम लक्ष्मी का सदुपयोग करते हो, जिंदगी में ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। इसप्रकार व्यवहार से कहने पर भी मुनिराज समझते हैं कि व्यवहार हेय है, वह धर्म नहीं है; तो भी निचली भूमिका में शुभराग आये बिना नहीं रहता है।

अब तत्त्वार्थश्रद्धान को सिवाय मोक्षशास्त्र ग्रंथ के अन्य शास्त्रों में व्यवहार समकित कहा है, वहाँ विपरीत अभिप्राय टालने की मुख्यता नहीं है; परन्तु उनके विचार की मुख्यता है। ज्ञान में सात तत्त्वों के विचार से शुभराग होता है। मैं ज्ञानस्वरूपी जीव हूँ, शरीरादि अजीव है, व्यवहार समकित विकार आस्रव है- इसप्रकार विचार करते हैं; इसलिये ज्ञान की मुख्यता से

उसको व्यवहार कहते हैं। उन तत्त्वों का विचार करता है इसलिये तत्त्व श्रद्धानी कहते हैं। इसप्रकार वहाँ मुख्यता होती है। ये दोनों किसी जीव के तो सम्यक्त्व के कारण होते हैं। उनका सद्भाव मिथ्यादृष्टि के संभवित है-इसकारण इसको व्यवहार समकित कहा है। यदि निश्चयदशा प्रगट करे तो सच्चे देवादि की श्रद्धा के राग को तथा सात तत्त्वों के विचार को कारण कहते हैं। यदि अंतर में निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे तो वे कारण नहीं कहलाते। सच्चे-देवादिक के लिये सिर दे देने पर भी अंतर ज्ञायक स्वभाव को नहीं पकड़े तो उन्हें निमित्तकारण नहीं कहा जाता। श्री समयसार के बंध अधिकार में कहा है कि अभव्य के नव तत्त्वों की श्रद्धा होती है; परन्तु विपरीत अभिनिवेश का अभाव नहीं होने से उसकी नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार नहीं कहा जाता; परन्तु किसी जीव को उसके निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगटता है, उन जीवों को नव तत्त्व की श्रद्धा होती है इसलिये व्यवहार कहते हैं।

" तथा स्व-पर के श्रद्धान में व आत्म श्रद्धान में विपरीत अभिनिवेश रहितपने की मुख्यता है।" संवर, निर्जरा, मोक्ष और जीव स्व में तथा अजीव, आस्रव, बंध तत्त्व पर में आते हैं। ऐसा स्व-पर भेदविज्ञान है और जीव, संवर, निर्जरा मोक्ष चारों स्व में आत्मा है और अजीव, आस्रव बंध को अत्यन्त गौण करके, व्यवहार कहकर अभाव कहकर अकेले आत्मा की श्रद्धा कहा है। इन दोनों में मुख्यरूप से विपरीत अभिनिवेश नहीं होता। इसलिये भेदविज्ञानी को तथा आत्मज्ञानी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। चारों लक्षण मिथ्यादृष्टि के भी होते है इसलिये यहाँ 'मुख्य रूप' से शब्द का प्रयोग किया है। इसप्रकार मुख्यरूप से स्व-पर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दृष्टि के ही होता है, इसीलिये इनको निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

यह कथन मुख्यता की अपेक्षा से है; परन्तु तारतम्यरूप से ये चार लक्षण मिथ्यादृष्टि के आभासमात्र है, उसको अंतर में विपरीत अभिनिवेश का अभाव नहीं होने से बाह्य में देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, नवतत्त्वों की श्रद्धा, स्व-पर श्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान आभासमात्र होता है।

सम्यग्दृष्टि के चारों लक्षण सच्चे होते हैं, मिथ्यादृष्टि के चारों लक्षण आभासमात्र है; परन्तु नियम रहितपने सम्यक्त्व के परम्परा कारण है-नियम नही हैं। व्यवहार से व्यवहार सच्चा है; परन्तु वह निश्चय से सच्चा नहीं है। चार के भेद का विकल्प उत्पन्न होना और राग की मंदता से ज्ञान का उघाड़ होना समकित का कारण नहीं है; परन्तु स्वभाव की श्रद्धा करे

तो ज्ञान के उघाड़ को तथा राग को कारण कहते हैं। 'ज्ञान ही आत्मा' -ऐसा निश्चय करना यह एक ही कारण है।

अभव्य को निश्चय सहित व्यवहार नहीं है-इसकारण उसके व्यवहार नहीं कहलाता। वह व्यवहाराभास है। जबतक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता तबतक व्यवहार नहीं कहलाता। परमात्मप्रकाश में कहा है कि अभव्य के देवादिक की सच्ची श्रद्धा होने पर भी उसको व्यवहाररत्नत्रय नहीं कहलाता। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान भव्य जीव के ही होता है, अभव्य के सर्वथा नहीं; क्योंकि अभव्य जीव मुक्ति का पात्र नहीं है। जो मुक्ति का पात्र होता है उसी के व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

निश्चय के अभिप्राय बिना व्यवहार समकित नहीं कहलाता, वह आभासमात्र है; वे लक्षण नियमरहित रूप से सम्यक्त्व के परम्परा कारण हैं। तथा सच्चे हैं वे नियमरूप साक्षात कारण है; इसलिए उन्हे व्यवहाररूप कहते हैं। उनके निमित्त से विपरीत अभिप्राय मिटकर सत्य श्रद्धान होना निश्चय सम्यक्त्व है और देवादि कीश्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मा शुद्ध चिदानंद स्वरूप है-ऐसा भान होना निश्चय सम्यक्त्व है और देव-गुरु-धर्म की विकल्परूप श्रद्धा व्यवहार समकित है। सम्यग्दर्शन के बिना सामायिकादि नहीं होते तथा उसके बिना पंचमादि गुणस्थान भी नहीं प्रगट होते।

....फिर प्रश्नः- कितने ही शास्त्रो में लिखा है कि आत्मा है वही निश्चयसम्यक्त्व है और सर्व व्यवहार है सो इसप्रकार है?

समाधानः- विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान हुआ सो आत्मा ही का स्वरूप है, वहाँ अभेदबुद्धि से आत्मा और सम्यक्त्व में भिन्नता नहीं है; इसलिये निश्चय से आत्मा ही को सम्यक्त्व कहा। अन्य-सर्व सम्यक्त्व को निमित्तमात्र हैं व भेद-कल्पना करने पर आत्मा और सम्यक्त्व के भिन्नता कही जाती है; इसलिये अन्य सर्व व्यवहार कहे हैं- ऐसा जानना।

इसप्रकार निश्चयसम्यक्त्व और व्यवहारसम्यक्त्व से सम्यक्त्व के दो भेद हैं।....

प्रश्नः- किसी शास्त्र में लिखा है कि आत्मा है वही निश्चय सम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है, वह किस प्रकार है? तुमने तो आत्मा की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है।

उत्तर:- देहादिक की क्रिया होती है उसकी आत्मा नहीं करता। दया, दान का राग पुण्य है, विकल्प है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ -ऐसी निर्विकल्प प्रतीति होना विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धा है। आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता नहीं है, ज्ञान में रागादि ज्ञात होते हैं। अज्ञानी भी देहादिक की क्रिया को नहीं करता है, परन्तु वह उसका स्वामी होता है और ज्ञानी देहादि की क्रिया का तथा राग की क्रिया का स्वामी नहीं होता। मै निराकुल आनंदस्वरूप हूँ- ऐसी निर्विकल्प प्रतीति हुई उसको अभेद गिनकर आत्मा का स्वरूप कहा है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव आनंदकंद है और समकित श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय है। उस सम्यग्दर्शन पर्याय को आत्मा के साथ अभेद गिनकर उसी को आत्मा का स्वरुप कहा है। सम्यग्दर्शन पर्याय को प्रथक लक्ष्य में लेने से भेद पड़ता है वह व्यवहार में जाता है।

अनंतानुबंधी का मूल दोष जाने पर जो तीन कषाय चौकड़ी शेष रहती है वह चारित्र का दोष है। यहाँ सम्यग्दर्शन पर्याय को अभेद गिनकर आत्मा को सम्यग्दर्शन कहा है। पहले श्रद्धा की वीतरागी पर्याय को निश्चय समकित कहा था और देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को व्यवहार समकित कहा था। अब यहाँ आत्मा को निश्चय समकित कहने का स्पष्टीकरण चल रहा है। पहले पर्याय की बात की थी। धर्मी को निरंतर शुद्ध चिदानंद आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति वर्तती है, उसको वीतरागी समकित कहते हैं और उत्पन्न होनेवाले राग को व्यवहार समकित कहते हैं। यहाँ आत्मा को निश्चय सम्यक्त्व कहने का कारण क्या है? सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य की प्रतीतिरूप अविकारी पर्याय है। वह अंतर आत्मा के अवलम्बन से हुई है; परन्तु उस पर्याय को आत्मा के साथ अभेद गिनकर आत्मा को निश्चय समकित कहा है।

द्रव्य, वह सामान्य अंश है और समकित पर्याय विशेष अंश है; परन्तु अभेद दृष्टि से ऐसे भेद नहीं पड़ते। इसलिये इस अपेक्षा से आत्मा को समकित कहा है। ऐसा निश्चय समकित प्रगट करनेवाले के देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा अथवा नव तत्त्वों की श्रद्धा होती है। उसको व्यवहार कहते हैं। यह ज्ञान स्वभावी आत्मा है और यह निर्मल पर्याय समकित है-ऐसा द्रव्य और पर्याय का भेद करना वह राग है, वह व्यवहार समकित है।

आत्मा बाहर की (परद्रव्य की) क्रिया नहीं कर सकता, इसलिये वह तो व्यवहार भी नहीं है और राग भी कालक्रम से आता है, उसकी भी बात नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा

शुद्ध चिदानंद है, उसमें यह निर्मल सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई- ऐसा द्रव्य और निर्मल प्रतीति की पर्याय के बीच भेद करना व्यवहार है। यह सब पहलू ख्याल में लेना चाहिये।

जिसको देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का ठिकाना नहीं उसको व्यवहार कैसा? यहाँ तो उससे भी बहुत आगे की बात है।

मोक्षमार्ग और केवलज्ञान पर्याय को द्रव्य से अलग पकड़कर (करके) विचार करने को भी व्यवहार कहते हैं। बाहर के व्यवहार की बात तो बहुत दूर रही। अद्वैत में द्वैतपने का विकल्प उत्पन्न होना व्यवहार है। आत्मा एक समय में परिपूर्ण है-ऐसी प्रतीति वह अभेद की प्रतीति है तथा द्रव्य और पर्याय का भेद डालकर जानना व्यवहार है।

इसप्रकार सम्यक्त्व के निश्चय और व्यवहार दो भेद किये।

....तथा अन्य निमित्तादि अपेक्षा आज्ञासम्यक्त्वादि सम्यक्त्व के दस भेद किये हैं। वह आत्मानुशासन में कहा है:-

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च।।11।।

अर्थ:- जिनआज्ञा से तत्त्वश्रद्धान हुआ हो सो आज्ञासम्यक्त्व है।

यहाँ इतना जानना- 'मुझको जिनआज्ञा प्रमाण है', इतना ही श्रद्धान सम्यक्त्व नहीं है। आज्ञा मानना तो कारणभूत है। इसी से यहाँ आज्ञा से उत्पन्न कहा है। इसलिये पहले जिनआज्ञा मानने से पश्चात् जो तत्त्वश्रद्धान हुआ सो आज्ञासम्यक्त्व है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थमार्ग के अवलोकन से तत्त्वश्रद्धान हो सो मार्गसम्यक्त्व है।'....

विशेष:-मार्ग सम्यक्त्व के बाद यहाँ पण्डितजी की हस्तलिखित प्रति में छह सम्यक्त्व का वर्णन करने के लिये तीन पंक्तियों का स्थान छोड़ा गया है, किन्तु वे लिख नहीं पाये। यह वर्णन अन्य ग्रन्थों के अनुसार दिया जाता है:-

तथा उत्कृष्ट पुरुष तीर्थंकरादिक उनके पुराणों के उपदेश से उत्पन्न जो सम्यग्ज्ञान उससे उत्पन्न आगम समुद्र में प्रवीण पुरुषों के उपदेशादि से हुई जो उपदेशदृष्टि जो उपदेशसम्यक्त्व है। मुनि के आचरण के विधान को प्रतिपादन

करनेवाला जो आचारसूत्र, उसे सुनकर जो श्रद्धान करना हो उसे भले प्रकार सूत्रदृष्टि कही है, यह सूत्रसम्यक्त्व है। तथा बीज जो गणितज्ञान को कारण उनके द्वारा दर्शनमोह के अनुपम उपशम के बल से, दुष्कर है जानने की गति जिसकी ऐसा पदार्थों का समूह, उसकी हुई है उपलब्धि अर्थात् श्रद्धानरूप परिणति जिसके, ऐसा जो करणानुयोग का ज्ञानी भव्य, उसके बीजदृष्टि होती है, यह बीजसम्यक्त्व जानना। **तथा पदार्थों को संक्षेपपने से जानकर जो श्रद्धान हुआ सो भली संक्षेपदृष्टि है, यह संक्षेपसम्यक्त्व जानना। द्वादशांगवाणी को सुनकर की गई जो रुचि-श्रद्धान उसे हे भव्य, तू विस्तारदृष्टि जान, यह विस्तारसम्यक्त्व है। तथा जैनशास्त्र के वचन के सिवा किसी अर्थ के निमित्त से हुई सो अर्थदृष्टि है, यह अर्थसम्यक्त्व जानना।**

इसप्रकार आठ भेद तो कारण अपेक्षा किये। तथा श्रुतकेवली के जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं। केवलज्ञानी के जो तत्त्वश्रद्धान है उसको परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। -ऐसे दो भेद ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा किये।

इसप्रकार सम्यक्त्व के दस भेद किये।

वहाँ सर्वत्र सम्यक्त्व का स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान ही जानना।....

तथा अन्य निमित्तादि की अपेक्षा आज्ञा सम्यक्त्वादि दस भेद भी कहे हैं। श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में सम्यक्त्व के दस भेद कहे हैं-

"आज्ञा, मार्ग, सूत्र, उपदेश और संक्षेप, बीज-उत्पन्न।।

अर्थज विस्तारज अवगाढ़, परम-आवगाढ़ कहा सम्यक्त्व"।।11।।

(पण्डित अभयकुमार शास्त्री कृत पद्यानुवाद)

1. आज्ञा सम्यक्त्व:- वीतराग सर्वज्ञदेव को आज्ञा से आत्मा का निर्णय करना आज्ञा सम्यक्त्व है। निश्चय सम्यग्दर्शन के पूर्व आज्ञा का विकल्प था। यहाँ इतना जानना कि "मेरे जिन आज्ञा प्रमाण है" इतना ही श्रद्धान कहीं सम्यक्त्व नहीं है। भगवान की आज्ञा मानना राग है, सम्यक्त्व नहीं ।

जिनआज्ञा का लक्ष्य भी छूटना चाहिये और स्वरूप में स्थिरता होनी चाहिये। वीतराग

की आज्ञा का लक्ष्य छूटना धर्म है। आज्ञा की ओर लक्ष्य रहना समकित नहीं है, वह तो पुण्य है –विकल्प है। आज्ञा के राग में रुकनेवाला आज्ञा को नहीं मानता। आज्ञा पर लक्ष है वहाँ तक आत्मा पर लक्ष नहीं है। स्वभाव में जाने पर आज्ञा के प्रति लक्ष छूट जाता है और समकित होता है । सर्वज्ञ की आज्ञा निमित्तकारण है, इसलिये उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहा है।

सच्चे देव–गुरु की आज्ञा का राग अगृहीत मिथ्यात्व सहित का राग है और कुदेवादि के प्रति राग गृहीत मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी का राग है। जिसको वह राग नहीं छूटता उसके गृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता। सच्चे देव–गुरु के प्रति प्रेम होने से गृहीत मिथ्यात्व टलता है और सच्चे देवादि की आज्ञा के प्रति राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा करने पर अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है और समकित प्रगट होता है, तब आज्ञा को निमित्त कहते है।

"मुझे जिनआज्ञा प्रमाण है" इतने मात्र से सन्तुष्ट होना योग्य नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि ने जिनआज्ञा तो बहुत बार मानी है। पूर्व में आ चुका है कि–

'केवली के वचन प्रमाण है' ऐसे ही तत्त्वार्थश्रद्धान द्वारा सम्यक्त्व हुआ मानता है; परन्तु हम पूछते हैं कि ग्रैवेयक जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनि को ऐसा श्रद्धान है या नहीं ? यदि है तो उसको मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो ?

उसको ऐसा श्रद्धान तो है; परन्तु सम्यक्त्व नहीं हुआ। अंतरंग पुण्य परिणाम हुए बिना ग्रैवेयक जाना संभवित नहीं है। तथा और भी कहा है कि–

द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुआ है, तथा आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक तक जाता है, उसमे मिथ्यादृष्टिपना किस प्रकार रहा ? इसलिये कुछ परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्म ध्यान होता है।

ज्ञानस्वभाव की मर्यादा में आ जाना आज्ञा है। स्वभाव में राग नहीं है और राग के अवलम्बन से धर्म नहीं है। इसतरह स्वभाव के लक्ष से आज्ञा मानना सच्ची आज्ञा है।

अरहंतादि पर है, उनका लक्ष करने से राग होता है। उनका लक्ष छोड़कर स्वभाव का लक्ष करे तो आज्ञा को निमित्त कहते हैं। आज्ञा मानने के बाद तत्त्वज्ञान हो और सच्ची श्रद्धा

हो, उसको आज्ञा सम्यक्तव कहते है।

2. मार्ग सम्यक्त्व:- निर्ग्रन्थ मार्ग की अवलोकन करना, वह राग है; परन्तु स्वभाव का लक्ष करके निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसके पूर्व ऐसे विकल्प होते हैं। इसलिये निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन द्वारा निश्चय समकित हुआ कहा जाता है- वह मार्ग सम्यक्त्व है। वीतराग के मार्ग का, मुनियों के मार्ग का विचार चलता हो वह निमित्त है। राग और व्यवहार में धर्म मनानेवाले में निमित्तपना नहीं है।

3. उपदेश सम्यक्त्व:- तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि तिरेशठ शलाका पुरुषों के जीवन चरित्र पुराणों में वर्णित है, उस उपदेश से उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान द्वारा अर्थात् आगम समुद्र में प्रवीण पुरुषों के उपदेश आदि से जो उपदेशक दृष्टि वह उपदेश सम्यक्त्व है। यह निमित्त का कथन है। सच्ची कथा सुनकर, उसका लक्ष छोड़कर आत्मा का लक्ष करे तो कथा के उपदेश को निमित्त कहा जाता है। निमित्त, पर्याय अथवा राग के आश्रय से समकित नहीं होता। सम्यग्दर्शन तो स्वभाव के आश्रय से ही होता है। -यह एक ही नियम जानना। उसमें उपदेश निमित्त है इसलिये उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं।

4. सूत्र सम्यक्त्व:- मुनियों के वस्त्र-पात्र नहीं होते, मौनपूर्वक एक बार, खड़े-खड़े हाथ में निर्दोष आहार लेते हैं- इत्यादि प्रकार से चारित्र का वर्णन सूत्र में आता है। मुनि आहार के लिये निकले और किसी बालक के रुदन की आवाज आ जाये तो वे आहार का विकल्प तोड़कर ज्ञानस्वभाव में आ जाते हैं। मुनि विचारते हैं कि मैं तो आनंद के मार्ग में जाता हूँ वहाँ यह क्या ? अग्नि की ज्वाला देखे तो आहार का विकल्प तोड़कर सहजानंद स्वरूप में डूब जाते हैं। ऐसे चारित्र का जिसमें वर्णन हो वैसे आचार सूत्रों का कथन सुनकर स्वभाव का अवलंबन करे तो उस श्रद्धा को सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मस्वभाव को पकड़ना निश्चय समकित है, इसके पूर्व सूत्र सुनने का निमित्त था इसलिये इसे सूत्र सम्यक्त्व कहा है।

5.बीज सम्यक्त्व:- भगवान ने आत्मा के परिणामों का स्वरूप कहा है, उसका विचार करने से आत्मा का भान होता है, उसको धर्म कहते है। "बीज जो गणित ज्ञान को कारण, उसके द्वारा दर्शनमोह के अनुपम उपशम के बल से दुष्कर है जानने की गति जिसकी ऐसा

पदार्थों का समूह उसकी हुई उपलब्धि अर्थात श्रद्धान रूप परिणति जिसके, ऐसा जो करणानुयोग का ज्ञानी भव्य, उसके बीज दृष्टि होती है। वह बीज सम्यक्तव हैं।" करणानुयोग का ज्ञान करना शुभभाव है, उसके कारण समकित नहीं होता। आत्मा अखण्डानंद है, उसका भान होने में करणानुयोग का निमित्त बताते हैं। यदि स्वभाव का भान करे तो करणानुयोग का ज्ञान निमित्त कहलाता है, करणानुयोग में ही अटक जाये तो (आत्म) भान नहीं होता। समकित होने के पूर्व करण के सूक्ष्म विचार चलते हों तो करणानुयोग के विचार से समकित हुआ ऐसा कहा जाता है। राग एक समय की दशा हे, कर्म के अनेक प्रकार हैं -ऐसे विचार चलते हैं, उन विचारों को फेरकर स्वभाव सन्मुख होवे तो बीज सम्यक्त्व हुआ जानना।

6. संक्षेप सम्यक्त्व:- भगवान के समवसरण में हाथी, चकवा, मेंढ़क आदि को आत्मा का भान होता है, उनको विशेष ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा का भान होता है। ये शरीरादि हम (आत्मा) नहीं है, हम तो ज्ञानस्वरूप हैं ऐसा भान होने को समकित कहते हैं। तथा किसी को बहुत ज्ञान हो, परन्तु आत्मश्रद्धा नहीं करे तो उसके सम्यक्त्व नहीं कहलाता। यहाँ मूल मुद्दे की बात चलती हैं। शरीर, मन, वाणी आदि अजीव है। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव है। उनकी अवस्था अजीव से होती है। पुण्य-पाप विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। मै ज्ञानस्वरूप हूँ-ऐसा निर्णय करने पर सम्यग्दर्शन रूप मूल मुद्दे की रकम हाथ आती है। जीव दया पालन, यात्रा आदि के लिये तो हाँ करता है; परन्तु यह तो पर तरफ का झुकाव है -राग है। राग रहित ज्ञानानंद स्वभाव की प्रतीति करना समकित है। इस मुद्दे की रकम की हाँ नहीं करे तो चौरासी के अवतार से छुटकारा नहीं होता।

आत्मा आनंदकंद है, पुण्य-पाप विकार है, अजीवादि पर है-ऐसा थोड़ा ज्ञान होना सम्यक्त्व का कारण नहीं है; परन्तु स्वभाव के सन्मुख लक्ष करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो थोड़े जानपने को निमित्त कहते हैं। आत्मा ज्ञानानंद है, वह पर और राग का कर्ता नहीं है-ऐसी सम्यक् दृष्टि हुई इसलिये भली संक्षेप दृष्टि कही है। थोड़ा ज्ञान होने पर भी जिसने आत्मा का कार्य किया है वह ज्ञानी है दया, दानादि के कार्य करने पर भी आत्मा का भान नहीं करे तो मिथ्यादृष्टि रहता है।

प्रश्न:- काललब्धि नही पके तो क्या करें ?

उत्तर:- संसार में धन कमाने के लिये तुरंत विदेश जाता है, वहाँ काललब्धि की राह नहीं देखता। इसीप्रकार आत्मा में पुरुषार्थ करे तब काललब्धि पकती ही है। अज्ञानी पर के ऊपर दोष डालता है। हमारे भाग्य में धर्म नहीं लिखा है, इसलिये नहीं होता है-ऐसा कहता है। पैसा इत्यादि मिलना तो भाग्य के आधार से है; परन्तु धर्म तो आत्मा के पुरुषार्थ से होता है। तथापि धर्म, जो कि पुरुषार्थ से होता है उसको अज्ञानी कर्म से होना कहता है और धनादि कर्म से मिलते है उन्हे पुरुषार्थ से मिलना कहता है। इसप्रकार उसकी दोनों में विपरीतता है।

यहाँ संक्षेप ज्ञानवाले को संक्षेप सम्यक्त्व जानना। सम्यक्त्व को संक्षेप नही जानना; परन्तु संक्षेप ज्ञान का आरोप सम्यक्त्व पर किया है। बहुत पानी होने पर भी लकड़ी तिरती है और कम पानी होन पर भी लोहा डूबता है; क्योंकि वैसा स्वभाव है; इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव तिरने का है। शिवभूति मुनि का "मारूस मातुस" इतने शब्द उनके गुरु ने कहे थे। किसी से राग-द्वेष करना नहीं, तेरा स्वरूप ज्ञान है जगत की वस्तुये ज्ञेय है, परन्तु उनको इतने से शब्द भी याद नहीं रहे; तो भी भाव का भासन था। फिर किसी समय एक महिला उड़द के छिलके निकाल रही थी, किसी ने उससे पूछा कि क्या करती हो? उस महिला ने उत्तर दिया कि मैं माल (उड़द) में से तुस (छिलका) अलग कर रही हूँ। 'मालतुस' शब्द सुनकर उस पर से भाव-भासन का विशेष दृढ़ीकरण किया। आत्मा उड़द की दाल के समान और विकार छिलके के समान है। दया, दान, काम, क्रोध,काले छिलके है; उनसे रहित ज्ञान स्वभाव उड़द की दाल के समान उज्जवल है -ऐसा भान तो था। यदि छिलका उड़द का स्वरूप होवे तो वह अलग नहीं हो सकता; परन्तु ऐसा नहीं है।

संक्षेप बुद्धिवाले वे (शिवभूति मुनि) भी केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त हुए। यदि सम्यक्त्व में थोड़ा ज्ञान निमित्त होवे तो उस सम्यक्त्व को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं।

7. विस्तार सम्यक्त्व:- कोई जीव भगवान की वाणी सुनकर आत्मा का भान करे, स्वभाव की दृष्टि करे तो वाणी को निमित्त कहते हैं, वह विस्तार सम्यक्त्व है। समकित में विस्तार नहीं है, परन्तु विस्तारूप ज्ञान निमित्त है, इसलिये ऐसा कहा है। भगवान की वाणी में द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरुप -इत्यादि बहुत सुना और सुनकर विचार करता है तथा स्वसन्मुख होकर अपनी श्रद्धा करता है, इसलिये उसको विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं।

8. अर्थ सम्यक्त्व:- 'मास तुस' शब्द शास्त्र का नहीं है, तो भी उसके निमित्त से

सम्यग्दर्शन हो अथवा नारियल शब्द सुने तो वह शास्त्र का शब्द नहीं होने पर भी उस पर से भाव का मासन हो कि इसकी जटा पर है, कर्म काचली के समान है और पुण्य-पाप के भाव लाल छिलके के समान है तथा आनंदकंद भगवान आत्मा भिन्न है, सफेद गोले के समान है-इसतरह विचार करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसको अर्थ समकित कहते हैं । पहले ज्ञानी के पास से वाणी तो सुनी होना चाहिये; परन्तु उस समय सम्यक्त्व नहीं हुआ, फिर श्रीफल आदि शब्द सुनकर विचार करे कि मैं चैतन्यकंद हूँ और उस समय उसकी प्रतीति करे तो वह अर्थ सम्यक्त्व है। जैसे गोले के ऊपर के लाल छिलके को हटाने के लिये उसको कसनी पर घिसते है; घर्षण के अनुसार लाल छिलके निकलते हे; इसीप्रकार गुरु के कथित भाव का विचार करे कि आत्मा ज्ञान आनंद का गोला है, विकार तो आता और जाता है, वह अंदर प्रविष्ट नहीं होता-ऐसा भान करने पर धर्म होता है। इसप्रकार जैनशास्त्र के वचन बिना किसी अर्थ के निमित्त से हुई जो अर्थ दृष्टि उसको अर्थ सम्यक्त्व जानना।

इसतरह ये आठ भेद तो कारणों की अपेक्षा से कहे हैं। जैसे नामें की रकम को उधार के बदले कोई जमा कर दे तो बहुत भूल होती है; इसीप्रकार आत्मा में पुण्य-पाप के भाव उधार करने जैसे हैं और आत्मा का भान जमा करने जैसा है। वह जमा खाता है और पुण्य-पाप विभाव खाता है तथा शरीर, मन, वाणी आदि अजीव खाता है। इसके बदले पुण्य-पाप की खतौनी धर्म में करना उल्टी खतौनी है। जीव ने अनंतबार शास्त्र पढ़ने पर भी सच्ची समझ नहीं की। शास्त्र के ज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन होता है- यह सच्ची खतौनी नहीं है। पर तरफ से लक्ष हटकर, आत्म सन्मुख होवे तो शास्त्र के ज्ञान से समकित हुआ कहलाता है। इसप्रकार आज्ञा आदि आठ निमित्त कहे।

9. अवगाढ़ सम्यक्त्व:- अब ज्ञान की अपेक्षा से बात करते हैं। समुद्र में भाटे का समय हो उस समय पच्चीस इंच वर्षा आने पर भी बाढ़ नही आती। इसीतरह अकेले शास्त्र पठनरूप नदी के पानी से सम्यक कलारूपी ज्वार नहीं आता। आत्मा शुद्ध चिदानंद समुद्र के समान है, उसके मध्य बिंदु में एकाग्र हो तो ज्ञान प्रगट होता है। जैसे सागर के मध्य बिंदु से उछलकर पानी बाढ़ रूप होता है; इसीतरह आत्मा में केवलज्ञान भरा है, उसमें से श्रुत केवलीपने की पर्याय आती है उसको अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं।

समयसार गाथा 9-10 में जो श्रुतकेवली कहा है वह तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा कहा है।

वहाँ बारह अंग का ज्ञान नहीं, परन्तु आत्मा के भानवाले को श्रुतकेवली कहा है। यहाँ जो छठवें गुणस्थानवाले मुनि को बारह अंग का ज्ञान होता है, उसको श्रुतकेवली कहा है, उनको अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

चल,मल,अगाढ़ दोष रहित हो तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है। उस समकित को ज्ञान के सहकारीपने के कारण अवगाढ़ सम्यक्त्व कहा है।

"प्रवचन समुद्र बिंदु में उलटी आवे जेम,

चौद पूर्व की लब्धि का उदाहरण पण तेम।।"

समुद्र की बाढ़ के समय 118 डिग्री की धूप भी उसको रोकने में समर्थ नहीं है और भाटे के समय बहुत सी नदियां आकर मिलने पर भी बाढ़ लाने में समर्थ नहीं है। इसीतरह आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है। उसके अंतर डुबकी मारकर जो ज्ञान प्रकार प्रस्फुटित हुआ उसको रोकने में कोई समर्थ नहीं है। शरीर, इन्द्रियाँ आदि बलहीन होने पर भी ज्ञान को रोकने में समर्थ नहीं है। अंगज्ञान सहित सम्यग्दर्शन को अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते है।

10. परम अवगाढ़ सम्यक्त्व:- केवली भगवान के तत्त्वश्रद्धान होता है। जैसा क्षायिक समकिती तिर्यन्च को सम्यक्त्व होता है वैसा समकित केवली भगवान के होता है; परन्तु उनको तीनकाल तीनलोक का ज्ञान प्रगट हुआ है, इसलिये भगवान के समकित को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है।

ये दोनों अन्तिम भेद ज्ञान के सहकारीपनें की अपेक्षा से कहे गये हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व के दस भेद कहे गये हैं। वहाँ सर्वत्र सम्यक्त्व का स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान जानना। चौथे और तेरहवें गुणस्थानवर्ती के क्षायिक सम्यक्त्व में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा से भगवान के समकित को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। उसमें सम्यग्दर्शन के नाम-लक्षण कहे तथा किस कारण से सम्यग्दर्शन होता है यह बताया। आत्मा देह अथवा पुण्य की क्रिया का स्वामी नहीं है। आत्मा शुद्ध चिदानंद है, उसकी प्रतीति होने में बाह्य निमित्त जिनआज्ञा आदि के निमित्त से समकित के आठ के भेद कहे और ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा से अवगाढ़ और

परमावगाढ़ ये दो भेद कहे-इसप्रकार कुल दस भेद कहे। अब कर्म की अपेक्षा से सम्यक्त्व के भेद बतलाते हैं।

....तथा सम्यक्त्व के तीन भेद किये हैं:- 1. औपशमिक, 2. क्षायोपशमिक, 3. क्षायिक । सो तीन भेद दर्शनमोह की अपेक्षा किये हैं।

वहाँ औपशमिक सम्यक्त्व के दो भेद हैं- प्रथमोपशमसम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। वहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में करण द्वारा दर्शनमोह का उपशम करके जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

वहाँ इतना विशेष है- अनादि मिथ्यादृष्टि के तो एक मिथ्यात्वप्रकृति का ही उपशम होता हैं, क्योंकि इसके मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता है नहीं। जब जीव उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त हो, वहाँ उस सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्रमोहनीयरूप व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करता है तब तीन प्रकृतियों की सत्ता होती है; इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि के एक मिथ्यात्वप्रकृति की सत्ता है, उसी का उपशम होता है। तथा सादिमिथ्यादृष्टि के किसी के तीन प्रकृतियों की सत्ता है, किसी के एक ही की सत्ता है। जिसके सम्यक्त्वकाल में तीन की सत्ता हुई थी वह सत्ता पायी जाये, उसके तीन की सत्ता है और जिसके मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना हो गई हो, उनके परमाणु मिथ्यात्वरूप परिणमित हो गये हों, उसके एक मिथ्यात्व की सत्ता है; इसलिये सादि मिथ्यादृष्टि के तीन प्रकृतियों का व एक प्रकृति का उपशम होता है।

उपशम क्या? सो कहते हैं:- अनिवृत्तिकरण में किये अन्तरकरणविधान से जो सम्यक्त्व के काल में उदय आने योग्य निषेक थे, उनका तो अभाव किया, उनके परमाणु अन्यकाल में उदय आने योग्य निषेकरूप किये। तथा अनिवृतिकरण में ही किये उपशमविधान से जो उसकाल के पश्चात् उदय आने योग्य निषेक थे वे उदीरणारूप होकर इस काल में उदय न आ सकें ऐसे किये।

इसप्रकार जहाँ सत्ता तो पायी जाये और उदय न पाया जाये उसका नाम उपशम है।

यह मिथ्यात्व से हुआ प्रथमोपशमसम्यक्त्व है, सो चतुर्थादि सप्तम गुणस्थानपर्यन्त

पाया जाता है।

तथा उपशमश्रेणी के सन्मुख होने पर सप्तमगुणस्थान में क्षयोपशमसम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व हो, उसका नाम द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है। यहाँ करण द्वारा तीन ही प्रकृतियों का उपशम होता है, क्योंकि इसके तीन ही की सत्ता पायी जाती है। यहाँ भी अन्तरकरण विधानसे व उपशम विधान से उनके उदय का अभाव करता है वही उपशम है। सो यह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व सप्तमादि ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। गिरते हुए किसी के छट्ठे, पाँचवें और चौथे भी रहता है- ऐसा जानना।

इसप्रकार उपशमसम्यक्त्व दो प्रकार का है। सो यह सम्यक्त्व वर्त्तमानकाल में क्षायिकवत् निर्मल है; इसके प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता पायी जाती है, इसलिये अन्तर्मुहूर्त कालमात्र यह सम्यक्त्व रहता है। पश्चात् दर्शनमोह का उदय आता है- ऐसा जानना।

इसप्रकार उपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा ।....

अब कर्म के निमित्त की अपेक्षा से बात करते हैं।

आत्मा शुद्ध चैतन्य है-ऐसी अंतर में प्रतीति हुई उसका एक ही प्रकार है; परन्तु उससमय निमित्त कैसे होते हैं उसकी बात चलती है। दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से सम्यक्त्व के तीन प्रकार कहे हैं। उनमें औपशमिक,क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन भेद दर्शनमोह के उपशम क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा से हैं। कर्म का अभाव होता है इसलिये सम्यक्त्व होता है -ऐसा नहीं है; परन्तु अंतरस्वभाव के आश्रय से सम्यक्त्व होता है तब ऐसे तीन प्रकार होते हैं।

अब, उनमें उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं। प्रथम उपशम सम्यक्त्व और द्वितीय उपशम सम्यक्त्व। मिथ्यात्व गुणस्थान में अध:करण आदि करण द्वारा दर्शनमोह उपशमित होता है। आत्मा के परिणाम के कारण कर्म का उपशम नहीं होता; परन्तु निमित्त नैमित्तिक संबंध बताते हैं। ज्ञानानंद स्वभाव के लक्ष से प्रथम सम्यग्दर्शन होते समय कर्म का उपशम होता है, इसलिये वह प्रथम उपशम सम्यक्त्व है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही उपशम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य अथवा अभव्य जीव के मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियाँ होती हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसके एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही उपशम होता है। अनादि से दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में नहीं होती। उसके मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता नहीं है; परन्तु सम्यक्त्व के काल में दर्शनमोह के तीन टुकड़े होते हैं। आत्मा कर्म प्रकृति को नहीं परिणमाता, वह स्वयं के कारण परिणमति है, उसमें आत्मा के प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन के परिणाम निमित्त हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि के एक मिथ्यात्व प्रकृति की ही सत्ता है और उसका ही उपशम होता है। तथा कोई समकित पाकर वम जाये अर्थात मिथ्यादृष्टि हो जाये तो उसमें से किसी के तीन तथा किसी के एक प्रकृति की सत्ता है। जिसके मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय के परमाणु मिथ्यात्वरूप परिणम गये हों उसके एक मिथ्यात्व की सत्ता है। इसलिये सादि मिथ्यादृष्टि के तीन अथवा एक प्रकृति का उपशम होता है।

प्रश्न:– उपशम से क्या आशय है?

उत्तर:– आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है ऐसा भान होने के पूर्व अनिवृत्तिकरण के परिणाम होते हैं। उसमें किये अंतरकरण विधान से सम्यक्त्व के काल में उदय आने योग्य निषेक थे उनका यहाँ अभाव किया। अर्थात् उसके परमाणुओं को अन्य काल में उदय आने योग्य निषेकरूप किया।

तथा समकित के पहले अनिवृत्तिकरण में किये हुए उपशम विधान से जो उस काल में उदय आने योग्य निषेक थे वे उदीरणारूप होते हैं; परन्तु उस काल में उदय न आ सके ऐसा किये।

इसप्रकार जहाँ सत्ता में होने पर भी उनका उदय न हो उसका नाम उपशम है। –ऐसा इस मिथ्यात्व से हुआ अर्थात् मिथ्यात्व टलकर हुआ प्रथम उपशम सम्यक्त्व है। यह चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। दूसरा उपशम सम्यक्त्व क्षयोपशम में से होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि के प्रथम उपशम समकित होता है।

किसी नग्न मुनि के बाहर से व्यवहार सच्चा हो और वह अनादि मिथ्यादृष्टि हो वह सम्यग्दर्शन प्रगट करके चौथे से सातवें गुणस्थान में आ जाता है। ऐसा अंदर का पुरुषार्थ है।

अब द्वितीय उपशम सम्यक्त्व की बात करते हैं। सातवें गुणस्थान में क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह द्वितीय उपशम सम्यक्त्व है। यहाँ करणादि द्वारा तीनों ही प्रकतियों का उपशम होता है; कारण कि इनके तीन प्रकृतियों की ही सत्ता होती है। यहाँ भी अन्तरकरणविधान से व उपशम विधान से उनके उदय का अभाव करता है वही उपशम है। यह द्वितीय उपशम सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान से होता है और ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। और वहाँ से गिरने पर किसी को छठवें-पाँचवें और चौथे गुणस्थान में भी रहता है -ऐसा जानना। यहाँ पुरुषार्थ अपना है और उसमें कर्म का निमित्तपना बताना हैं । इसप्रकार उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है। यह सम्यक्त्व वर्तमान काल में क्षायिकवत् निर्मल है। प्रतिपक्ष कर्म की सत्ता होने से यह सम्यक्त्व अन्तमुहूर्त काल मात्र रहता है, फिर दर्शनमोह का उदय आता है, ऐसा जानना।

इसप्रकार उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

....तथा जहाँ दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो, अन्य दो का उदय न हो, वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। उपशमसम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्व होता है। व सादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान से व मिश्रगुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम क्या ? सो कहते हैं: दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो मिथ्यात्व का अनुभाग है उसके अनन्तवें भाग मिश्रमोहनीय का है, उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वमोहनीय का है। इनमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति देशघाती है; इसका उदय होनेपर भी सम्यक्त्व का घात नहीं होता। किंचित् मलितना करे, मूलघात न कर सके, उसीका नाम देशघाती है।

सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्त्तमान काल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है वह तो क्षय जानना, और इन्हीं के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये वही उपशम है, और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो सो क्षयोपशम है; इसलिये समलतत्त्वार्थश्रद्धान हो वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है।

यहाँ जो मल लगता है, उसका तारतम्यस्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलाने के अर्थ चलमलिन अगाढ़पना कहा है। वहाँ व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्तदेवादि में- यह मेरा है, यह अन्यका है, इत्यादि भाव सो चलपना है। शंकादि मल लगे सो मलिनपना है। यह शान्तिनाथ शांतिकर्त्ता हैं, इत्यादि भाव सो अगाढ़पना है। ऐसे उदाहरण व्यवहारमात्र बतलाये, परन्तु नियमरूप नहीं है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि इसके तत्त्वार्थश्रद्धान में किसी प्रकार से समलपना होता है, इसलिये यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशमसम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कुछ भेद नहीं है।

इतना विशेष है कि क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्त्तकालमात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय की काण्डकघाति क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है- ऐसा जानना।

तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूप में भेद नहीं है। तथा यह क्षयोपशमसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

इसप्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा।....

अब क्षयोपशम समकित की बात करते हैं। जहाँ दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होता है-ऐसी दशा को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। वहाँ मिश्र तथा मिथ्या प्रकृति सत्ता में रहती है। इस सम्यग्दृष्टि को स्वभाव का भान है; परन्तु योग्यता में सूक्ष्म मलिनता है और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय है। उसका बंधन नहीं; परन्तु समय-समय खिरता जाता है। वहाँ समल तत्त्वार्थश्रद्धान होने से उसको क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशम का काल पूरा होने पर यह सम्यक्त्व होता है। अथवा सादि मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व गुणस्थान से व मिश्रगुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है।

प्रश्नः– क्षयोपशम से क्या तात्पर्य है?

उत्तरः– दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों मे जो मिथ्यात्व का अनुभाग है उसके अनंतवें भाग मिश्रमोहनीय का तथा उसके अनंतवें भाग सम्यग्मोहनीय का अनुभाग है। वहाँ रस बहुत अल्प रह गया है और जीव की मलिनता अत्यन्त न्यून है, उसमें सम्यग्मोहनीय कर्म निमित्त है। सम्यक्त्वमोहनीय देशघाती प्रकृति है। इसलिये उसका उदय होने पर भी सम्यग्दर्शन का मूल से घात नहीं होता। वैसी निमित्तता उसमें नहीं है और आत्मा के उपादान में वैसी योग्यता नहीं है।

अब जहाँ मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व के वर्तमान काल में उदय आने योग्य निषेको का उदय हुए बिना ही निर्जरा हो उसे क्षय जानना तथा उसके ही निषेको का भाविकाल में उदय आने योग्य सत्ता है; परन्तु उदय नहीं आये, उसे उपशम कहते है और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय वर्तता है वैसी दशा जहाँ हो वह क्षयोपशम है।

इसलिये समल तत्त्वश्रद्धान होता है वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यहाँ जो मल लगता है उसका तारतम्यरूप स्वरूप तो केवलज्ञानी जानते हैं; परन्तु उदाहरण दर्शाने के लिये चल, मलिन और अगाढ़पना कहा है। जहाँ व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति होती है; परन्तु अरहंतदेवादि में 'ये देवादि मेरे हैं, ये अन्य के है' –ऐसा भाव होना चलपना है। यह दृष्टान्त है। इसका कोई फल नहीं आता । समय-समय यह छूट जाता है।

निश्चय से मैं आत्मा शुद्ध ज्ञायक हूँ ऐसा भान वर्तता है और सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा भी होती ही है; परन्तु सूक्ष्म मल रह जाता है।

तथा शंकादि मल लगे वह मलिनता है।उस मलिनपने का बंधन नहीं है। सम्यक्मोहनीय का बंध नहीं है। तथा शान्तिनाथ शान्तिकर्ता है इत्यादि भाव होना अगाढ़पना है। मैं ज्ञान-स्वरूपी हूँ –ऐसा भान है; परन्तु क्षायिक का अभाव है और अल्प मलिनता का सद्भाव है –यह उदाहरण मात्र बताया है, नियमरूप नहीं। क्षयोपशमिक में होनेवाले सहजदोष केवलीगम्य है। इतना समझना कि उसको तत्त्वार्थश्रद्धान में किसीप्रकार से समलपना होता है, इसलिये वह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है।

इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कोई भेद नहीं है। विशेष इतना है कि क्षयोपशम सम्यक्त्वी जीव केवली अथवा श्रुतकेवली की वाणी सुनता है और स्वभाव सन्मुख विशेष पुरुषार्थ करता है तब अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्त काल मात्र जहाँ मिथ्यात्व प्रकृति का लोप करता है वहाँ दो ही प्रकृति की सत्ता रहती है। फिर मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है वहाँ एक सम्यक्त्व मोहनीय की ही सत्ता रहती है। अभी क्षयोपशम समकित है, क्षायिक समकित नहीं हुआ है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व मोहनीय की कांडक घातादि क्रिया नही करता, वह क्षायिक सम्यग्दर्शन पाने की तैयारी में है। उसको कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। उसकारण अपने परिणाम अपने कारण से हुए है। स्वभाव के आश्रय से परिणाम होते हैं। कर्म के निमित्तपने में अपनी योग्यता है। मिथ्यात्व का तथा मिश्र प्रकृति का क्षय करता है वह अपनी योग्यता है और सम्यक्मोहनीय की सत्ता रहती है वह भी अपनी योग्यता है। निमित्त की ओर का अपना वेदन है इसलिये वेदक सम्यक्त्व कहा है। इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का ही नाम वेदक सम्यक्त्व है।

तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहें वहाँ तो क्षयोपशम सम्यक्त्व नाम पाता है तथा जहाँ सम्यक्मोहनीय की मुख्यता से कहें वहाँ वेदक सम्यक्त्व नाम पाता है; परन्तु ये दोनों नाम कथनमात्र है, स्वरूप में भेद नहीं है। यह क्षयोपशम सम्यक्त्व चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। इसप्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

....तथा तीनों प्रकृतियों के सर्वथा सर्व निषेकों का नाश होनेपर अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान हो सो क्षायिकसम्यक्त्व है। सो चतुर्थादि चार गुणस्थानों में कहीं क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को इसकी प्राप्ति होती है।

कैसे होती है? सो कहते हैं- प्रथम तीन करण द्वारा वहाँ मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे; -इसप्रकार मिथ्यात्व की सत्ता नाश करे। तथा मिश्रमोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे; -इसप्रकार मिश्रमोहनीय का नाश करे। तथा सम्यक्त्व मोहनीय के निषेक उदय में आकर खिरें, उसकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे स्थितिकाण्डकादि द्वारा घटाये। जहाँ अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहे तब

कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि हो। तथा अनुक्रम से इन निषेकों का नाश करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होता है।

सो यह प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्वरूप रंजना के अभाव से वीतराग है; इसका नाश नहीं होता। जब से उत्पन्न हो तब से सिद्ध अवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है।

इसप्रकार क्षायिकसम्यक्त्व का स्वरूप कहा ।

ऐसे तीन भेद सम्यक्त्व के है।....

अब क्षायिक सम्यक्त्व की बात करते हैं। इन तीनों प्रकृतियों के सर्व निषेकों का सर्वथा नाश होने पर जो अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धा होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व है। सो चतुर्थादि चार गुणस्थानों में कहीं क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को इसकी प्राप्ति होती है।

किस प्रकार होती है वह यहाँ कहते हैं- प्रथम तीन करण द्वारा मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्रमोहनीयरूप व सम्यक्मोहनीयरूप परिणमावे अथवा उनकी निर्जरा करे। इसप्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है। केवली अथवा श्रुतकेवली के पास हो तब अपना पुरुषार्थ ऐसा करे कि वह मिथ्यात्व कर्म सत्ता में से नष्ट हो जाता है। तथा मिश्र आदि मोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्व मोहनीयरूप परिणमावे व उनकी निर्जरा करे। इसप्रकार मिश्रमोहनीय का भी नाश करे। तथा सम्यक्त्व मोहनीय के निषेक उदय में आकर खिर जायें तथा यदि उनकी स्थिति बहुत होवे तो उसे स्थिति कांडकादि द्वारा घटावे; जब अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहे तब वह कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होता है और अनुक्रम से उन निषेकों का भी नाश करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। इस समकित वाले के उपादान की तैयारी है, इसलिये प्रतिपक्ष कर्मरूप निमित्त का अभाव है व मिथ्यात्वरूपी रज के अभाव से वीतराग है।

तीनों समकित वीतराग परिणाम हैं; परन्तु एक में सत्ता है, एक में जरा मलिनता है, अत्यन्त वीतराग नहीं। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग परिणाम कहा है। रागादि परिणाम चारित्र दोष में जाते है, उनकी बात नहीं है। क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि-अनंतकाल

रहता है। वस्तुत: तो समकित एक ही प्रकार का है, उसमें सराग-वीतराग भेद चारित्र की अपेक्षा से है। इसप्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

इसप्रकार सम्यक्त्व के तीन भेद कहे।

....तथा अनन्तानुबंधी कषाय की सम्यक्त्व होने पर दो अवस्थाएँ होती है। या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है।

वहाँ जो करण द्वारा उपशमविधान से उपशम हो, उसका नाम प्रशस्त उपशम है। उदय का अभाव उसका नाम अप्रशस्त उपशम है।

सो अनन्तानुबंधी का प्रशस्त उपशम तो होता ही नहीं, अन्य मोह की प्रकृतियों का होता है। तथा इसका अप्रशस्त उपशम होता है।

तथा जो तीन करण द्वारा अनन्तानुबंधी के परमाणुओं को अन्य चारित्रमोंह की प्रकृतिरूप परिणमित करके उनकी सत्ता नाश करे, उसका नाम विसंयोजन है।

सो इनमें प्रथमोपशमसम्यक्त्व में तो अनन्तानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही है। तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति अनन्तानुबंधी का विसंयोजन होने पर ही होती है- ऐसा नियम कोई आचार्य लिखते हैं, कोई नियम नहीं लिखते। तथा क्षयोपशमसम्यक्त्व में किसी जीव के अप्रशस्त उपशम होता है व किसी के विसंयोजन होता है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व है सो पहले अनन्तानुबंधी का विसंयोजन होनेपर ही होता है। -ऐसा जानना।

यहाँ यह विशेष है कि उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबंधी के विसंयोजन से सत्ता का नाश हुआ था, वह फिर मिथ्यात्व में आये तो अनन्तानुबंधी का बन्ध करे, वहाँ फिर उसकी सत्ता का सद्भाव होता है और क्षायिकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में आता नहीं है, इसलिये उसके अनन्तानुबंधी की सत्ता कदाचित् नहीं होती।....

सम्यक्त्व के सद्भाव में अनंतानुबंधी कषाय की दो अवस्था होती है। या तो अप्रशस्त उपशम होता है अथवा विसंयोजना होती है। वहाँ जो करण द्वारा उपशम विधान से उपशम होता है उसका नाम प्रशस्त उपशम है, तथा उदय का अभाव होने का नाम अप्रशस्त उपशम है।

अब अनंतानुबंधी का प्रशस्त उपशम तो होता नहीं है; परन्तु मोहनीय की अन्य प्रकृतियों का होता है। अनंतानुबंधी के उदय का अभाव होता है। तथा जो तीन करण द्वारा-अध:करण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण द्वारा अनंतानुबंधी के परमाणुओं को अन्य चारित्रमोहनीय की प्रकृतिरूप परिणमा कर उसकी सत्ता का नाश किया जाता है उसका नाम विसंयोजना है। उसमें मिथ्यात्व में से उपशम सम्यक्त्व पावे तब अनंतानुबंधी को अप्रशस्त उपशम ही है। तथा अन्य उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति तो प्रथम अनंतानुबंधी की विसंयोजना होने पर ही होती है-ऐसा नियम कोई आचार्य लिखते है, कोई नहीं लिखते। दूसरे, क्षयोपशम सम्यक्त्व में किसी जीव को अप्रशस्त उपशम होता है व किसी को विसयोजना होती है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व तो पहले अनंतानुबंधी की विसंयोजना होने पर ही होता है-ऐसा जानना।

यहाँ इतना विशेष है कि उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के तो अनंतानुबंधी की विसंयोजना से सत्ता का नाश हुआ था; यदि वह मिथ्यात्व में आवे तो अनंतानुबंधी के बंध का तथा उसकी सत्ता का सद्भाव होता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में आता ही नहीं, इसलिय उसके कभी भी अनंतानुबंधी की सत्ता नहीं होती।

यह मोक्षमार्ग के स्वरूप का अधिकार है। उसमें चौथे गुणस्थान की बात करते हैं। जब जीव सम्यग्दर्शनादि प्रगट करता है। तब दर्शनमोहनीय के उपशमादि होते है। वस्तुत: आत्मा कर्म के उपशमादि नहीं कर सकता। ' मैं ज्ञाता हूँ'-ऐसी दृष्टि और स्थिरता करे तो कर्म का अभाव किस तरह होता है-यह यहाँ बताया जा रहा है। तुच्छबुद्धि मेढ़क आदि को कर्म की प्रकृति का ख्याल नहीं है; परन्तु आत्मा का भान तो होता है; तब उनके कर्म की कैसी दशा होती है-यह यहाँ बताया जा रहा है।

....यहाँ प्रश्न है कि अनन्तानुबंधी तो चारित्रमोह की प्रकृति है, सो चारित्र का घात करे, इससे सम्यक्त्व का घात किस प्रकार सम्भव है?

समाधान:- अनन्तानुबंधी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं, कुछ अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता; इसलिये अनन्तानुबंधी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती। सो परमार्थ से है तो ऐसा ही, परन्तु अनन्तानुबंधी के उदय से जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व होने पर नहीं होते- ऐसा

निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। जैसे- त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है, परन्तु त्रसपना होने पर एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का भी उदय नहीं होता इसलिये उपचर से एकेन्द्रियप्रकृति को भी त्रसपने का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है। उसी प्रकार सम्यक्त्व का घातक तो दर्शनमोह है, परन्तु सम्यक्त्व होनेपर अनन्तानुबंधी कषायों का भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से अनन्तानुबंधी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।....

प्रश्न:-अनंतानुबंधी तो चारित्रमोहनीय की प्रकृति है, इसलिये वह प्रकृति सर्वप्रकार से चारित्र का निमित्तरूप से घात करती है, परन्तु सम्यग्दर्शन का घात नही करती तो वह अनंतानुबंधी प्रकृति सम्यक्त्व का घात कैसे करती है?

उत्तर:-अनंतानुबंधी के उदय से अपने स्वरूप को भूलकर क्रोधादि के परिणाम होते है; परन्तु उसके उदय से कहीं अतत्व श्रद्धान नहीं होता। अनंतानुबंधी सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले स्वरूपाचरण का ही घात करती है, परन्तु सम्यग्दर्शन का घात नहीं करती , परमार्थ से है तो ऐसा ही; परन्तु अनंतानुबंधी के उदय से स्वरूप को चूककर जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक के परिणाम सम्यग्दर्शन के सद्भाव में नहीं होते।

प्रश्न:-भरत चक्रवर्ती का क्रोध तो पराकाष्टा का था न!

उत्तर:-नही, भरत का क्रोध पराकाष्टा का नहीं था, उनको अनंतानुबंधी क्रोध नहीं था। भरत जानते थे कि रागादि परिणाम भी मेरा ज्ञेय है, शस्त्र की क्रिया मेरी नहीं है; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। सगे भाई को मारने का भाव हुआ; परन्तु वह अनंतानुबंधी क्रोध नहीं था। कमजोरीवश रागादिभाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है-ऐसा भान भरत को उस समय भी है।

राजा श्रेणिक सिर पटककर मरकर नरक में गये, तो भी अनंतानुबंधी का द्वेष नहीं था। अप्रत्याख्यान संबंधी द्वेषादि परिणाम हुए वह मेरा ज्ञेय है; मै तो ज्ञानस्वरूपी हूँ। स्वभाव अनंतगुणों का समाज है। उसको निर्विकल्परूप से प्रतीति में लेनेवाले की अनंत संसार नहीं हो सकता और मिथ्यादृष्टि मुनि के उपकरण से दया पालने पर भी 'मै पर की दया पाल सकता हूँ' -ऐसा अभिप्राय है, इसलिये उसके अनंतानुबंधी क्रोध वर्तता है। बाहर की क्रिया के साथ कषाय का संबंध नहीं है। मैं पर का कर सकता हूँ, मैं राग का स्वामी हूँ-ऐसी मान्यता अनंतानुबंधी का कारण है। सच्ची समझ होने पर अनंतानुबंधी क्रोधादि नहीं होते ।

जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है। चींटी आदि पर्याय का व्यय होकर (जीव) एकेन्द्रिय में जाता है, इसलिये स्थावर प्रकृति ही त्रसपने की घातक है; परन्तु त्रसपने में एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय प्रकृति को भी त्रसपने की घातक कहे तो वहाँ दोष नहीं है। इसीप्रकार सम्यक्त्व का घातक तो दर्शनमोह ही है; परन्तु सम्यक्त्व के सद्भाव में अनंतानुबंधी कषायों का भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से अनंतानुबंधी में भी सम्यक्त्व का घातकपना कहे तो दोष नहीं है।

....यहाँ फिर प्रश्न है कि अनन्तानुबंधी भी चारित्र ही का घात करती है, तो इसके जाने पर कुछ चारित्र हुआ कहो। असंयत गुणस्थान में असंयम किसलिये कहते हो?

समाधानः- अनन्तानुबंधी आदि भेद हैं वे तीव्रमन्द कषायों की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र कषाय होने पर व मन्दकषाय होने पर अनन्तानुबंधी आदि चारों का उदय युगपत् होता है। वहाँ चारों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान कहे हैं।

इतना विशेष है कि अनन्तानुबंधी के साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादिक का हो, वैसा उसके जानेपर नहीं होता। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान के साथ जैसा प्रत्याख्यान संज्वलन का उदय हो, वैसा उसके जाने पर नहीं होता। तथा जैसा प्रत्याख्यान के साथ संज्वलन का उदय हो, वैसा केवल संज्वलन का उदय नहीं होता। इसलिये अनन्तानुबंधी के जानेपर कुछ कषायों की मन्दता तो होती है, परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे कोई चारित्र नाम प्राप्त करे। क्योंकि कषायों के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं; उनमें सर्वत्र पूर्वस्थान से उत्तरस्थान में मन्दता पायी जाती है; परन्तु व्यवहार से उन स्थानों में तीन मर्यादाएँ कीं। आदि के बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे, फिर कितने ही देशसंयमरूप कहे, फिर कितने ही सकलसंयमरूप कहे। उनमें प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यंत जो कषाय के स्थान होते हैं वे सर्व असंयम ही के होते हैं। इसलिये कषायों की मन्दता होने पर भी चारित्र नाम नहीं पाते हैं;

यद्यपि परमार्थ से कषाय का घटना चारित्र का अंश है, तथापि व्यवहार से जहाँ ऐसा कषायों का घटना हो जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अंगीकार हो, वहीं चारित्र नाम पाता है। सो असंयत में ऐसे कषाय घटती नहीं हैं, इसलिये यहाँ असंयम कहा है। कषायों का अधिक-हीनपना होनेपर भी, जिस प्रकार प्रमत्तादि गुणस्थानों में सर्वत्र सकलसंयम ही नाम पाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि असंयत पर्यन्त गुणस्थान में असंयम नाम पाता है। सर्वत्र असंयम की समानता नहीं जानना।....

प्रश्नः- अनंतानुबंधी चारित्र का घात करती है तो उसके अभाव से कुछ चारित्र प्रगटने पर भी चौथे गुणस्थान के चारित्र क्यों नहीं कहते, असंयम किसलिये कहते हो ?

उत्तरः- अनंतानुबंधी आदि भेद हैं वे कषाय की तीव्रता-मंदता की अपेक्षा से नहीं है। कारण कि मिथ्यादृष्टि के तीव्र कषाय हो अथवा मंद कषाय हो। अर्थात् वह युद्ध में हो या दया, दान, पूजादि करता हो; तो भी चारों कषायें (अनंतानुबंधी आदि) वर्तती हैं। व्रत से धर्म मानने वाला, पुण्य से धर्म माननेवाला कायोत्सर्ग में हो या युद्ध में, तो भी उसके चारों का उदय होता है। उसको स्वभाव का भान नहीं होने से चारों का उदय युगपत् होता है। मिथ्यादृष्टि जीव के शुक्ललेश्या हो, वह क्रोध न करे, ब्रह्मचर्य पालन करे; तो भी उसकी दृष्टि पुण्य और निमित्त पर होने से उसके अनंतसंसार का कारण खड़ा है-विद्यमान है।

कोई समकिती युद्ध में हो तो भी उसके अनंतानुबंधी का अभाव है और मिथ्यादृष्टि कायोत्सर्ग करता हो तो भी उसके अनंतानुबंधी क्रोध, मान,माया, लोभ का सद्भाव है। मिथ्यादृष्टि के चारों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान कहे हैं। मंदकषाय हुई इसलिये अनंतानुबंधी का अभाव हो गया -ऐसा नहीं है और बाह्य में तीव्र कषाय है इसलिये अनंतानुबंधी का सद्भाव है- ऐसा भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अनंतानुबंधी के साथ अप्रत्याख्यानावरणादि का जैसा तीव्र उदय होता है वैसा उसके अभाव के बाद नहीं होता। इसीप्रकार अप्रत्याख्यानावरणी के साथ प्रत्याख्यान और संज्वलन का जैसा उदय होता है वैसा उसके अभाव के बाद नहीं होता। तथा प्रत्याख्यान के साथ जैसा संज्वलन का उदय होता है वैसा अकेला संज्वलन का उदय नहीं होता है। इसीलिये अनंतानुबंधी के अभाव के बाद किंचित कषायों की मंदता तो होती है; परन्तु ऐसी मंदता नहीं होती कि जिससे चारित्र नाम पावे। पंचम गुणस्थानवाले के

आंशिक चारित्र नाम पाता है, कारण कि कषायों के असंख्यात लोक प्रमाण स्थान है, उनमें सर्वत्र पूर्वस्थान से उत्तर स्थान में मंदता होती है; परन्तु व्यवहार में उन स्थानों में तीन मर्यादा की गई है।

* प्रथम बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे, अनंतानुबंधी का अभाव होने पर भी बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे।
* फिर कितने ही संयमरूप कहे। और
* फिर कितने ही सकल संयमरूप कहे।

उनमें प्रथम से लेकर चतर्थ गुणस्थान तक कषाय के जो स्थान होते हैं, वे सब असंयम के ही होते हैं। इसलिये चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी चारित्र का अंश नहीं कहलाता।

पंचम गुणस्थान में सहजानंद दशा की शान्ति बढ़ती है इसलिये उसको संयमासंयम कहते हैं।

चौथे गुणस्थान में बहुत स्थान असंयम के हैं, इसलिये असंयम कहा है। अत: वहाँ कषाय की मंदता होने पर भी चारित्र नाम नहीं पाता। यद्यपि परमार्थ से कषाय का घटना चारित्र का अंश है, तथापि व्यवहार से, जहाँ कषायों का ऐसा घटना हो कि जिससे श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म का अंगीकार हो, वहाँ ही चरित्र नाम पाता है।

सम्प्रदाय में जन्मनेमात्र से श्रावकपना नहीं है। परवस्तु स्वतंत्र है और राग पुरुषार्थ की कमजोरी से उसके स्वकाल में होता है और आत्मा ज्ञाता दृष्टा है-ऐसे ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। रागादि व्यवस्थित होते हैं। तीनकाल के जितने समय हैं उतनी पर्यायें हैं। जिस समय जो शुभाशुभभाव होना है वह होते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं होता-यह बात सूक्ष्म है। श्रावक को बारह व्रत के परिणाम सहज आते हैं और मुनि को विशेष शान्ति की अभिवृद्धि के साथ अट्ठाईस मूलगुण पालन का राग सहज आता है। वहाँ चारित्र का नाम पाता है। वन विहारी मुनि कि जिनको आत्मा में से शान्ति के निर्झर फूट रहे होते हैं उनको, चारित्र होता है। अब, असंयत गुणस्थान में वैसी कषाय नहीं घटती इसलिये असंयम कहा है।

कषायों की अधिकता-हीनता होने पर भी जैसे प्रमत्तादि गुणस्थानों में सर्वत्र सकल संयम ही नाम पाता है। वहाँ संज्वलन के उदय आदि में अंतर होने पर भी सकल संयम नाम पाता है; इसीतरह मिथ्यात्व से असंयत गुणस्थान तक असंयत नाम पाता है; परन्तु सर्वत्र असंयम की समानता नहीं जानना चाहिये।

....यहाँ फिर प्रश्न है कि अनन्तानुबंधी सम्यक्त्व का घात नहीं करती है तो इसका उदय होने पर सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है?

समाधानः- जैसे किसी मनुष्य के मनुष्यपर्याय नाश का कारण तीव्र रोग प्रगट हुआ हो, उसको मनुष्यपर्याय का छोड़नेवाला कहते हैं। तथा मनुष्यपना दूर होने पर देवादिपर्याय हो, वह तो रोग अवस्था में नहीं हुई। यहाँ मनुष्यही का आयु है। उसीप्रकार सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबंधी का उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्व का विरोधक सासादन कहा। तथा सम्यक्त्व का अभाव होने पर मिथ्यात्व होता है, वह तो सासादन में नहीं हुआ। यहाँ उपशमसम्यक्त्व का ही काल है- ऐसा जानना।

इसप्रकार अनन्तानुबंधी चतुष्टय की सम्यक्त्व होने पर अवस्था होती नहीं, इसलिये सात प्रकृतियों के उपशमादिक से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कही जाती है।....

प्रश्नः- यदि अनंतानुबंधी प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नही करती तो उसका उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है?

उत्तरः- जैसे किसी मनुष्य के मनुष्य शरीर के नाश होने के कारणरूप तीव्र रोग प्रगट हुआ हो उसको मनुष्य पर्याय छुड़ानेवाला कहते हैं; परन्तु मनुष्यपने का नाश होने पर देवादि पर्याय होती है वह तो इस रोग अवस्था में नहीं हुई है, यहाँ तो मनुष्य का ही शरीर है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को सम्यक्त्व के नाश का कारणरूप अनंतानुबंधी का उदय हुआ हो, उसे सम्यक्त्व का विराधक सासादन कहा है; परन्तु सम्यक्त्व का अभाव होने पर मिथ्यात्व होता है, वह अभाव तो इस सासादन में होता नहीं, यहाँ तो उपशम सम्यक्त्व का ही काल है-ऐसा जानना। इसप्रकार सम्यक्त्व के सद्भाव में अनंतानुबंधी चौकड़ी की अवस्था होती है। इसलिये सात प्रकृतियों के उपशमादि से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कहलाती है।

....फिर प्रश्नः- सम्यक्त्वमार्गणा के छह भेद किये हैं, सो किस प्रकार हैं?

समाधानः- सम्यक्त्व के तो भेद तीन ही हैं। तथा सम्यक्त्व के अभावरूप मिथ्यात्व है। दोनों का मिश्रभाव सो मिश्र है। सम्यक्त्व का घातक भाव सो सासादन है। इसप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा से जीव का विचार करने पर छह भेद कहे हैं।

यहाँ कोई कहे कि सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में आया हो उसे मिथ्यात्व सम्यक्त्व कहा जाये। परन्तु यह असत्य है, क्योंकि अभव्य के भी उसका सद्भाव पाया जाता है। तथा मिथ्यात्वसम्यक्त्व कहना ही अशुद्ध है। जैसे संयममार्गणा में असंयम कहा, भव्यमार्गणा में अभव्य कहा, उसीप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व को सम्यक्त्व का भेद नहीं जानना। सम्यक्त्व अपेक्षा विचार करने पर कितने ही जीवों के सम्यक्त्व का अभाव भासित हो, वहाँ मिथ्यात्व पाया जाता है- ऐसा अर्थ प्रगट करने के अर्थ सम्यक्त्व मार्गणा में मिथ्यात्व कहा है। इसीप्रकार सासादन, मिश्र भी सम्यक्त्व के भेद नहीं हैं। सम्यक्त्व के भेद तीन ही हैं, ऐसा जानना।

यहाँ कर्म के उपशमादिक से उपशमादि सम्यक्त्व कहे, सो कर्म के उपशमादिक इसके करने से नहीं होते। यह तो तत्त्वश्रद्धान करने का उद्यम करे, उसके निमित्त से स्वयमेव कर्म के उपशमादिक होते हैं, तब इसके तत्त्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है- ऐसा जानना।

ऐसे सम्यक्त्व के भेद जानना।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा ।....

प्रश्नः-तो सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद किये वह किस प्रकार? तुमने समकित के उपशम क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे भेद किये तो मार्गणा में छह कैसे कहे?

उत्तरः- सम्यक्त्व के तो तीन भेद हैं; परन्तु सम्यक्त्व के अभाव रूप मिथ्यादर्शन। इन दोनों का मिश्रभाव वह मिश्र। तथा सम्यक्त्व का घातक भाव वह सासादन-इसप्रकार सम्यक्त्व मार्गणा से जीव का विचार करने पर छह भेद कहे हैं। यहाँ कोई कहे कि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट

होकर मिथ्यादर्शन में आया हो उसको मिथ्यात्व कहलाता है; परन्तु ऐसा कहना तो असत्य है। कारण कि अभव्य को भी उसका सद्भाव होता है। तथा मिथ्यात्व समकित कहना यही अशुद्ध है। जैसे संयम मार्गणा में असंयम कहा है, तथा भव्य मार्गणा में अभव्य कहा है; इसी तरह यहाँ सम्यक्त्व मार्गणा में मिथ्यात्व कहा है; परन्तु वहाँ मिथ्यात्व को सम्यक्त्व का भेद नहीं समझना। समकित की अपेक्षा विचार करने पर किसी जीव को सम्यक्त्व को अभाव भासित हो वहाँ मिथ्यात्व होता है-ऐसा अर्थ प्रगट करने के लिये सम्यक्त्व मार्गणा में मिथ्यात्व कहा है। इसीप्रकार सासादन और मिश्र भी सम्यक्त्व के भेद नहीं है, सम्यक्त्व के तो तीन भेद हैं-ऐसा समझना।

यहाँ कर्म के उपशमादि से उपशमादि सम्यक्त्व कहा; परन्तु आत्मा कर्मों का उपशमादि नहीं कर सकता। वहाँ निमित्त से कथन किया है। वस्तुतः आत्मा कर्म का अभाव नहीं कर सकता। जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब कैसे निमित्तों का अभाव होता है और मिथ्यात्व था तब कौन निमित्त था-यह बताया है। कर्म को बांधने अथवा छोड़ने में आत्मा का पुरुषार्थ काम नहीं आता। जीव जब अपने ज्ञानानंदस्वभाव का पुरुषार्थ करता है तब कर्मों का अभाव उनके स्वयं के कारण हो जाता है। आत्मा जड़ द्रव्यों का स्वामी नहीं है, इसलिये कर्म आत्मा के किये होते नहीं हैं, कर्मों के उपशमादि स्वयमेव होते हैं। इस जीव को तो तत्त्वश्रद्धान करने का उद्यम करना चाहिये। जीव के पुरुषार्थ के निमित्त से स्वयं कर्म के उपशमादि होते हैं और तत्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है। आत्मा कर्म की स्थिति घटा नहीं सकता, अपकर्षण कर नही कर सकता; परन्तु जीव के पुरुषार्थ के साथ कर्मों के निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यहाँ कथन किया है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

....तथा सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं:- निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपवृंहण, स्थितिकरण, प्रभावना और वात्सल्य।

वहाँ भय का अभाव अथवा तत्त्वों में संशय का अभाव सो निःशंकितत्व है। तथा परद्रव्यादि में रागरूप वांछा का अभाव सो निःकांक्षितत्व है। तथा परद्रव्यादि में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव सो निर्विचिकित्सत्व है। तथा तत्त्वों में व देवादिक में

अन्यथा प्रतीतिरूप मोह का अभाव सो अमूढ़दृष्टित्व है। तथा आत्मधर्म का व जिनधर्म का बढ़ाना उसका नाम उपवृहंण है, इसी अंग का नाम उपगूहन भी कहा जाता है; वहाँ धर्मात्मा जीवों के दोष ढँकना- ऐसा उसका अर्थ जानना। तथा अपने स्वभाव में व जिनधर्म में अपने को व पर को स्थापित करना सो स्थितिकरण है। तथा अपने स्वरूप की व जिनधर्म की महिमा प्रगट करना सो प्रभावना है। तथा स्वरूप में व जिनधर्म में व धर्मात्मा जीवों में अति प्रीतिभाव, सो वात्सल्य है। ऐसे यह आठ अंग जानना।

जैसे मनुष्यशरीर के हस्तपादादिक अंग हैं, उसी प्रकार यह सम्यक्त्व के अंग है।....

अब सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहते हैं।

1. नि:शंकितत्व:- भय का अभाव होना अथवा तत्त्वों में संशय का अभाव होना नि:शंकितत्व है। समकिती जीव को परपदार्थ का भय नहीं होता, अपनी कमजोरी (अस्थिरता) से भय होता है, वह अलग बात है। तथा तत्त्वों में संदेह नहीं होता। अपने को तो कुछ भी पता नहीं पड़ता-ऐसा माननेवाला धर्मी नहीं है।

2.नि:कांक्षितत्व:- परद्रव्य में रागरूप वांछा का अभाव नि:कांक्षितत्व है। स्व को चूककर पुण्य की इच्छा ज्ञानी को नहीं होती है; पुण्य परिणाम परद्रव्य है; ज्ञानी को उसकी इच्छा नहीं होती हैं।

3. निर्विचिकित्सत्व:- परद्रव्य में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव निर्विचिकित्सत्व है। समकिती किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानता। मैं तो ज्ञान हूँ, सभी वस्तुयें ज्ञात होने योग्य (ज्ञेय) है। परजीवों को शत्रु-मित्र माननेवाला जीव धर्मी नहीं है। जो एकान्तपना मानता है उसको अनेकांत तत्त्व पर द्वेष वर्तता है। मेरा स्वरूप चिदानंद है और रागादि मेरे नहीं हैं। मुझको निमित्त से लाभ नहीं है -ऐसा भान नहीं होनेवाले को स्व के प्रति द्वेष है; और स्व के प्रति द्वेषवाले को पर के प्रति द्वेष होती ही है। अनेकांत अर्थात् स्वभाव की स्वतंत्रता। विभाव, निमित्त और परद्रव्य की स्वतंत्रता। जिसको यह बात नहीं बैठती उसको अनेंकांत के प्रति द्वेष वर्तता है।

शास्त्र में कथन आता है कि हे भगवान! मिथ्यादृष्टि आपको वंदन करता ही नहीं। देह की क्रिया से तथा अंदर में होनेवाले राग से स्वभाव भिन्न है–ऐसा भान होनेवाला ही भगवान को वंदन करता है। जिसको अपना बहुमान नहीं आता उसकी भगवान का बहुमान भी नहीं आता। समकिती मानता है कि परद्रव्य मुझको लाभ या हानि नहीं करता, इसलिये उसको परद्रव्य के प्रति राग–द्वेष नही होते।

4.अमूढ़दृष्टित्व:– तत्त्वों में तथा देवादिक में अन्यथा प्रतीतिरूप मोह का अभाव अमूढ़दृष्टित्व है। जीव–अजीवादि तत्त्वों में और देव–गुरु–धर्म के स्वभाव में धर्मी भूल नहीं करता।

5. उपवृंहण:– अपने आत्मा के स्वभाव में वीतरागी धर्म बढ़ाने में अथवा अन्य को धर्म में निमित्त होना उपवृहंण है। तथा इसी अंग का नाम उपगूहन भी कहते हैं। धर्मात्मा के दोष ढंकना ऐसा उपगूहन का अर्थ समझना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि मिथ्यादृष्टि के कैसे ही महादोष भी ढाँकना; इसमें धर्मात्मा के अल्पदोष ढाँकने की बात है।

6. स्थितिकरण:– अपने ज्ञानांदस्वभाव में स्थिरता स्थितिकरण अंग है। अन्य किसी को धर्म में स्थिति करने में निमित्त होना भी स्थितिकरण अंग है। अन्य जीव उसके कारण से धर्म में स्थिति करता है तो (उसको धर्म में स्थिति कराने के निमित्तरूप) शुभराग को स्थितिकरण अंग कहते हैं।

7. प्रभावना:– अपने स्वरूप का माहात्म्य प्रगट करना निश्चय प्रभावना है और जिनधर्म का माहात्म्य प्रगट करना व्यवहार प्रभावना है।

8. वात्सल्य :– जिसको शुद्ध चिदानंद आत्मा का प्रेम होता है उसको विभाव तथा निमित्त का प्रेम नहीं होता। धर्मी को विकल्प उत्पन्न होवे तो जिनधर्म में अथवा धर्मात्मा जीवों में प्रीतिभाव होता है। उसको जैसा राग साधर्मी के प्रति होता है वैसा राग परिवारजनों के प्रति नहीं होता हे; परन्तु यह व्यवहार वात्सल्य है।

इसप्रकार ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग जानना। जैसे मनुष्य शरीर के हाथ, पैर आदि अंग हैं, उसीप्रकार ये भी सम्यक्त्व के अंग हैं।

....यहाँ प्रश्न है कि कितने ही सम्यक्त्वी जीवों के भी भय, इच्छा, ग्लानि आदि पाये जाते हैं, और कितने ही मिथ्यादृष्टियों के नहीं पाये जाते; इसलिये नि:शंकितादिक अंग सम्यक्त्व के कैसे कहते हो?

समाधान:- जैसे मनुष्य-शरीर के हस्त-पादादिक अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी हो जिसके हस्त-पादादि में कोई अंग न हो; वहाँ उसके मनुष्य शरीर तो कहा जाता है, परन्तु उन अंगो बिना वह शोभायमान सकल कार्यकारी नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक्त्व के नि:शंकितादि अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी हो जिसके नि:शंकितत्वादि में कोई अंग न हो; वहाँ उसके सम्यक्त्व तो कहा जाता है, परन्तु उन अंगो के बिना वह निर्मल सकल कार्यकारी नहीं होता। तथा जिस प्रकार बन्दर के भी हस्तपादादि अंग होते हैं, परन्तु जैसे मनुष्य के होते हैं वैसे नहीं होते; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहाररूप नि:शंकितादि अंग होते हैं, परन्तु जैसे निश्चय की सापेक्षता सहित सम्यक्त्वी के होते हैं वैसे नहीं होते।....

प्रश्न:- किन्ही सम्यग्दृष्टि जीवों के भी भय, इच्छा, ग्लानि होते है तथा किसी मिथ्यादृष्टि के भी भयादि नहीं होते; तो इन नि:शंकितादि को सम्यक्त्व के अंग कैसे कहते हो?

उत्तर:- जैसे मनुष्य शरीर के हाथ, पैर आदि अंग कहते हैं, वहाँ कोई मनुष्य ऐसे भी होते है कि जिनके हाथ-पैरादि कोई अंग नहीं होता; तो भी उसे मनुष्य शरीर तो कहते हैं; परन्तु इन अंगों के बिना वह शोभायमान व सकल कार्यकारी नहीं होता। इसीप्रकार सम्यक्त्व के नि:शंकितादि अंग कहते हैं, वहाँ कोई सम्यग्दृष्टि ऐसे भी होते हैं कि जिनके नि:शंकितादिक में कोई व्यवहार अंग नहीं भी होता, निश्चय अंग तो होते है; परन्तु व्यवहार के कोई अंग नहीं भी होते, तो भी उसको सम्यक्त्वी कहते हैं; परन्तु इन अंगो बिना वह सम्यग्दर्शन निर्मल, सकल कार्यकारी नहीं होता।

तथा जिसतरह बंदर के भी हाथ-पैर आदि अंग तो होते हैं, परन्तु जैसे मनुष्य के होते हैं वैसे नहीं होते; इसीतरह मिथ्यादृष्टि को आत्मा के भान बिना व्यवहाररूप आठ अंग होते हैं; परन्तु जैसे सम्यग्दृष्टि को निश्चय की सापेक्षता सहित होते हैं, वैसे नहीं होते।

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष

....तथा सम्यक्त्व में पच्चीस मल कहे हैं:- आठ शंकादिक, आठ मद, तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, सो यह सम्यक्त्वी के नहीं होते। कदाचित् किसी को कोई मल लगे, परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा नााश नहीं होता, वहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होता है- ऐसा जानना। बहु.....

सम्यक्त्व में पच्चीस मल कहे हैं। शंकादि आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता और छह अनायतन-ये पच्चीस दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते। कदाचित किसी को कोई मल लगता है; परन्तु वहाँ सम्यक्त्व का नाश नहीं होता, वहाँ मात्र सम्यक्त्व मलिन ही होता है -ऐसा समझना।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक इस ग्रंथ में मोक्षमार्ग का स्वरूप दर्शानेवाला यह अधिकार पण्डितप्रवर टोडरमलजी का देह परिवर्तन हो जाने से अपूर्ण रह गया है।

ॐ शान्ति

इस प्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित

मोक्षमार्गप्रकाशक के नौवें

(मोक्षमार्ग का स्वरूप)

अधिकार पर दि. 3.6.53 से 15.7.53 तक हुए

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के

मार्मिक प्रवचनों का

तथा दि. 15.1.54 से 15.7.54 तक हुए प्रवचनांशों का

हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन प्रकाशन (चार भाग) में कीमत कम करने हेतु प्राप्त राशि

11000//–	श्री आलौक जैन, कानपुर
5000/–	श्रीमती ओमलता लालचंद जी जैन, भुसावल
5000/–	श्री योगेन्द्र कुमार जी लालचंद जैन, भुसावल
5000/–	श्रीमती साधना,ज्ञानचन्द जैन, भुसावल
5000/–	सौ. लीना, महेन्द्र कुमार जैन, भुसावल
2100/–	श्री रखबचन्द जी पाटनी, झालरापाटन
2100/–	श्री द्विवीज सेठी, झालरापाटन
2000/–	श्रीमती सुनीता पाटनी, झालरापाटन
2000/–	श्री विक्रान्त पाटनी, झालरापाटन
2000/–	श्री मती उर्वशी पाटनी, झालरापाटन
2000/–	श्रेयसी पाटनी, झालरापाटन
2000/–	श्रीमती फूलबाई सेठी, झालरापाटन
1111/–	श्री अरविन्द बाबासा रोकड़े, मुम्बई
1100/–	श्री कमल कुमार बोहरा, कोटा
1001/–	श्री अनुज, संतोष कुमार जी पाटनी, वाशिम
1000/–	श्रीमती सुशीला देवी पांड्या, झालरापाटन
1000/–	श्री शैलेन्द्र चाँदवाड़, कोटा
1000/–	श्री भारत जी चाँदवाड़, कोटा

1000/–	श्री मती हेमलता गंगवाल, बांरा
1000/–	श्री मती निर्मला सोगानी, बांरा
551/–	श्री डॉ. बी.ए. शिरढोणे, मिरज
501/–	श्री सतीश भाई मेहता, मुम्बई
500/–	श्री के.डी. उदगवे
500/–	श्री राजेन्द्र कुमार जी भारल, भोपाल
500/–	श्री निमित जैन, मुम्बई
500/–	श्री मती सोहन बाई सोनी, केकड़ी
500/–	श्री मती संध्या शाह, केकड़ी
500/–	श्री मती संम्पत देवी पाटनी, झालरापाटन
500/–	श्री मती सुशीला देवी, धन कुमार जी, जयपुर
100/–	श्री गजेन्द्र जी सोनी, झालरापाटन
100/–	श्री कैलाश जी बडजात्या, झालरापाटन
100/–	श्री जयकुमार जी पाटनी, झालरापाटन